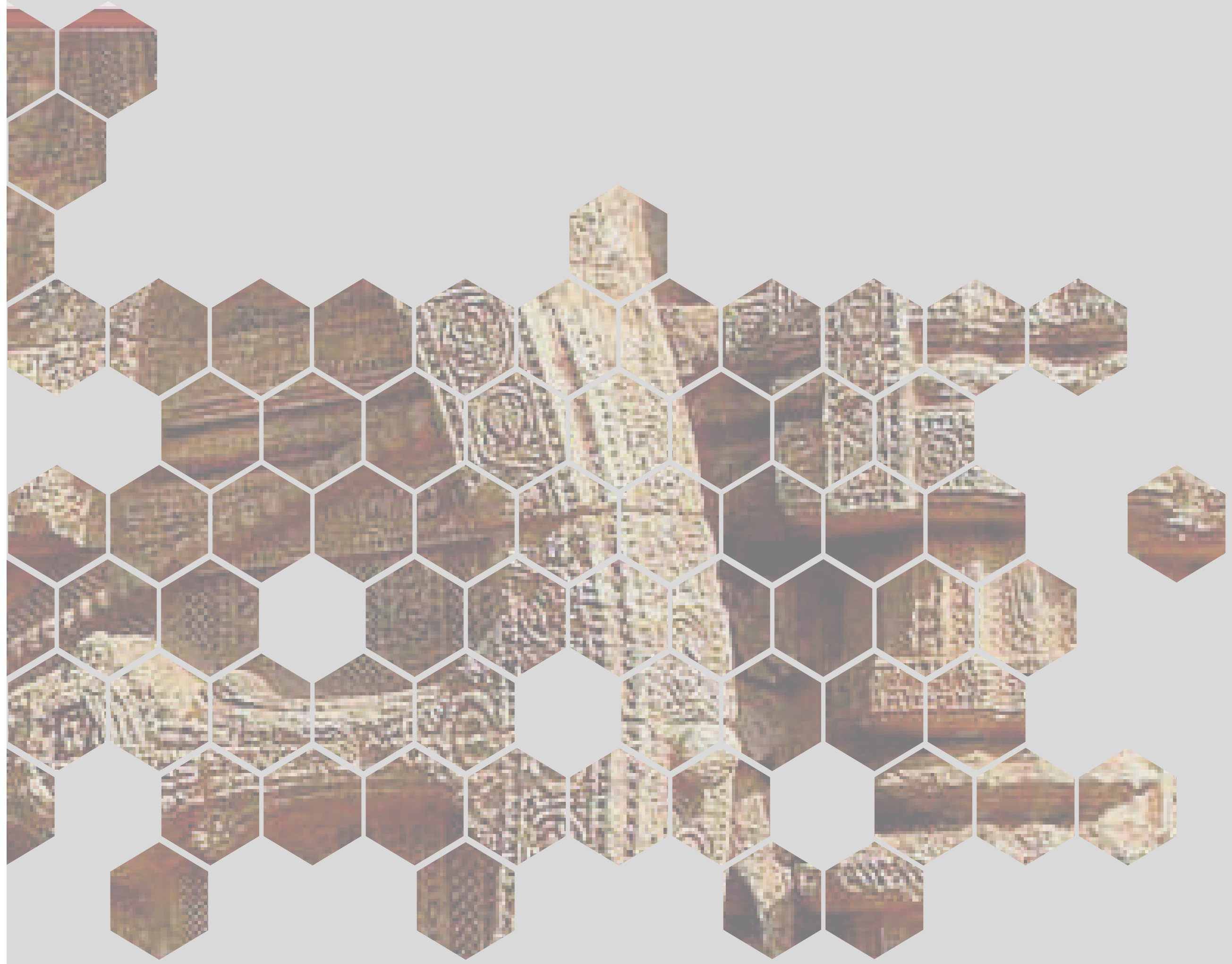

Dr. C.V. Raman University
Kargi Road, Kota, BILASPUR, (C. G.),
Ph. : +07753-253801, +07753-253872
E-mail : info@cvru.ac.in | Website : www.cvru.ac.in

Social Work -an Introduction

Centre for **Distance &**
Online Education

Faculty of Arts

Social Work -an Introduction

1MSW1

DR. C.V. RAMAN UNIVERSITY

Chhattisgarh, Bilaspur

A STATUTORY UNIVERSITY UNDER SECTION 2(F) OF THE UGC ACT

1MSW1

Social Work - an Introduction

1MSW1

Social Work - an Introduction

Credit- 4

Subject Expert Team

Dr. Richa Yadav, Dr. C.V. Raman University, Kota, Bilaspur, Chhattisgarh

Dr. Reena Tiwari, Dr. C.V. Raman University, Kota, Bilaspur Chhattisgarh

Dr. Deena Nath Yadav, Head Department of Social Work, Mats University, Raipur C.G.

Course Editor:

Dr. Usha Vaidya, Professor

Professor, Ravindranath Tagore University faculty of humanities and liberal arts.

Unit Written By:

1. Dr. Richa Yadav

Professor, Dr. C. V. Raman University, Bilaspur (C.G.)

Warning: All rights reserved, No part of this publication may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the publisher.
Published by: Dr. C.V. Raman University Kargi Road, Kota, Bilaspur, (C. G.)

Edition : March 2024

Published by: Dr. C.V. Raman University Kargi Road, Kota, Bilaspur, (C. G.), Ph. +07753-253801,07753-253872 E-mail: info@cvru.ac.in, Website: www.cvru.ac.in

अध्याय		पृष्ठ क्रमांक
1.	समाज कार्य-अर्थ, प्रकृति एवं विषय क्षेत्र *(Social Work-Meaning, Nature & Subject Matter)*	01
2.	समाज कार्य के उद्देश्य *(Objectives of Social Work-Values & Theories & Social Work in different Era)*	15
3.	समाज कार्य में भूमिका, संबंध एवं आवश्यकताओं की अवधारणा *(Concept of Role, Relation and Necessities in Social Work)*	26
4.	अवधारणा का अर्थ, समाज कल्याण एवं समाज सेवा *(Meaning of Concept, Social Welfare & Social Service)*	40
5.	परानुभूति, अहमशक्ति तथा आध्यात्मिकता की अवधारणा *(Concept of Empathy, Ego & Spirituality)*	51
6.	स्वयंसेवी संगठन *(Self Help Group)*	61
7.	गैर सरकारी संगठन *(Non Government Orgnization (NGO))*	72
8.	मानवाधिकार *(Human Rights)*	84
9.	भारत में मानवाधिकार *(Human Rights in India)*	93
10.	कल्याणकारी राज्य, सामाजिक विधान एवं समाज कार्य *(Welfare State, Social Legislation & Social Work)*	109
11.	सामाजिक सुधार, विकास और सुरक्षा *(Social Reform, Development and Safety)*	127
12.	सामाजिक आन्दोलन-समाजसुधार एवं समाजवाद *(Social Movement-Social Reform and Socialism)*	141

●●●

अध्याय–1 समाज कार्य-अर्थ, प्रकृति विषय क्षेत्र
(SOCIAL WORK- MEANING, NATURE & SUBJECT MATTER)

NOTES

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 समाज कार्य का अर्थ एवं परिभाषाएँ
1.3 समाज कार्य की प्रकृति
1.4 समाज कार्य का विषय-क्षेत्र
1.5 समाज कार्य के उद्देश्य
1.6 समाज कार्य के मूल्य एवं सिद्धान्त
1.7 भारत में समाज कार्य
1.8 सारांश
1.9 शब्दावली
1.10 अभ्यास प्रश्न
सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.0 उद्देश्य

एक शैक्षिक विषय के रूप में समाज कार्य आज काफी लोकप्रिय होता जा रहा है। 21वीं शताब्दी में बृहत् सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक सन्दर्भ में हो रहे महत्वपूर्ण परिवर्तन के इस युग में समाज कार्य के सैद्धान्तिक एवं शोध सम्बन्धी पहलुओं में बढ़ती हुई रुचि इसकी लोकप्रियता की द्योतक है। समाज कार्य व्यक्तियों, समूहों अथवा समुदायों की सामाजिक क्रियात्मकता में वृद्धि करने अथवा बनाए रखने अथवा इस लक्ष्य के अनुकूल सामाजिक दशाएँ विकसित करने हेतु सहायता प्रदान करने वाली एक व्यावसायिक क्रिया है। इस इकाई का उद्देश्य एक शैक्षिक विषय के रूप में समाज कार्य के अर्थ, इसकी प्रकृति एवं विषय-क्षेत्र, का विवेचन करना है।

1.1 प्रस्तावना

उच्च शिक्षा के एक विषय के रूप में समाज कार्य मानव व्यवहार एवं सामाजिक व्यवस्था सम्बन्धी सिद्धान्तों के साथ-साथ मानव अधिकारों एवं सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों का प्रयोग करते हुए व्यक्तियों, समूहों एवं समुदायों की समस्याओं का समाधान करने, सामाजिक परिवर्तन को प्रोत्साहन देने तथा लोगों को अपना जीवन उन्नत करने हेतु सशक्तिकरण एवं स्वतन्त्रता प्रदान करने से सम्बन्धित है। समाज कार्य विशेषज्ञों पर मनो-सामाजिक समस्याओं को समझने तथा उनका निदान सुझाने का चुनौती भरा उत्तरदायित्व होता है, इसीलिए समाज कार्य को एक सहायता प्रदान करने वाला व्यवसाय (Helping profession) भी माना जाता है जो व्यक्तियों, समूहों एवं समुदायों को अपनी समस्याओं का समाधान करने हेतु आत्म सहायता करने योग्य बनाता है।

1.2 समाज कार्य का अर्थ एवं परिभाषाएँ

समाज कार्य एक सामाजिक विज्ञान है। इसमें उन कल्याणकारी क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है जिनका उद्देश्य मानवतावादी दर्शन, वैज्ञानिक ज्ञान एवं प्राविधिक निपुणताओं पर आधारित व्यक्तियों, समूहों अथवा समुदायों

को एक सुखी एवं सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करने में सहायता प्रदान करना है। समाज कार्य शब्द का प्रयोग समस्याओं के समाधान द्वारा मानवीय कल्याण में वृद्धि करने हेतु किया जाता है। यह एक व्यावहारिक विज्ञान है जिसमें समाजशास्त्र तथा अन्य विज्ञानों में खोजे गए ज्ञान के आधार पर समाज की समस्याओं का समाधान तथा सामाजिक कल्याण एवं पुनर्निर्माण करने का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार, यह वह विषय है जो प्रभावपूर्ण सामाजिक क्रिया एवं सामाजिक अनुकूलन के मार्ग में आने वाली सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक समस्याओं का वैज्ञानिक ढंग से समाधान प्रस्तुत करता है। इसमें सामाजिक विज्ञानों, विशेष रूप से समाजशास्त्र के सिद्धान्तों या उपागमों का प्रयोग व्यक्तिगत एवं सामूहिक समस्याओं के निदान के लिए किया जाता है।

यद्यपि समाज कार्य के कुछ आधारभूत तत्वों का समावेश इतिहास में उन व्यक्तियों के कार्यों में मिलता है जो विश्व प्रेम अथवा समाज सुधार की भावनाओं से प्रेरित होकर निर्धनों की सहायता अथवा दानपुण्य किया करते थे, तथापि एक व्यवसाय के रूप में समाज कार्य का प्रादुर्भाव 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध के दुष्परिणामों एवं आर्थिक अस्तव्यस्तता की स्थिति में समाज कार्यकर्ताओं को काफी महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व वहन करना पड़ा जिसके परिणामस्वरूप अन्य व्यवसायों की तुलना में समाज कार्य की प्रतिष्ठा काफी चढ़ गई। मूरे (Murray) का मत है कि सरकार एवं जनता ने भी समाज कार्यकर्ताओं के महत्व को स्वीकार किया। प्रशिक्षण विद्यालयों तथा व्यावसायिक संगठनों के उदय ने समाज कार्य को व्यावसायिक रूप देने में पर्याप्त योगदान दिया। इसी भाँति, बेंजामिन (Benjamin) ने भी इसी प्रकार का मत व्यक्त करते हुए कहा है कि समाज कार्य बहुत प्राचीनकाल से होता रहा है, परन्तु व्यावसायिक रूप में इसका उदय प्रथम विश्वयुद्ध के बाद ही हुआ।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से पहले समाज कार्य अधिकांशतया स्वैच्छिक था। यह पहले 'दान-पुण्य की भावना पर आधारित कार्य' माना जाता था। वस्तुत: निर्धनों एवं वंचितों को दान देना धार्मिक मान्यताओं के आधार पर पुण्य का कार्य माना जाता है तथा इसलिए यह प्राचीनकाल से ही चला आ रहा है। दान के रूप में समाज कार्य दो उद्देश्यों की पूर्ति करता है- **प्रथम,** इससे निर्धनों या पीड़ितों को सहायता मिलती है तथा **द्वितीय,** इसके द्वारा व्यक्ति अपने धार्मिक कर्त्तव्यों का निर्वहन करता है। दान देने से दान लेने वाले व्यक्ति की आर्थिक समस्या का अस्थायी समाधान तो हो जाता है, परन्तु वह सदैव दान हेतु अन्य व्यक्तियों पर ही निर्भर रहता है। दान के दोष ज्ञात होने के पश्चात् दान देने से पहले इसकी आवश्यकता को जाँच लेना आवश्यक समझा जाने लगा जिससे न केवल निर्धनता में कमी हो, वरन् निर्धनता के कारणों का निराकरण भी किया जा सके। संगठित रूप से इस समस्या की रोकथाम एवं निराकरण हेतु सहानुभूति रखने वाले और प्रशिक्षित व्यक्तियों की आवश्यकता महसूस हुई।

समाज कार्य समस्याग्रस्त व्यक्ति को वैज्ञानिक ढंग से अपनी समस्या का समाधान करने की क्षमता विकसित करने में सहायता प्रदान करता है ताकि वह स्वयं इस योग्य बन सके कि उस समस्या से उसे छुटकारा मिल सके। समाज कार्य शब्द का प्रयोग 'श्रमदान', 'समाज कल्याण', 'समाज सुधार', 'सामाजिक सुरक्षा' आदि के रूप में भी किया जाता है जिससे इसके अर्थ के बारे में भ्रान्ति पैदा हो जाती है। 'श्रमदान' का अर्थ वह स्वैच्छिक कार्य है जो समुदाय की सामान्य समस्याओं (जैसे- सार्वजनिक मार्गों या खड़ंजों का निर्माण, तालाब की खुदाई अथवा सफाई, सार्वजनिक सफाई इत्यादि) के समाधान में सहायक होता है। यह समाज कार्य नहीं है क्योंकि इसमें किसी वैज्ञानिक ज्ञान अथवा प्राविधिक निपुणताओं का प्रयोग नहीं किया जाता जोकि समाज कार्य का प्रमुख आधार है।

'श्रमदान' की भाँति 'समाज कल्याण' सेवाओं एवं संस्थाओं की एक ऐसी संगठित व्यवस्था है जिसका उद्देश्य व्यक्तियों, समूहों अथवा समुदायों को आर्थिक विकास के अवसर उपलब्ध कराना तथा अच्छा स्वास्थ्य एवं सन्तोषजनक जीवन स्तर प्रदान करना है, जबकि 'समाज सुधार' से अभिप्राय उन परिवर्तनों से है जिनका उद्देश्य समाज में प्रचलित कुरीतियों एवं बुराइयों (जैसे-अस्पृश्यता, दहेज प्रथा, बाल विवाह इत्यादि) को दूर करना है। इन दोनों में वैज्ञानिक ज्ञान एवं प्राविधिक निपुणताओं का प्रयोग नहीं किया जाता है। 'समाज कल्याण' तथा 'समाज सुधार' के विपरीत, 'समाज कार्य' एक व्यावसायिक सेवा है जिसमें समस्याओं का समाधान वैज्ञानिक ज्ञान एवं प्राविधिक निपुणताओं के प्रयोग द्वारा किया जाता है इसीलिए आजकल समाज कार्य ने एक विशिष्ट व्यावसायिक एवं संस्थानिक प्रकृति का रूप धारण कर लिया है। इसमें प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्ता समाजशास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के प्रयोग द्वारा व्यक्तियों, समूहों अथवा समुदायों की समस्याओं का समाधान करने का प्रयास करते हैं।

कई बार 'सामाजिक सुरक्षा' एवं 'समाज कार्य' को भी एक ही समझ लिया जाता है जोकि ठीक नहीं है। 'सामाजिक सुरक्षा' से अभिप्राय समाज द्वारा विकसित उस व्यवस्था से है जिसके द्वारा समाज किसी आकस्मिकताओं

(जैसे-मातृत्व, निर्धनता, बेरोजगारी, विकलांगता, वृद्धावस्था इत्यादि) के शिकार व्यक्तियों को आर्थिक अथवा सेवाओं के माध्यम से सहायता प्रदान करता है। सरकार द्वारा महिलाओं को मातृत्व लाभ सामाजिक सुरक्षा के अन्तर्गत आता है। यदि उसे यह लाभ न दिया जाए तो उसकी कार्य करने की क्षमता को न केवल क्षति पहुँचेगी, अपितु उसकी आय की निरन्तरता भी समाप्त हो जाएगी, इसीलिए सामाजिक सुरक्षा आकस्मिकताओं के समय इच्छित जीवन स्तर व्यतीत करने हेतु दी जाने वाली गारण्टी या सामाजिक बीमा है। इसके विपरीत, समाज कार्य केवल व्यक्तियों को इस प्रकार का संरक्षण ही प्रदान नहीं करता, अपितु उनकी समस्याओं के समाधान में वैज्ञानिक ज्ञान एवं प्राविधिक निपुणताओं का प्रयोग करते हुए उनमें आत्म सहायता की क्षमता विकसित करता है।

समाज कार्य को आर्थिक निर्भरता से सम्बन्धित संगठित क्रिया के रूप में भी विवेचित किया गया है जिसमें इसे निराश्रयता अथवा निर्धनता समाप्त करने का एक साधन माना जाता है। इस अर्थ में समाज कार्य एक ऐसी क्रमबद्ध प्रणाली है जिससे आर्थिक क्षेत्र में निर्भर समूहों (जिनमें विक्षिप्त, विधवाएँ, निराश्रयी बालक आदि सम्मिलित किए जाते हैं) को सहायता या पुनर्वास अथवा दोनों उपलब्ध कराने का प्रयास किया जाता है। अनेक देश ऐसे भी हैं जहाँ निराश्रयता की रोकथाम एवं उपचार सरकार का दायित्व समझा जाता है।

समाज कार्य वैज्ञानिक ज्ञान एवं मानवीय सम्बन्धों में निपुणताओं पर आधारित एक व्यावसायिक सेवा है जो व्यक्तियों, समूहों अथवा समुदायों को सुखी बनाने का प्रयास करती है। यह वैज्ञानिक ढंग के प्रयोग द्वारा व्यक्तियों, समूहों अथवा समुदायों की आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु विभिन्न संसाधनों को जुटाने की कला है। चेनी (Cheyney) के अनुसार, "समाज कार्य के अन्तर्गत ऐसी आवश्यकताओं जो सामाजिक सम्बन्धों से सम्बन्धित हैं तथा जो वैज्ञानिक ज्ञान एवं ढंगों का उपयोग करती है, के सन्दर्भ में लाभों को प्रदान करने के सभी ऐच्छिक प्रयास सम्मिलित हैं।" फिंक (Fink) ने समाज कार्य को इन शब्दों में परिभाषित किया है, "समाज कार्य अकेले अथवा समूहों में व्यक्तियों को वर्तमान अथवा भावी ऐसी सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक बाधाओं जो समाज में पूर्ण अथवा प्रभावपूर्ण सहभागिता को रोकती है अथवा रोक सकती है, के विरुद्ध सहायता प्रदान करने हेतु प्रचलित सेवाओं का प्रावधान है।"

हेलेन (Helen) के मतानुसार, "समाज कार्य ज्ञान एवं निपुणताओं के मिश्रण से युक्त व्यावसायिक सेवा का एक स्वरूप है जिसका कुछ भाग समाज कार्य के लिए विशिष्ट है और कुछ नहीं, वह एक ओर व्यक्तियों की सामाजिक परिवेश की समस्याओं को सन्तुष्ट करने में सहायक होती है तथा दूसरी ओर जहाँ तक सम्भव हो सके व्यक्तियों की शक्तियों के अनुसार अधिकतम सन्तुष्टि के मार्ग उपस्थित कर व्यवधानों को दूर करने का प्रयत्न करती है।" हेलेन ने समाज कार्य का तात्पर्य कठिनाइयों से ग्रसित व्यक्ति की सहायता करना बताया है। यह सहायता या तो संगठित समूह की सेवाओं द्वारा दी जाती है या सम्बन्धित व्यक्ति को किसी समूह का सदस्य बना लिया जाता है और उस समूह की गतिविधियों में भाग लेकर उसकी समस्याओं को समाप्त करने का प्रयास किया जाता है। इसी भाँति, कोनोप्का (Konopka) के शब्दों में, "समाज कार्य तीन स्पष्ट रूप से भिन्न किन्तु अन्तर्सम्बन्धित भागों : समाज सेवाओं का एक जाल, सावधानीपूर्वक विकसित किए गए ढंगों एवं प्रक्रियाओं तथा सामाजिक संस्थाओं एवं व्यक्तियों के माध्यम से व्यक्त की गई सामाजिक नीति का प्रतिनिधित्व करने वाला अस्तित्व है। ये सभी मनुष्यों के विषय में एक मत, उनके अन्तर्सम्बन्धों एवं नैतिक कर्त्तव्यों पर आधारित है।"

1978 में भारत सरकार के शिक्षा तथा समाज कल्याण मन्त्रालय हेतु केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय (वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग) द्वारा प्रकाशित समाज कार्य परिभाषा कोश में समाज कार्य को इन शब्दों में परिभाषित किया गया है, "व्यक्तियों, समूहों, समुदायों और सामाजिक संस्थाओं को सहायता देने की कला और विज्ञान जिससे वे अपने को एक-दूसरे के सन्दर्भ में देख और समझ सकें, अपनी बाधाओं, पिछड़ेपन, व्यक्तिगत और सामाजिक अन्तराल तथा अल्पाधिकार की स्थिति का निदान कर सकें, गरिमा और अवसरों की समानता की प्रस्थिति में आने और अपनी स्थिति सुधारने के लिए व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से अच्छा और पूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए अपना विकास कर सकें।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समाज कार्य वह व्यावसायिक क्रिया या सेवा है जो व्यक्तियों, समूहों अथवा समुदायों को समस्याओं का समाधान करने हेतु आत्म सहायता करने योग्य बनाती है। इस क्रिया में मानवतावादी दर्शन, वैज्ञानिक ज्ञान तथा प्राविधिक निपुणताओं का प्रयोग किया जाता है तथा समुदाय से तालमेल बैठाते हुए लोगों की आकांक्षाओं और क्षमताओं के अनुरूप बेहतर जीवन स्तर प्राप्त करने तथा सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना में उनकी व्यक्तिगत या सामूहिक रूप में सहायता करने का प्रयास किया जाता है।

इस विवेचन से समाज कार्य की निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं-

1. समाज कार्य एक व्यावसायिक सेवा है जिसमें वैज्ञानिक ज्ञान, प्राविधिक निपुणताओं तथा दार्शनिक मूल्यों का प्रयोग किया जाता है। इस व्यावसायिक सेवा का क्रमबद्ध अध्ययन करने वाले विषय को ही 'समाज कार्य' कहा जाता है।
2. समाज कार्य में पहले समस्याओं का मनो-सामाजिक अध्ययन किया जाता है तथा तत्पश्चात् निदानात्मक मूल्यांकन कर सहायता प्रदान की जाती है। ये समस्याएँ व्यक्ति की प्रभावपूर्ण सामाजिक क्रिया के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करती है।
3. समाज कार्य का सम्बन्ध केवल समस्याग्रस्त व्यक्तियों, समूहों अथवा समुदायों को अपनी मनोसामाजिक समस्याओं के समाधान हेतु सहायता प्रदान करने से है। इसमें समस्याग्रस्त व्यक्तियों, समूहों अथवा समुदायों में समस्या के समाधान हेतु आत्म सहायता करने की क्षमता विकसित करने का प्रयास किया जाता है।
4. समाज कार्य सहायता प्रदान करते समय समस्याग्रस्त व्यक्तियों, समूहों अथवा समुदायों की व्यक्तित्व सम्बन्धी संरचना एवं सामाजिक व्यवस्था दोनों में परिवर्तन लाते हुए कार्य किया जाता है।

भारत में समाज कार्य का उद्देश्य सामाजिक अनीतियों को समाप्त करना, विपदाओं का शमन करना तथा दु:खों की रोकथाम करके समाज के निर्बल सदस्यों एवं उनके परिवारों को पुनर्वास में सहायता प्रदान करना है। अन्य शब्दों में, समाज कार्य समाज में विकसित खराबियों से युद्ध करने के समान माना जाता है। इस सन्दर्भ में सुशील चन्द्र (Sushil Chandra) ने लिखा है कि, "समाज कार्य जीवन के मानदण्डों को उन्नत बनाने तथा समाज के सामाजिक विकास की किसी स्थिति में व्यक्ति, परिवार तथा समूह के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक कल्याण हेतु सामाजिक नीति के कार्यान्वयन में सार्वजनिक अथवा निजी प्रयास द्वारा की गई गतिशील क्रिया है।"

भारत में समाज कार्य एक विषय के रूप में उतना लोकप्रिय नहीं हुआ है जितना कि समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र या मानवशास्त्र। कुछ विद्वानों का मत है कि इसका प्रमुख कारण भारत में व्यावसायिक समाज सेवा की असफलता है। लोग अपनी समस्याओं को ज्योतिषियों, तान्त्रिकों, पुजारियों एवं साधुओं से चर्चा करना अधिक पसन्द करते हैं क्योंकि वे उन्हें अपनी समस्याओं के समाधान हेतु ऐसे मन्त्र बताते हैं, ताबीज, भस्म या फूल आदि देते हैं जिनमें दैवी शक्ति उनकी समस्याओं का समाधान कर सके। कई बार उन्हें अपनी समस्याओं के समाधान हेतु मछलियों को खाना देने, सरसों का तेल मनसने, पूजा इत्यादि करने को भी कहते हैं। समस्याग्रस्त लोग ज्योतिषियों, तान्त्रिकों, पुजारियों एवं साधुओं को पैसा देने में भी किसी प्रकार का संकोच नहीं करते हैं। बहुत कम ऐसा होता है कि वे अपनी समस्या के समाधान हेतु किसी व्यावसायिक समाज सेवक अथवा समाज कार्य विशेषज्ञ की सहायता ले। फिर भी, रोजगार की दृष्टि से यह विषय अन्य सामाजिक विज्ञानों से आगे निकल गया है।

बोध प्रश्न

1. समाज कार्य का अर्थ बताइये?

....

....

....

2. समाजकार्य की विशेषताएँ बताइये?

....

....

....

....

1.3 समाज कार्य की प्रकृति

शैक्षिक विषय के रूप में समाज कार्य की प्रकृति वैज्ञानिक है क्योंकि इसमें वैज्ञानिक ज्ञान का प्रयोग किया जाता है। सामान्यत: विज्ञान किसी विषय के क्रमबद्ध ज्ञान को कहते हैं। विज्ञान सम्पूर्ण अनुभव किए जाने वाले जगत को समझने की एक पद्धति है। यह वह पद्धति है जिसका लक्ष्य अन्तिम सत्य की खोज करना है अर्थात् तथ्यों, प्रघटनाओं एवं वस्तुओं का विश्लेषण करना है ताकि इनके कार्य-कारण सम्बन्धों का पता लगाया जा सके। गुडे एवं हैट ने विज्ञान को एक क्रमबद्ध या व्यवस्थित ज्ञान के संकलन के रूप में परिभाषित किया है। व्यवस्थित से अभिप्राय किसी वस्तु के बारे में अध्ययन के परिणामस्वरूप प्राप्त किया गया यथार्थ या वास्तविक ज्ञान है। अत: विज्ञान का अर्थ प्रकृति या मानव जीवन से सम्बन्धित घटनाओं व व्यवहार से सम्बन्धित ऐसा व्यवस्थित ज्ञान है जिसका सत्यापन किया जा सकता है और जिसकी सहायता से इन्हें नियमित किया जा सकता है।

कार्ल पियर्सन (Karl Pearson), गुडे एवं हैट (Goode and Hatt) तथा स्टुअर्ट चेज (Stuart Chase) ने विज्ञान की परिभाषा वैज्ञानिक पद्धति के रूप में देने का प्रयास किया है। यह जाँच की एक ऐसी पद्धति है जिसमें किसी स्थिति, घटना, व्यवहार इत्यादि के बारे में समस्या का निर्माण किया जाता है, समस्या से सम्बन्धित उपकल्पना बनाई जाती है तथा फिर तथ्यों का संकलन करके उपकल्पना का परीक्षण किया जाता है। जाँच का यह तरीका सभी विज्ञानों में एक जैसा है। कार्ल पियर्सन ने इसी सन्दर्भ में यह तर्क दिया है कि, "समस्त विज्ञान की एकता केवल उसकी पद्धति में है, न कि उसकी विषय सामग्री में।" पियर्सन (Pearson) के अनुसार, "विज्ञान वह पद्धति है जिससे तथ्यों पर आधारित महत्वपूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। विज्ञान की वस्तु सम्पूर्ण भौतिक समग्र है। जो व्यक्ति किसी भी प्रकार के तथ्यों का वर्गीकरण करता है, उनके पारस्परिक सम्बन्धों का पता लगाता है तथा उनमें पाए जाने वाले क्रमों का वर्णन करता है, वह वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग कर रहा है तथा वह एक वैज्ञानिक व्यक्ति है।" इसी भाँति, कोहन एवं नागल (Cohen and Nagel) के अनुसार, "जिसे वैज्ञानिक पद्धति कहा जाता है वह अन्य पद्धतियों से मूल रूप में इस बात में भिन्न है कि वह यथासम्भव सन्देह (शंका) को प्रोत्साहित एवं विकसित करती है, जिससे कि इस सन्देह से जो कुछ बचा रहे वह सदैव सर्वोत्तम प्राप्त प्रमाण से परिपुष्ट हो सके।"

संक्षेप में, विज्ञान क्रमबद्ध ज्ञान तथा तथ्यों एवं प्रघटनाओं को समझने की एक निश्चित पद्धति है जिसमें निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ पाई जाती हैं-

1. **प्रामाणिकता या सत्यापनशीलता**- विज्ञान प्रामाणिकता पर बल देता है अर्थात् इसके द्वारा संकलित आँकड़ों की प्रामाणिकता की जाँच कोई भी व्यक्ति, जिसे उनके बारे में सन्देह हो, कर सकता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि विज्ञान या वैज्ञानिक विधि द्वारा एकत्र आँकड़ों का परीक्षण एवं पुनर्परीक्षण किया जा सकता है। अत: विज्ञान दार्शनिक या काल्पनिक तथ्यों के संकलन पर बल न देकर उन तथ्यों के संकलन पर बल देता है जिनकी प्रामाणिकता की जाँच की जा सकती है।

2. **वस्तुनिष्ठता**- विज्ञान की दूसरी प्रमुख विशेषता वस्तुनिष्ठता (Objectivity) है न कि व्यक्तिनिष्ठता (Subjectivity) अर्थात् इसमें व्यक्तिपरक रूप से पक्षपात एवं उद्वेगों के आधार पर तथ्यों की व्याख्या न करके, तटस्थ रूप में या ज्यों-के-त्यों रूप में तथ्यों को समझा जाता है। हमारे अपने विचारों, मनोवृत्तियों या उद्वेगों द्वारा अनुसन्धान यदि प्रभावित नहीं होता है तो उसे वस्तुनिष्ठ अध्ययन कहा जा सकता है। यदि अनुसन्धान वस्तुनिष्ठ है तो विभिन्न विश्लेषणकर्ता किसी सामान्य तथ्य का विश्लेषण करके एक समान निष्कर्ष ही निकालेंगे।

3. **निश्चयात्मकता**- विज्ञान की तीसरी प्रमुख विशेषता इसका सुनिश्चित स्वरूप है। इसमें अनिश्चितता या सन्देह पैदा करने वाली बातों पर बल नहीं दिया जाता है अपितु स्पष्ट रूप से तथ्यों के सत्यापन पर बल दिया जाता है। सम्पूर्ण वैज्ञानिक पद्धति एक निश्चित कार्यपद्धति है जिसको अपनाए जाने पर 'क्या किया जाना चाहिए' इसके बारे में कोई सन्देह नहीं है क्योंकि इस पद्धति के निश्चित चरण होते हैं।

4. **सामान्यता**- विज्ञान एक सामान्य पद्धति है क्योंकि सभी प्रकार के विज्ञानों में इसका एक ही निश्चित रूप या निश्चित चरण हैं, इसीलिए इसे सामान्य पद्धति कहा जाता है क्योंकि इसके द्वारा सामान्य नियमों या सिद्धान्तों का भी निर्माण किया जाता है।

5. **क्रमबद्धता**- विज्ञान क्रमबद्ध अध्ययन पर बल देता है अर्थात् इसके द्वारा अनुसन्धान समस्या से सम्बन्धित तथ्य एकत्र करने में सहायता मिलती है। यह सभी सम्बन्धित सामग्री, विश्लेषण की इकाइयों के अनुरूप आँकड़े एकत्र करने में सहायता देती है। अत: इस पद्धति को अपनाने से व्यक्ति इधर-उधर भटकने से बच जाता है।

6. कार्य-कारण सम्बन्ध- विज्ञान एवं वैज्ञानिक पद्धति की एक अन्य प्रमुख विशेषता इसका कार्य-कारण सम्बन्धों पर बल देना है अर्थात् यह पद्धति किसी प्रघटना के कारण व परिणाम दोनों का पता लगाने में सहायता देती है।

7. पूर्वानुमान- क्योंकि विज्ञान क्रमबद्ध रूप से अध्ययन करने पर बल देता है तथा इसके द्वारा कार्य-कारण सम्बन्धों का भी पता चल जाता है इसलिए इसमें पूर्वानुमान लगाने की भी क्षमता पाई जाती है। समाज कार्य अन्य विषयों की भाँति एक विज्ञान है तथा समाज, सामाजिक प्रघटनाओं, सामाजिक पहलुओं एवं मनो-सामाजिक समस्याओं का वैज्ञानिक अध्ययन किया जा सकता है।

समाज कार्य में विज्ञान की निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं-

1. वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग- समाज कार्य में मनो-सामाजिक समस्याओं का अध्ययन कल्पना के आधार पर नहीं किया जाता अपितु इनको वास्तविक रूप से वैज्ञानिक पद्धति द्वारा समझने का प्रयास किया जाता है। वैज्ञानिक पद्धति द्वारा ही उपकल्पनाओं का परीक्षण एवं सामाजिक नियमों या सिद्धान्तों का निर्माण किया जाता है। समाज कार्य सम्बन्धी अध्ययन वैज्ञानिक पद्धति द्वारा ही किए जाते हैं।

2. समाज कार्य से सम्बन्धित ज्ञान प्रमाण पर आधारित है- समाज कार्य विशेषज्ञ किसी बात को बलपूर्वक मानने के लिए नहीं कहते अपितु तर्क एवं प्रमाणों के आधार पर इसकी व्याख्या करते हैं। समाज कार्य में वास्तविक समस्याओं का अध्ययन अवलोकन या अन्य प्रविधियों द्वारा किया जाता है।

3. 'क्या है' का अध्ययन- समाज कार्य तथ्यों का यथार्थ रूप से वर्णन ही नहीं करता अपितु इनकी व्याख्या भी करता है। इसमें प्राप्त तथ्यों को बढ़ा-चढ़ाकर या आदर्श एवं कल्पना से मिश्रित करके प्रस्तुत नहीं किया जाता अपितु वास्तविक समस्याओं (जिस रूप में वे विद्यमान है) का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है। इसी अध्ययन के आधार पर उनके कारणों का पता लगाकर निदान प्रस्तुत किया जाता है।

4. तथ्यों का वर्गीकरण एवं विश्लेषण- समाज कार्य में वैज्ञानिक पद्धति द्वारा एकत्र आँकड़ों को व्यवस्थित करने के लिए उनका वैज्ञानिक वर्गीकरण किया जाता है तथा तर्क के आधार पर निर्वचन करके निष्कर्ष निकाले जाते हैं। क्योंकि तथ्यों का वर्गीकरण, उनके क्रम का ज्ञान व सापेक्षिक महत्व का पता लगाना ही विज्ञान है और इन सब बातों को हम समाज कार्य सम्बन्धी विश्लेषणों में स्पष्ट देख सकते हैं, अत: समाज कार्य एक विज्ञान है।

5. कार्य-कारण सम्बन्धों की व्याख्या- समाज कार्य अपनी विषय-वस्तु में कार्य-कारण सम्बन्धों की खोज करता है अर्थात् इसका उद्देश्य विभिन्न सामाजिक समस्याओं के बारे में आँकड़े एकत्र करना ही नहीं है अपितु उनके कार्य-कारण सम्बन्धों एवं परिणामों का पता लगाना भी है। प्राकृतिक विज्ञानों में कार्य-कारण सम्बन्धों का निरीक्षण प्रयोगशाला में किया जाता है परन्तु समाज कार्य में यह अप्रत्यक्ष प्रयोगात्मक पद्धति अर्थात् तुलनात्मक पद्धति द्वारा ही सम्भव है।

6. सामान्यीकरण या सिद्धान्त-निर्माण का प्रयास- समाज कार्य में वैज्ञानिक पद्धति द्वारा अध्ययन किए जाते है तथा सामाजिक यथार्थता को समझने का प्रयास किया जाता है इसीलिए इसमें सामान्यीकरण करने एवं सिद्धान्तों का निर्माण करने के प्रयास भी किए गए हैं। समाज कार्य में यद्यपि अधिक सर्वमान्य सिद्धान्तों का निर्माण नहीं किया गया है परन्तु अनेक सामान्यीकरण किए गए है तथा आज हम निरन्तर सिद्धान्तों के निर्माण की ओर आगे चढ़ रहे हैं।

7. सामाजिक सिद्धान्तों की पुनर्परीक्षा- विज्ञान के लिए यह आवश्यक है कि उसके द्वारा प्रतिपादित नियमों का पुनर्परीक्षण हो सके और इस कसौटी पर समाज कार्य खरा उतरता है। जब किसी समाज कार्य विशेषज्ञ द्वारा सिद्धान्त या नियम प्रतिपादित किए जाते हैं तो अन्य लोग उसे तर्क के आधार पर समझने एवं प्रमाणों के आधार पर उनकी पुनर्परीक्षा करने का प्रयास करते है।

8. भविष्यवाणी करने में सक्षम- समाज कार्य में 'क्या है' के वैज्ञानिक पद्धति द्वारा अध्ययन के आधार पर यह बतलाया जा सकता है कि 'क्या होगा'। समाज कार्य में क्योंकि कार्य-कारण सम्बन्धों की खोज सम्भव है, अत: उसके आधार पर एक समाज कार्य विशेषज्ञ भविष्यवाणी कर सकता है। उदाहरण के लिए, समाज कार्य विशेषज्ञ हमें यह बतलाता है कि अपराध क्या है? इसके होने के क्या कारण हैं? यदि अपराध की दर में वृद्धि होती है तो समाज में इसके क्या परिणाम होंगे? इसलिए वर्तमान परिस्थितियों के आधार पर भविष्य का पूर्वानुमान

लगाने की क्षमता होने के कारण समाज कार्य को विज्ञान मानना उचित होगा। इस प्रकार, समाज कार्य से व्यक्ति वर्तमान स्थिति के लिए ही नहीं वरन् मानव गरिमा, भ्रातृ-भाव, समानता और सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों पर आधारित भविष्योन्मुख समाज के लिए भी सक्षम बनते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि एक विषय के रूप में समाज कार्य की प्रकृति वैज्ञानिक है। यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि यह विषय सभी की समस्याओं के समाधान का मूल मन्त्र नहीं है। मानव प्रकृति इतनी जटिल एवं परिवर्तनशील है कि समाज कार्य विशेषज्ञ भी कई बार व्यक्ति, समूह अथवा समुदाय की समस्याओं को पूरी तरह से समझने तथा उसका समाधान करने में असफल भी हो सकता है। गाँव तथा छोटे कस्बों में इस प्रकार के विशेषज्ञ सरलता से उपलब्ध भी नहीं होते हैं इसलिए अनेक विद्वान् समाज कार्य को एक कला के रूप में स्वीकार करने पर बल देते हैं। इस दृष्टि से समाज कार्य एक विज्ञान और कला दोनों है।

बोध प्रश्न

1. समाजकार्य की प्रकृति बताइये?

....

....

....

2. समाजकार्य विज्ञान की विशेषताएँ बताइये?

....

....

....

1.4 समाज कार्य का विषय-क्षेत्र

समाज कार्य का विषय-क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। इसका कारण यह है कि जहाँ कहीं व्यक्ति की प्रभावपूर्ण सामाजिक क्रिया तथा उसके समायोजन के मार्ग में व्यवधान उत्पन्न करने वाली समस्या होगी, वहाँ समाज कार्य की सहायता की आवश्यकता होती है।

इसके विषय-क्षेत्र में मुख्य रूप से निम्नलिखित पहलुओं को सम्मिलित किया जाता है-

1. बाल विकास- बाल विकास समाज सेवा के विषय-क्षेत्र का एक महत्वपूर्ण पहलू है। बच्चों को राष्ट्र की सर्वाधिक महत्वपूर्ण सम्पत्ति माना गया है इसीलिए प्रत्येक राष्ट्र बच्चों के पालन-पोषण एवं देखरेख का यथासम्भव प्रयास करता है। सरकार बच्चों के सर्वांगीण विकास हेतु विभिन्न प्रकार की नीतियों का निर्माण करती है तथा इन्हीं के अनुसार विभिन्न कार्यक्रम संचालित किए जाते हैं। उदाहरणार्थ, भारत में 0-14 वर्ष के 35 प्रतिशत बच्चे हैं जिनके कल्याण और सुरक्षा से जुड़े सभी मामले महिला एवं बाल विकास मन्त्रालय देखता है। 2006 से पहले यह कार्य सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मन्त्रालय के अधीन थे। बच्चों के समुचित विकास हेतु अनेक कार्यक्रम संचालित किए जा रहे हैं जिनमें समन्वित बाल विकास सेवा, कामकाजी माताओं के बच्चों के लिए राजीव गांधी राष्ट्रीय बाल अनुरक्षण केन्द्र, सड़कों पर रहने वाले बच्चों के लिए समेकित कार्यक्रम, चाइल्ड लाइन सेवाएँ, किशोर न्याय (देखरेख एवं बाल संरक्षण) अधिनियम, 2000, समेकित बाल संरक्षण योजना, कन्या भ्रूण हत्या और बाल विवाह को रोकना आदि प्रमुख हैं।

2. महिला सशक्तिकरण- समाज सेवा के विषय-क्षेत्र का दूसरा प्रमुख पहलू महिला सशक्तिकरण है। इससे अभिप्राय महिलाओं को सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक तथा राजनीतिक स्तर पर आत्मनिर्भर कर उन्हें सशक्त बनाने से है। महिलाओं को कमजोर वर्गों में सम्मिलित किया जाता रहा है क्योंकि लिंग भेदभाव (असमता) के कारण वे पिछड़ी हुई रही हैं। अब ऐसा महसूस किया जाने लगा है कि महिलाओं के विकास एवं भागीदारी के बिना राष्ट्र का विकास सम्भव नहीं है। सशक्तिकरण एक बहुआयामी प्रक्रिया है। भौतिक आयाम की दृष्टि से महिलाओं का अपने शरीर पर पूर्ण नियन्त्रण अर्थात् विवाह करने, बच्चे पैदा करने, बच्चों में अन्तराल रखने इत्यादि के

बारे में स्वतन्त्रता; कानूनी आयाम की दृष्टि से उन्हें कानूनी रूप से पुरुषों के समान अधिकार देना तथा उन सभी बाधाओं को दूर करना है जो उन्हें पुरुषों के समान आगे नहीं आने देती; राजनीतिक आयाम की दृष्टि से महिलाओं को शक्ति संरचना में सहभागी बनाना तथा उनमें राजनीतिक सहभागिता की वृद्धि करना है; आर्थिक आयाम महिलाओं को आत्मनिर्भर बनाने अर्थात् अपने पैरों पर खड़े होने से सम्बन्धित है; शैक्षिक आयाम महिलाओं में शैक्षिक अवसरों की वृद्धि द्वारा उन्हें गतिशीलता के सभी अवसरों को उपलब्ध कराने से सम्बन्धित है; जबकि सामाजिक सांस्कृतिक आयाम परिवार, समुदाय एवं समाज में उनके समाजीकरण से सम्बन्धित है ताकि लिंग भेदभाव, पितृसत्तात्मक मूल्य एवं धार्मिक मान्यताएँ महिलाओं के विकास को बाधित न कर पाएँ। यद्यपि सशक्तिकरण के सभी आयाम महत्वपूर्ण है, तथापि शैक्षिक एवं आर्थिक आयामों की महत्ता अधिक है। इसी लक्ष्य की प्राप्ति हेतु भारत में भी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् महिलाओं के उत्थान एवं सशक्तिकरण हेतु अनेक कार्यक्रम लागू किए गए हैं। इनसे न केवल उनकी जीवन-शैली में बदलाव आया है, अपितु अब उन्होंने घर-आँगन की परिधि से बाहर निकलने का साहस भी जुटा लिया है। इसी का परिणाम है कि वे निरन्तर सभी क्षेत्रों में पुरुषों के साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर कार्य कर रही हैं। आज की महिला एक कुशल व्यापारी है, वित्तीय विशेषज्ञ है, वैज्ञानिक, इंजीनियर, डॉक्टर, साहित्यकार और क्या कुछ नहीं है।

3. विद्यालय समाज कार्य- विद्यालय समाज कार्य को समाज कार्य के विषय-क्षेत्र का वह पहलू माना जाता है जो विद्यालयों में समस्याग्रस्त शिक्षार्थियों, उनके अभिभावकों तथा शिक्षकों की सहायता करता है। बहुत से शिक्षार्थी ऐसे होते हैं जो विद्यालयों में उचित सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाते। उन्हें मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है। समाज कार्य के विषय-क्षेत्र का यह पहलू ऐसे बच्चों की समस्याओं को समझने तथा उनका समाधान खोजने में सहायता प्रदान करता है। समाज कार्य विशेषज्ञ ऐसे बच्चों, उनके सहपाठियों, उनके अभिभावकों एवं शिक्षकों से उनकी समस्या के बारे में गहन जाँच-पड़ताल करता है तथा उन कारणों का पता लगाने का प्रयास करता है जो उनके सामंजस्य में बाधक है। इसी के आधार पर वह बच्चों को आवश्यक परामर्श देता है तथा उनके पर्यावरण में अपेक्षित परिवर्तन लाते हुए तथा उनके लिए आवश्यक सेवाओं की व्यवस्था कराते हुए उनकी समस्याओं का समाधान करता है।

4. युवा कल्याण- युवा कल्याण भी समाज कार्य के विषय-क्षेत्र का एक अहम् पहलू है। वस्तुत: बच्चे देश का भविष्य होते हैं तो युवक देश का वर्तमान होते हैं जिनके कन्धों पर देश के विकास का उत्तरदायित्व होता है। युवक न केवल शक्ति, ऊर्जा, स्फूर्ति, क्षमता, कुशलता, परिश्रम से भरपूर होते हैं बल्कि यदि उन्हें उचित दिशा-निर्देश और प्रेरणा मिले तो वे अपने देश एवं समाज को बहुत आगे ले जा सकते हैं। उनमें अनेक महत्वाकांक्षाएँ, आशाएँ, लालसाएँ होती हैं जिनके लिए वे अपनी शारीरिक, मानसिक शक्तियों का भरपूर उपयोग कर सकते हैं। युवा शक्ति से परिपूर्ण भारत को विश्व में एक 'युवा देश' के रूप में जाना जाता है। विश्व में सर्वाधिक युवा जनसंख्या जिसमें मुख्य रूप से 18 वर्ष से 35 वर्ष आयु वर्ग के नागरिकों को शामिल किया जाता है, भारत में निवास करती है। 35 वर्ष से कम आयु वर्ग के युवाओं की संख्या भारत की कुल जनसंख्या का 70 प्रतिशत है। किसी भी देश का युवा वर्ग उस देश की अमूल्य सम्पदा होता है। युवा वर्ग को देश के गौरव, राष्ट्र की आकांक्षा तथा उसकी उन्नति का आधार माना जाता है। युवा वर्ग की शक्ति की अवहेलना करके देश के विकास का लक्ष्य पूरा नहीं किया जा सकता है इसीलिए भारत सरकार ने 1988 ई. में निर्मित राष्ट्रीय युवा नीति को 2003 ई. में और अधिक व्यापक रूप दिया है ताकि युवा वर्ग का सर्वांगीण विकास हो सके।

5. वृद्धों का कल्याण- वृद्धावस्था को जीवन का वर्जनीय, अवांछित, अप्रिय और समस्याग्रस्त भाग माना जाता है। वस्तुत: वृद्धावस्था को लेकर आधुनिक समय में भय की मानसिकता विकसित हो गई है जिसमें बुढ़ापे में एकाकीपन तथा अपने गरिमामय पद से विलग होने की पीड़ा प्रमुख है। परिवार द्वारा उपेक्षित वृद्धों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है तथा वे वृद्धाश्रमों में रहने के लिए विवश हो रहे हैं। एक ओर, परिवार उनकी देखरेख करने को तैयार नहीं है, दूसरी ओर सरकार का यह मानना है कि वृद्धाश्रम परिवार का विकल्प नहीं हो सकते तथा इसलिए इस समस्या के समाधान में सरकार का उत्तरदायित्व सीमित है। वृद्धों की अनेक समस्याएँ हैं जिनमें परिवार में उनका असामंजस्य, खराब स्वास्थ्य, आर्थिक निर्भरता, अकेलापन, सामाजिक असुरक्षा, मानसिक असुरक्षा, मृत्यु की चिन्ता इत्यादि प्रमुख है। सर्वप्रथम संयुक्त राष्ट्र संघ ने 1948 ई. में 'वृद्ध आयु अधिकार' (Old Age Rights) पर एक घोषणा पत्र तैयार किया जो 1969 ई. में आम सभा तथा 1972 ई. में संयुक्त राष्ट्र संघ की आर्थिक एवं सामाजिक कौन्सिल में रखा गया तथा उस पर विस्तारपूर्वक विचार-विमर्श किया गया। 1982 ई. में 'Vienna International Plan of Action on Ageing' पारित किया गया जिसमें वृद्धों की देखरेख हेतु

अनेक सुझाव दिए गए। 1990 ई. में संयुक्त राष्ट्र संघ की आम सभा में 5 अक्टूबर को 'वृद्ध लोगों का अन्तर्राष्ट्रीय दिवस' मनाने की घोषणा की गई। 1991 ई. में संयुक्त राष्ट्र ने वृद्ध लोगों हेतु नियमों पर अपनी सहमति की मोहर लगाई। इन नियमों में भोजन, पानी, आवास तथा वस्त्रों तक पहुँच; स्वास्थ्य रक्षा हेतु सामाजिक एवं कानूनी सेवाएँ, पारिवारिक एवं सामुदायिक सहायता; कार्य करने हेतु अवसरों की उपलब्धता; सम्मान, सुरक्षा एवं बिना शोषण के जीने जैसे अधिकार पर बल दिया गया। इस प्रकार, समय-समय पर संयुक्त राष्ट्र संघ वृद्धों की सुरक्षा हेतु अनेक कदम उठाता रहा है इसीलिए वृद्धों का कल्याण भी समाज कार्य के विषय-क्षेत्र का महत्त्वपूर्ण आयाम है। भारत में भी वृद्धों की देखरेख हेतु जनवरी 1999 में राष्ट्रीय नीति बनाई गई जिसका प्रमुख उद्देश्य परिवारों को अपने बुजुर्ग सदस्यों की देखभाल करने के लिए प्रोत्साहित करना, वृद्धों की देखभाल करने वाली स्वयंसेवी एवं गैर-सरकारी संस्थाओं को आर्थिक अनुदान देना इत्यादि प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त इस नीति में वृद्धों की आर्थिक सुरक्षा, स्वास्थ्य की देखरेख एवं पोषण, आवास, शिक्षा, कल्याण, जीवन एवं सम्पत्ति की सुरक्षा इत्यादि के लिए अनेक प्रावधान किए गए हैं।

6. श्रम कल्याण- श्रम कल्याण से अभिप्राय श्रमिकों के कल्याण से है। इसे भी समाज कार्य के विषय-क्षेत्र का महत्त्वपूर्ण पहलू माना जाता है। भारत में श्रम कल्याण की ओर भी विशेष ध्यान दिया गया है। श्रम कल्याण से आशय ऐसी सेवाओं और सुविधाओं से समझना चाहिए जो कारखाने के अन्दर या निकटवर्ती स्थानों में स्थापित की गई हों, ताकि उनमें काम करने वाले श्रमिक स्वास्थ्य और शक्तिपूर्ण परिस्थितियों में अपना कार्य कर सकें और अपने स्वास्थ्य व नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने वाली सुविधाओं का लाभ उठा सकें। भारत की श्रम नीति की आधारभूमि संविधान की निर्देशक नीति के अनुरूप तैयार की गई है। इसे परिस्थिति की विशिष्ट आवश्यकताओं को देखते हुए तथा योजनाबद्ध आर्थिक विकास व सामाजिक न्याय की माँगों के अनुरूप ढाला गया है। विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में इसीलिए देश में प्रचुर मानव संसाधनों को काम में लाने तथा विकास के लिए इनकी क्षमताओं को चढ़ाने पर बल दिया गया है। श्रम कल्याण की दिशा में सर्वप्रथम कदम 'फैक्ट्री अधिनियम, 1948' है जिसमें श्रमिक उस व्यक्ति को कहा गया है जिसका किसी निर्माण प्रक्रिया में या किसी मशीनरी या उसके हिस्से अथवा स्थान की सफाई में उपयोग किया जाता हो, या किसी अन्य प्रकार के काम में, जिसका सम्बन्ध निर्माण प्रक्रिया के विषय से हो और जिसकी सीधे या किसी एजेन्सी के द्वारा नियुक्ति की जाती हो, चाहे उसे मजदूरी दी जाती हो या नहीं। कारखानों में काम की शर्तें फैक्ट्री अधिनियम, 1948 के द्वारा ही नियमित की जाती हैं। 2 दिसम्बर, 1986 को लोकसभा में फैक्ट्री संशोधन विधेयक, 1986 पेश किया गया। इसके द्वारा 1948 के फैक्ट्री एक्ट में संशोधन करके श्रम-सुरक्षा की व्यवस्थाओं को और अधिक कड़ा कर दिया गया है।

7. बाधितों का कल्याण- बाधित अथवा विकलांग व्यक्तियों को सबसे अधिक देखरेख की आवश्यकता होती है। यदि वे परिवार एवं समुदाय में एकीकृत नहीं हो पाते, तो उनका जीवन दूभर हो जाता है। बाधित व्यक्तियों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जाता है-शारीरिक दृष्टि से बाधित; जैसे-अन्धे, गूँगे, बहरे, लूले-लंगड़े, अपंग आदि तथा मानसिक दृष्टि से बाधित; जैसे-पागल या मन्दबुद्धि या भय (फोबिया), मनोदशा विकार (मूड डिस्आर्डर), ज्ञानात्मक विकार (कागनिटिव डिस्आर्डर), व्यक्तित्व विकार, खण्डित मनस्कता (शाइजोफ्रेनिया) और द्रव्य सम्बन्धी विकार (सबस्टैंस रिलेटेड डिस्आर्डर) जैसे मनोविकार पर निर्भर। बाधितों का कल्याण भी समाज कार्य के विषय-क्षेत्र का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है इसीलिए भारत में सर्वप्रथम असमर्थ व्यक्तियों को सुविधा प्रदान करने के लिए द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में शिक्षा मन्त्रालय ने एक 'राष्ट्रीय सलाहकार समिति' की स्थापना की। इसका कार्य सुविधाओं के सम्बन्ध में सरकार को सलाह देना था। वर्ष 1970-71 तक देश में नेत्रहीनों हेतु 97, मूक एवं बधिरों हेतु 62, शारीरिक रूप से अपंगों हेतु 15 तथा मानसिक दृष्टि से पिछड़े बालकों के लिए 9 स्कूल स्थापित हो चुके थे। इस दिशा में बेसहारा वृद्धों की दशा अत्यन्त शोचनीय है; अतः उन्हें सहारा देने के लिए 'वृद्धावस्था पेन्शन योजना' चालू की गई है। मानसिक रोगों का उपचार करने के लिए लगभग 20 मानसिक अस्पताल भी खोले जा चुके हैं। 1995 ई. में विकलांगों के अधिकारों की रक्षा हेतु 'विकलांगता अधिनियम, 1995' पारित किया गया जो फरवरी 1996 ई. से लागू है। इस अधिनियम के अन्तर्गत राज्य स्तर पर विकलांगों के पुनर्वास को बढ़ावा देने हेतु अनेक कार्यक्रम; जैसे शिक्षा, रोजगार एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण, विकलांगों के लिए पुनर्वास सेवाओं का प्रावधान, बेरोजगारी भत्ता इत्यादि प्रारम्भ किए गए हैं। 'राष्ट्रीय विकलांग वित्त एवं विकास निगम' की भी स्थापना की गई है। विकलांगों के समाज कल्याण हेतु वर्ष 2002-03 में 660 से अधिक गैर-सरकारी संगठनों को वित्तीय सहायता उपलब्ध कराई जा रही है। विकलांगों के लिए 'स्वैच्छिक कार्य प्रोत्साहन योजना' के अन्तर्गत 350 विशेष स्कूल तथा 140 व्यावसायिक प्रशिक्षण केन्द्र चलाए जा रहे हैं। 'राष्ट्रीय विकलांग पुनर्वासकार्यक्रम'

को अब राज्यों को सौंप दिया गया है। 10वीं पंचवर्षीय योजना में वृद्धजनों के लिए समन्वित कार्यक्रम चलाने हेतु गैर-सरकारी संगठनों को परियोजना लागत की 90 प्रतिशत वित्तीय सहायता उपलब्ध कराई गई। 2004 ई. तक 444 गैर-सरकारी संगठनों द्वारा संचालित वृद्धाश्रमों/दिन के देखभाल केन्द्रों/सचल अस्पतालों के लिए 15.70 करोड़ रुपये दिए जा चुके हैं। मानसिक रोगों का उपचार करने के लिए लगभग 20 मानसिक अस्पताल भी खोले जा चुके हैं।

NOTES

8. अनुसूचित जातियों, जनजातियों एवं अन्य पिछड़े वर्गों का कल्याण- समाज के पिछड़े वर्गों का कल्याण तथा उन्हें अन्य वर्गों के समान आने के लिए विशेष सुविधाएँ प्रदान करना कल्याणकारी राज्य का प्रमुख कार्य माना जाता है। यह भी समाज कार्य के विषय-क्षेत्र का एक पहलू है। भारत में अनुसूचित जातियों, जनजातियों एवं अन्य पिछड़े वर्गों को कमजोर वर्गों में सम्मिलित किया जाता है तथा उनके उत्थान हेतु आरक्षण सुविधाओं के अतिरिक्त सरकार द्वारा अनेक कार्यक्रम संचालित किए जाते हैं। इन कार्यक्रमों में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए लोकसभा तथा राज्य विधानमण्डलों में आरक्षित स्थानों की व्यवस्था, सेवाओं में आरक्षण की सुविधाएँ, कल्याण व सलाहकार एजेन्सियों की स्थापना, संवैधानिक संरक्षणों के क्रियान्वयन की जाँच हेतु संसदीय समिति का गठन, अनुसूचित जनजातियों के बीच कार्य कर रहे गैर-सरकारी स्वैच्छिक संगठनों को अनुदान प्रदान करना, अनुसूचित जनजातियों को शिक्षण व प्रशिक्षण हेतु विशेष सुविधाएँ उपलब्ध कराना, पंचवर्षीय योजनाओं में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के विकास हेतु विशेष प्रावधान, अनुसूचित जाति और जनजाति की महिलाओं और बच्चों के बारे में केन्द्रीय कल्याण राज्यमन्त्री की अध्यक्षता में सलाहकार बोर्ड की स्थापना आदि प्रमुख हैं। अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों की समस्याओं हेतु उपर्युक्त उपाय कारगर सिद्ध हुए हैं, परन्तु इस दिशा में अभी बहुत कार्य किया जाना शेष है।

अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों की भाँति अन्य पिछड़े वर्गों को सरकारी सेवाओं व शिक्षा संस्थाओं में 27 प्रतिशत आरक्षण की सुविधा प्रदान की गई है। 13 जनवरी, 1992 ई. को राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग वित्त और विकास निगम का गठन किया गया जिसका उद्देश्य गरीबी की रेखा के नीचे (जोकि ग्रामीण क्षेत्रों में 40 हजार रुपये और शहरी क्षेत्रों में 55 हजार रुपये से कम है) रहने वाले पिछड़े वर्गों के लोगों को उनके सामाजिक-आर्थिक विकास के लिए रियायती दरों पर वित्तीय सहायता उपलब्ध कराना है। पिछड़े वर्ग के छात्र-छात्राओं के लिए परीक्षा-पूर्व कोचिंग, छात्रावास, मैट्रिक-पूर्व छात्रवृत्ति, मैट्रिक के बाद पढ़ने वाले छात्रों को छात्रवृत्ति की सुविधा के अतिरिक्त उन स्वयंसेवी संस्थाओं को आर्थिक सहायता दी जाती है जो अन्य पिछड़े वर्गों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति और शिक्षा का स्तर ऊँचा उठाने में प्रयासरत हैं।

बोध प्रश्न

1. महिला सशक्तिकरण पर टिप्पणी लिखो।

   ....

   ....

   ....

2. विद्यालय में समाज कार्य पर टिप्पणी लिखो।

   ....

   ....

   ....

9. चिकित्सीय एवं मनो-चिकित्सीय समाज कार्य- बाधितों के कल्याण की भाँति विभिन्न शारीरिक एवं मानसिक बीमारियों के शिकार व्यक्तियों को भी समाज कार्य सहायता की आवश्यकता होती है। शारीरिक बीमारियों से ग्रस्त व्यक्तियों के साथ चिकित्सकीय समाज कार्य तथा मानसिक बीमारियों के शिकार व्यक्तियों के साथ मनो-चिकित्सकीय समाज कार्य किया जाता है। चिकित्सकीय तथा मनोचिकित्सकीय समाज कार्य चिकित्सकों एवं मनो-चिकित्सकों की एक टीम द्वारा किया जाता है। पहले यह प्रयास किया जाता है कि इन व्यक्तियों की बीमारी के विभिन्न पहलुओं के बारे में जानकारी प्राप्त की जाए तथा तत्पश्चात् उनका मनोबल बढ़ाने हेतु उचित

परामर्श दिया जाए। इन दोनों बीमारियों के शिकार लोगों की अभिरुचियों का पता लगाने के साथ-साथ उनके अचेतन मन को समझने का भी प्रयास किया जाता है ताकि समस्या की गम्भीरता का पता चल सके तथा तद्नुरूप उनका समायोजन किया जा सके।

10. ग्रामीण विकास- ग्रामीण विकास भी समाज कार्य के विषय-क्षेत्र का एक महत्वपूर्ण पहलू है। सभी विकासशील देशों में जनसंख्या का अधिकांश भाग गाँवों में ही निवास करता है इसीलिए प्रत्येक सरकार ग्रामीण विकास हेतु सतत प्रयास करती है ताकि ग्रामवासियों की समस्याओं का समाधान किया जा सके तथा उनके जीवन स्तर को ऊँचा उठाया जा सके। भारत में भी ग्रामीण विकास के अनेक कार्यक्रम संचालित किए जा रहे हैं। ग्रामवासियों की आर्थिक दशा सुधारने हेतु ग्रामीण बेरोजगारी की चुनौती से निपटना ग्रामीण विकास का केन्द्र-बिन्दु है। राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी अधिनियम तथा सम्पूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार प्रदान किया जाता है, जबकि स्वर्णजयन्ती ग्राम स्व-रोजगार योजना में स्व-रोजगार प्रदान किया जाता है। ग्रामीण संयोजन सुनिश्चित करने हेतु प्रधानमन्त्री ग्राम सड़क योजना के अन्तर्गत गाँव की सड़कों का निर्माण और उन्नयन किया जा रहा है। इसी भाँति, इन्दिरा आवास योजना, त्वरित ग्रामीण जलापूर्ति कार्यक्रम, सम्पूर्ण स्वच्छता आन्दोलन आदि कार्यक्रमों द्वारा ग्रामीण विकास हेतु प्रयास किए जा रहे हैं।

11. सामाजिक प्रतिरक्षा एवं अपराधी सुधार- समाज कार्य के विषय-क्षेत्र के अन्तर्गत सामाजिक प्रतिरक्षा एवं अपराधी सुधार को भी सम्मिलित किया जाता है। सामाजिक प्रतिरक्षा में न केवल समाज की अपराध के विरुद्ध रक्षा, अपितु सभी प्रकार के विचलित व्यवहारों की रोकथाम, उपचार एवं पुनर्वास सम्बन्धी कार्यों को सम्मिलित किया जाता है। भारत सहित लगभग सभी देशों में आज अपराधियों, बाल अपराधियों, उपेक्षित बच्चों, वृद्धों, अनैतिक व्यापार में लगी महिलाओं एवं लड़कियों, निराश्रितों, भिखारियों, मद्यसारिकों की रोकथाम, उपचार एवं पुनर्वास हेतु सामाजिक प्रतिरक्षा कार्यक्रमों पर बल दिया जा रहा है। उदाहरणार्थ, किशोर न्याय अधिनियम, 1986 (2000 ई. में संशोधित) बाल अपराधियों के सुधार हेतु उठाया गया एक महत्वपूर्ण कदम माना जाता है।

12. सामाजिक सुरक्षा- सामाजिक सुरक्षा से अभिप्राय किसी संगठन के सदस्यों या किसी उपक्रम के कर्मचारियों की आकस्मिक विपत्तियों से रक्षा करना है। आधुनिक कल्याणकारी राज्यों में सामाजिक सुरक्षा एक अनिवार्य लक्षण होता जा रहा है। सामाजिक सुरक्षा से अभिप्राय व्यक्तियों को आकस्मिक विपत्तियों के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करना है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के अनुसार, "सामाजिक सुरक्षा वह सुरक्षा है जोकि समाज विशिष्ट संगठनों के द्वारा उन खतरों के विरुद्ध देता है जो उसके सदस्यों पर आक्रमण करते हैं।" वस्तुतः सामाजिक सुरक्षा से हम समाज के द्वारा आधुनिक जीवन की उन आकस्मिक विपत्तियों के विरुद्ध सुरक्षा के कार्यक्रमों को समझते हैं जिनके विरुद्ध व्यक्ति से स्वयं अपनी योग्यता व दूरदृष्टि के द्वारा अपने व अपने परिवार को बचाने की आशा नहीं की जाती; जैसे-बीमारी, बेरोजगारी, वृद्धावस्था, पराश्रितता, औद्योगिक दुर्घटनाएँ, अपंगता इत्यादि। सामाजिक सुरक्षा को पाँच दानवों के ऊपर आक्रमण करना माना गया है। यह दानव हैं-अभाव, बीमारी, अज्ञानता, गन्दगी एवं बेकारी। सामाजिक सुरक्षा में क्षतिग्रस्त व्यक्ति की क्षतिपूर्ति करने के साथ-साथ उसके पुनरूत्थान का प्रयास भी किया जाता है। सामाजिक बीमा, सामाजिक सहायता तथा सामाजिक सेवा सामाजिक सुरक्षा के महत्वपूर्ण तत्व माने जाते हैं। बचपन तथा वृद्धावस्था में सामाजिक सुरक्षा की अधिक आवश्यकता होती है। भारत सहित सभी देश अपने नागरिकों की सामाजिक सुरक्षा हेतु अनेक योजनाएँ कार्यान्वित करते हैं। भारत में चल रही इस प्रकार की योजनाओं में श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम, 1923; कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948; कर्मचारी प्राविडेण्ट फण्ड अधिनियम, 1952; खान अधिनियम, 1952; मातृत्व लाभ अधिनियम, 1961; कर्मचारी पेन्शन योजना, 1995 आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त, सामाजिक सुरक्षा ग्रुप्स स्कीम, जनश्री बीमा योजना, अन्य बीमा योजनाएँ भी कार्यान्वित की जा रही हैं।

13. सामाजिक नीतियाँ, नियोजन एवं विकास- सामाजिक नीतियाँ, नियोजन एवं विकास समाज कार्य के विषय-क्षेत्र के महत्वपूर्ण पहलू हैं। वस्तुतः आज का युग नियोजित सामाजिक परिवर्तन का युग है। प्रत्येक समाज अपने सदस्यों को अधिकाधिक सुविधाएँ देने हेतु विविध प्रकार की सामाजिक नीतियाँ बनाता है। समाज सेवा विशेषज्ञ, समाजशास्त्री एवं अन्य सामाजिक वैज्ञानिक नीति-निर्धारकों को सहायता देकर, उनको उचित दिशा-निर्देश देकर अथवा विभिन्न आयोगों के सदस्य बनकर सामाजिक नीतियों के निर्माण में एवं उनको प्रभावशाली ढंग से क्रियान्वित करने में अपना विशिष्ट योगदान दे सकते हैं। अमेरिका जैसे समाज में तो समाज सेवक शिशु देखरेख केन्द्रों, समाजीकरण, एड्स जैसे संकटों, घरेलू हिंसा, स्वास्थ्य व चिकित्सा, 'मरने का अधिकार' इत्यादि मुद्दों पर अत्यन्त

उपयोगी नीतियाँ बनाने में सरकार को काफी सहयोग देते आए है इसलिए सामाजिक नीतियों को बनाने में सहायता देना तथा इनके कार्यान्वयन में आने वाली बाधाओं को दूर करने हेतु सुझाव देना समाज कार्य की व्यावहारिक उपयोगिता का द्योतक है। भारतीय समाज में प्रारम्भ में ही अनेक ग्रामीण विकास योजनाएँ इसलिए सफल नहीं हो पाई क्योंकि इनको बनाने में समाज वैज्ञानिकों की भागीदारी सुनिश्चित नहीं की गई थी। जब तक समाज कार्य विशेषज्ञ ग्रामीण सामाजिक संरचना के विभिन्न पक्षों तथा ग्रामवासियों की आकांक्षाओं एवं समस्याओं का पता नहीं लगाते तब तक कोई भी नीति न ही तो व्यावहारिक हो सकती है और न ही ग्रामवासी ऐसी नीति को सरलता से अपना सकते है। समाज कार्य केवल समाज में पाई जाने वाली विभिन्न समस्याओं के बारे में ज्ञान प्राप्त करने में ही सहायक नहीं है, अपितु इनके कारणों का विश्लेषण करके इनके समाधान के उपाय बताने में भी सहायक है। निर्धनता, बेरोजगारी, अपराध, बाल अपराध, मद्यपान, मानसिक तथा साम्प्रदायिक उपद्रव, वेश्यावृत्ति इत्यादि समस्याओं को समझने तथा उनका समाधान करने में समाज कार्य की महत्वपूर्ण भूमिका है। इसी भाँति, समाज कार्य सामाजिक नियोजन में सहायता प्रदान करके इस दिशा में महत्वपूर्ण योगदान देता है। आज विभिन्न देशों में योजनाओं के निर्माण में समाज कार्य विशेषज्ञ, समाजशास्त्री एवं अन्य सामाजिक वैज्ञानिक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं।

14. कानूनी सहायता- कानूनी सहायता को भी समाज कार्य के विषय-क्षेत्र के अन्तर्गत रखा जाता है। अनेक देशों में समाज कार्य जन-अभिरुचि वाले विवादों तथा निर्धनों के लिए विधिक सहायता योजना के माध्यम से नि:शुल्क कानूनी सहायता प्रदान करते हैं। वस्तुत: निर्धनों, शोषितों एवं पीड़ितों को कानूनी सहायता की अधिक आवश्यकता होती है ताकि उन्हें न्याय प्राप्त हो सके।

15. पर्यावरण सन्तुलन- सम्पूर्ण विश्व में आर्थिक विकास की जो कीमत चुकानी पड़ी है उसमें विस्थापन के अतिरिक्त पारिस्थितिकीय अवक्रमण (जिसे अधोगति अथवा निम्नीकरण भी कहा जा सकता है) की समस्या भी प्रमुख मानी जाती है। पारिस्थितिकीय अवक्रमण वन क्षेत्र में होने वाली कमी, पानी की सतह नीचे होने तथा भूमि कटाव के रूप में देखा जा सकता है। प्राकृतिक साधनों का अवक्रमण एक विश्व स्तर की समस्या बन गई है। तीव्र औद्योगीकरण व नगरीकरण, गहन कृषि, जनसंख्या विस्फोट, खनन तथा अन्य मानवीय क्रियाओं के परिणामस्वरूप भूमि तथा पानी के स्रोतों का अवक्रमण हुआ है। भारत का आधे से अधिक भौगोलिक क्षेत्र किसी-न-किसी प्रकार के पारिस्थितिकीय अवक्रमण से प्रभावित हुआ है। वनों का बड़ी तेजी से विनाश हुआ है तथा पानी के स्रोत (नदियों, झीलों तथा जमीन के नीचे पानी) कम होते जा रहे हैं तथा पानी की गुणवत्ता प्रभावित होती जा रही है। प्राकृतिक साधनों का अवक्रमण आर्थिक विकास का परिणाम तो है ही यह भारत जैसे विकासशील देश में सामाजिक-आर्थिक विकास तथा विश्व पर्यावरण के लिए खतरा बनता जा रहा है। पर्यावरण में सन्तुलन रखना समाज कार्य के विषय-क्षेत्र का एक महत्वपूर्ण पहलू है।

पर्यावरणीय प्रदूषण ने पर्यावरण सन्तुलन को बिगाड़ दिया है। प्रदूषण से आशय जैव-मण्डल में ऐसे तत्वों का समावेश है जो जीवनदायिनी शक्तियों को नष्ट कर रहे हैं। उदाहरणार्थ, रूस में चेरनोबिल के आणविक बिजलीघर से एक हजार कि० मी. क्षेत्र में रेडियोधर्मिता फैल गई जिससे मानव जीवन के लिए ही अनेक संकट पैदा हो गए। आज इस दुर्घटना के बाद लोग आणविक बिजलीघरों का नाम सुनते ही सिहर उठते हैं। इसी तरह रासायनिक खाद, लुगदी बनाने, कीटनाशक दवाओं के बनाने और चमड़ा निर्माण करने आदि के कुछ ऐसे दूसरे उद्योग है जो वायु प्रदूषण फैलाते हैं। इतना ही नहीं, कई उद्योग तो वायु प्रदूषण के साथ-साथ मिट्टी और पानी का भी प्रदूषण करते हैं। इन खतरों के निवारण में समाज कार्य महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

16. मानव अधिकारों का संरक्षण तथा सामाजिक न्याय को प्रोत्साहन- सम्पूर्ण मानव जाति आज शोषण, अत्याचार, उत्पीड़न एवं आतंकवाद से पीड़ित है इसीलिए मानवाधिकारों का संरक्षण आज सभी देशों में एक महत्वपूर्ण चुनौती बन गया है। यद्यपि मानवाधिकारों के संरक्षण के लिए मैग्नाकार्टा, बिल ऑफ राइट्स तथा मानवाधिकार घोषणा-पत्र जारी हुए लेकिन जनसाधारण को इनसे अधिक लाभ नहीं पहुँच पाया है। सम्मानपूर्वक जीने का अधिकार आज भी मृगतृष्णा बना हुआ है। मानवाधिकारों के संरक्षण में अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। मानवीय या मानवाधिकारों की भावना का प्रादुर्भाव द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद हुआ। इस भावना का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक राष्ट्र को ऐसे अधिकार प्रदान करना, जिनके माध्यम से वह अपना समुचित विकास करने में सफल हो सके। अत: एक प्रकार से मानवाधिकारों की भावना, विश्वबन्धुत्व की भावना पर आधारित है। इस भावना के आधार पर यह माना जाता है कि विश्व के सभी मनुष्य एक-दूसरे के भाई हैं और सभी को अपने विकास के लिए समान अवसर मिलने चाहिए।

मानवाधिकारों की प्राप्ति को सुनिश्चित करने तथा पालन के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ ने एक 'मानवाधिकार आयोग' (Commission of Human Rights) की नियुक्ति की और उसे मानवाधिकारों के मूलभूत सिद्धान्तों का प्रारूप तैयार करने का दायित्व सौंप दिया। लगभग तीन वर्षों के अथक परिश्रम के उपरान्त 'मानवाधिकार आयोग' ने 'मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा' का प्रारूप बनाकर तैयार कर दिया। 10 दिसम्बर, 1948 को संयुक्त राष्ट्र महासभा ने कुछ संशोधनों के साथ इस प्रारूप को स्वीकृत कर दिया और इसी दिन मानवाधिकारों का सार्वभौम घोषणा-पत्र जारी कर दिया गया। इस घोषणा-पत्र में 30 धाराएँ हैं जिनमें सभी वांछनीय मानव अधिकारों का उल्लेख है। इनमें जीवन, स्वतन्त्रता एवं वैयक्तिक सुरक्षा, दासता का निषेध, शारीरिक यातना पर रोक, कानूनी सहायता एवं सुरक्षा, अधिकारों का अतिक्रमण करने वाले कार्यों के विरुद्ध विधिक सहायता, मनमाने ढंग से की गई गिरफ्तारी/नजरबन्दी या देश निष्कासन पर रोक आदि सम्मिलित है। मानव अधिकारों के संरक्षण में समाज कार्य अति महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह न केवल प्रगतिशील सामाजिक नीतियों एवं अधिनियमों के निर्माण के लिए आवश्यक जनमत निर्माण करता है, अपितु मानव अधिकारों के प्रति जागरूकता उत्पन्न करने के साथ-साथ इनके संरक्षण से सम्बन्धित नीतियों, कानूनों, योजनाओं तथा कार्यक्रमों के प्रभावशाली आयोजन को भी सुनिश्चित कराता है। मानव अधिकारों के संरक्षण के अतिरिक्त समाज कार्य सामाजिक न्याय को भी प्रोत्साहन देता है। यह सामाजिक न्याय की आवश्यकता को उजागर करते हुए इसके लिए अपेक्षित जनमत तैयार कर सकता है और सामाजिक न्याय की विभिन्न योजनाओं एवं कार्यक्रमों के कार्यान्वियन में आवश्यक सहायता प्रदान कर सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समाज कार्य का विषय-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। कई बार समाज कार्य के क्षेत्र को दो भागों में भी विभाजित किया जाता है-प्रथम, समाज कार्य करने वाली संस्थाएँ (जिनकी प्रकृति स्वैच्छिक, अर्द्ध-सरकारी या सरकारी हो सकती है) तथा द्वितीय, वे तौर-तरीके जिनके द्वारा विभिन्न समूहों के प्रति समाज कार्य के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए समाज कार्य किया जाता है (जैसे वैयक्तिक कार्य, समूह कार्य, सामुदायिक संगठन इत्यादि)।

बोध प्रश्न

1. पर्यावरण असंतुलन किस प्रकार समाज कार्य का विषय क्षेत्र है?

   ....

   ....

   ....

2. अपराधी सुधार पर टिप्पणी लिखो?

   ....

   ....

   ....

1.8 सारांश

समाज कार्य में उन कल्याणकारी क्रियाओं का अध्ययन करते हैं जो समूहों तथा समुदायों को एक सुखी एवं संपूर्ण जीवन व्यतीत करने में सहायता प्रदान करते हैं। समाज कार्य का ज्ञान ऐसी निपुणताओं का मिश्रण है जिसका रूप व्यवसायिक सेवा भी है। शिक्षण की दृष्टि से समाज कार्य की प्रकृति वैज्ञानिक है। समाज कार्य का विषय क्षेत्र बहुत व्यापक है क्योंकि व्यक्ति के जीवन में जहाँ-जहाँ समस्याएँ है वहाँ-वहाँ समाज कार्य आवश्यक है।

1.9 शब्दावली

समाज कार्य - समाज कार्य ऐसी व्यावसायिक सेवाओं का विधान है जिसके द्वारा व्यक्ति, समूह एवं समुदाय की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु विभिन्न प्रकार के साधनों को वैज्ञानिक पद्धतियों द्वारा इस प्रकार जुटाया जाता है कि व्यक्ति अपनी सहायता स्वयं कर सके।

व्यावसायिक सेवा - यह एक विशिष्ट सेवा है जो सरकारी और गैर-सरकारी संगठनों के तत्वावधान में प्रदान की जाती है।

समाज सेवा - समाज सेवा से अभिप्राय उन संगठित कार्यों से है जिनका सीधा सम्बन्ध प्रथाओं या रूढ़ियों से है जो मानवीय साधनों की रक्षा और उन्नति में सहायक होती हैं।

NOTES

1.10 अभ्यास प्रश्न

दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. समाज कार्य किसे कहते है? एक शैक्षिक विषय के रूप में इसकी प्रकृति स्पष्ट कीजिए।
2. समाज कार्य की संकल्पना स्पष्ट कीजिए।

लघुउत्तरीय प्रश्न

1. समाज कार्य का अर्थ बताइए तथा इसके विषय-क्षेत्र को समझाइए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. समाज कार्य के विषय क्षेत्र कितने हैं—

   (अ) 16 (ब) 17 (स) 18 (द) 20

उत्तर 1. (अ)

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

Benjamin, E. Y., "Social Work as a Profession" in Russell H. Kurtz (ed.), Social Work Year Book, New York : American Book-Stratford Press, Inc., 1954.

Bisno, Herbert, The Philosophy of Social Work, Washington DC : Public Affairs Press, 1953.

Brown, E. L., Social Work as a Profession, New York : Russell Sage Foundation, 1942.

Cheyney, A., Nature and Scope of Social Work, New York : AASW, 1926.

Fink, Arthur, E., The Fields of Social Work, New York : Henry Holt. Co., 1942.

Friedlander, W. A., Intorduction to Social Welfare, New York : Prentice-Hall Inc., 1955.

Gore, M. S., "Historical Background of Social Work in India" in Social Work in India, New Delhi : Planning Commission, Government of India, 1955.

Helen, Clarke, Principles and Practice of Social Work, New York : Appleton Century Crafts, Inc., 1947.

Kohs, S. C., The Roots of Social Work, New York : Association Press, 1966.

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

अध्याय–2 समाज कार्य के उद्देश्य - मूल्य एवं सिद्धान्त तथा विभिन्न काल में समाजकार्य

[OBJECTIVES OF SOCIAL WORK- VALUES & THEORIES & SOCIAL WORK IN DIFFERENT ERA]

NOTES

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 समाज कार्य के उद्देश्य
2.3 समाज कार्य के मूल सिद्धान्त
2.4 भारत में समाज कार्य
2.5 प्राचीन भारत में समाज कार्य
2.6 मध्यकाल में समाज कार्य
2.7 अंग्रेजी शासन काल में समाज कार्य
2.8 स्वतंत्रता पश्चात समाज कार्य
2.9 भारत में समाज कार्य शिक्षा का विकास
2.10 सारांश
2.11 शब्दावली
2.12 अभ्यास प्रश्न
सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2.0 उद्देश्य

समाज कार्य का सम्बन्ध व्यक्तियों एवं समाज की संस्थाओं में होने वाली उन अन्त:क्रियाओं से है जो लोगों को जीवन कार्यों (Life tasks) को प्राप्त करने, उनकी आकांक्षाओं एवं मूल्यों को समझने तथा उनके दु:खों को कम करने में सहायता देती हैं। इस इकाई का उद्देश्य एक शैक्षिक विषय के रूप में समाज कार्य के मूल्यों एवं सिद्धान्तों का विवेचन करना है।

2.1 प्रस्तावना

समाज कार्य एक व्यावसायिक एवं शैक्षिक विषय है जो समाज कल्याण एवं सामाजिक परिवर्तन को सुगम बनाने हेतु प्रतिबद्ध है। समाज कार्य का ज्ञान जीवन की गुणवत्ता बढ़ाने तथा व्यक्तियों, समूहों एवं समुदायों की उन क्षमताओं को बढ़ाता है जो उन्हें अपनी समस्याओं का समाधान करने में सहायक होती हैं। समाज कार्य मे होने वाले अनुसन्धान के केन्द्र-बिन्दु सामाजिक नीति, लोक प्रशासन, कार्यक्रम मूल्यांकन, सामुदायिक विकास इत्यादि होते हैं। समाज कार्य का उद्भव निर्धनता तथा इसके परिणामस्वरूप विकसित होने वाली समस्याओं के समाधान हेतु समाज के संघर्ष से हुआ है इसीलिए इसका एक भाग समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, मनोविज्ञान जैसे विषयों को अतिच्छादित करता है। विश्वविद्यालयों में समाज कार्य विषय में शिक्षा क्रमबद्ध चरणों में विकसित हुई तथा आज अनेक विश्वविद्यालयों में समाज कार्य में स्नातक एवं स्नातकोत्तर स्तर पर डिग्री एवं डिप्लोमा कार्यक्रमों के साथ-साथ एम.फिल एवं पी-एच.डी. स्तर पर शिक्षा उपलब्ध है।

NOTES

2.2 समाज कार्य के उद्देश्य

यद्यपि समाज कार्य के उद्देश्य समय के परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तित होते रहते हैं, तथापि इसका प्रमुख उद्देश्य मानवतावादी दर्शन, वैज्ञानिक ज्ञान तथा प्राविधिक निपुणताओं का प्रयोग करते हुए व्यक्तियों, समूहों तथा समुदायों को अपनी समस्याओं का समाधान करने योग्य बनाना है। हेलेन (Helen) ने समाज कार्य के दो उद्देश्य बताए हैं-प्रथम, व्यक्तियों की अन्तर्निहित शक्तियों एवं पर्यावरण से सम्बन्धित साधनों के प्रयोग में समाज कार्य द्वारा इस प्रकार सहायता प्रदान करना कि व्यक्ति को सन्तोष प्राप्त हो और वह अपने को समाज के अनुकूल बना ले, तथा द्वितीय, पर्यावरण के सुधार में इस प्रकार सहायता देना कि सामाजिक और व्यक्तिगत समस्याओं की कम-से-कम उत्पत्ति हो। संयुक्त राष्ट्र संघ की विज्ञप्ति में यह स्पष्ट उल्लेख है कि यह साधारणतया स्वीकार कर लिया जाता है कि समाज कार्य का सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्धों से है जो व्यक्ति, समुदाय और वातावरण से जुड़े होते हैं। विशेष रूप से इन सम्बन्धों के फलस्वरूप उत्पन्न बाह्य और आन्तरिक कठिनाइयों से समाज कार्य का सम्बन्ध अवश्य है। इन कठिनाइयों से व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों का भली-भाँति पालन नहीं कर सकते हैं। समाज कार्य और इसकी प्रणाली के उद्देश्य में लगभग एकरूपता है। विकास मार्ग के व्यवधानों की परिसमाप्ति, आन्तरिक शक्तियों की मुक्ति और उनका प्रयोग अर्थात् शक्तियों का विकास करना जिनसे व्यक्ति समूह या समुदाय अपना कार्य स्वयं करने में सक्षम हो जाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक प्राणी और सम्पूर्ण समाज कार्य का उद्देश्य और अन्तिम लक्ष्य एक ही है। ब्राउन (Brown) के मतानुसार समाज कार्य का प्रथम कार्य जैसा कि इसने सदैव किया है, आश्रित व्यक्तियों या कठिनाई में पड़े हुए व्यक्तियों को कुछ भौतिक सहायता प्रदान करना है। दूसरे समाज कार्य ऐसे व्यक्तियों की सहायता करता है जो अपने को समाज के आर्थिक और सामाजिक वातावरण के अनुकूल बनाने में समस्याओं का अनुभव करते हैं। इसका सम्बन्ध व्यक्तियों की मनोवैज्ञानिक समस्याओं से है। इन समस्याओं के परिणाम का कारण निर्धनता, बीमारी या अपराध हो सकता है, अथवा यह भी सम्भव है कि ये समस्याएँ स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न हुई हों। समाज कार्य उन सुविधाओं की उपलब्धि में भी सहायता प्रदान करता है जिनका कम आय के व्यक्ति उपयोग नहीं कर सकते; जैसे-मनोरंजन और सांस्कृतिक कार्यक्रम, जो अच्छे जीवन स्तर का एक अभिन्न अंग है। समाज कार्य सम्पूर्ण समाज के जीवन स्तर को उन्नत करने का भी प्रयास करता है। समाज कार्य ने अच्छे भवनों तथा आवास की सुविधाओं एवं उन्नत स्वास्थ्य, शिक्षा और अवकाश को भी अपने कार्य के क्षेत्र में सम्मिलित कर लिया है। समूह और व्यक्ति के लिए कल्याण की भावना यदि नेतृत्व को नहीं तो कठिन सहयोग को अवश्य जन्म देती है। इस सम्बन्ध में सम्भव है सामाजिक सुधार में प्रयत्न किया जाए। यह सुधार अपराधियों के उपचार के तरीकों में, काम करने के तरीकों और वेतन में, महिलाओं तथा बच्चों के लिए रक्षात्मक कानूनों में, अल्पसंख्यकों को सामाजिक और राजनीतिक अधिकार दिलाने में और जन सहायता के कामों में हो सकता है।

ब्राउन ने समाज कार्य के निम्नलिखित चार उद्देश्य बताए हैं-

1. भौतिक सहायता प्रदान करना,
2. समायोजन स्थापित करने में सहायता देना,
3. मानसिक समस्याओं का समाधान करना, तथा
4. कमजोर वर्ग के लोगों को अच्छे जीवन स्तर की सुविधाएँ उपलब्ध कराना।

हैमिल्टन (Hamilton) के मतानुसार समाज कार्य के दो प्रमुख उद्देश्य हैं-प्रथम, आर्थिक एवं शारीरिक कल्याण अर्थात् स्वास्थ्य एवं अच्छा जीवन-स्तर तथा द्वितीय, सन्तोषजनक सम्बन्धों एवं अनुभवों द्वारा सामाजिक वृद्धि के अवसर प्रदान करना। इसमें वृद्धि में आने वाली बाधाओं को दूर करने तथा सेवार्थी की क्षमताओं का पूर्ण विकास करने का प्रयास किया जाता है। इससे सेवार्थी को अपनी विकृत योग्यता के पुन: स्थापित करने में सहायता मिलती है। समाज कार्य के प्रमुख उद्देश्यों को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है-

- मानवीय आवश्यकताओं, विशेष रूप से वंचितों की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायता प्रदान करना। वस्तुत: समाज कार्य का सबसे प्रमुख उद्देश्य वंचितों की सहायता करना है ताकि वे जीवन का न्यूनतम स्तर प्राप्त कर सकें।
- समुदाय में विद्यमान मनो-सामाजिक समस्याओं के कारणों का पता लगाकर उनका समाधान करना।

- व्यक्तियों के सामाजिक सम्बन्धों को सौहार्दपूर्ण एवं मधुर बनाने में सहायता प्रदान करना।
- व्यक्तों में प्रजातान्त्रिक मूल्यों (समता, भ्रातृत्व एवं स्वतन्त्रता) का विकास करना तथा नागरिक अधिकारों की प्राप्ति में सहायता देना।
- सामाजिक उन्नति एवं विकास के विभिन्न अवसर उपलब्ध कराना।
- व्यक्तियों में सामाजिक समस्याओं एवं सामाजिक कुरीतियों के प्रति चेतना जाग्रत करना।
- पर्यावरण को स्वच्छ एवं विकास के अनुकूल बनाकर उसमें सन्तुलन बनाए रखने में सहायता प्रदान करना।
- सामाजिक विकास हेतु सामाजिक व्यवस्था में अपेक्षित परिवर्तन लाने हेतु अनुकूल परिस्थितियाँ विकसित करना।
- समाज में पाई जाने वाली समस्याओं के विरुद्ध स्वस्थ जनमत तैयार करना।
- व्यक्तियों की समस्याओं का समाधान करने, उनका सामना करने एवं विकासात्मक क्षमताओं में वृद्धि करना।
- व्यवस्थाओं का प्रभावशाली एवं मानवोचित प्रचालन करना ताकि लोगों को संसाधन एवं सेवाएँ उपलब्ध हो सकें।
- लोगों को उन व्यवस्थाओं से जोड़ना जो उन्हें संसाधन, सेवाएँ एवं अवसर उपलब्ध कराती हैं।
- सामाजिक परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के अनुसार विधानों/अधिनियमों का निर्माण कराना तथा
- वर्तमान विधानों/अधिनियमों में वांछित संशोधन हेतु सुझाव देना।
- व्यक्तियों में सामंजस्य की क्षमता विकसित करने में सहायता प्रदान करना।
- व्यक्तियों की सामाजिक क्रियाओं को प्रभावपूर्ण बनाने में सहायता प्रदान करना।
- व्यक्तियों में यथोचित निर्देशन द्वारा आत्म सहायता करने की क्षमता विकसित करना।
- व्यक्तियों को उनके जीवन में सुख एवं शान्ति का अनुभव कराने हेतु प्रयास करना।
- समाज में शान्ति एवं व्यवस्था को बनाए रखने हेतु प्रोत्साहित करना।

2.3 समाज कार्य के मूल्य एवं सिद्धान्त

फ्रीडलैंडर (Friedlander) के मतानुसार समाज कार्य के मौलिक मूल्यों एव सिद्धान्तों का जन्म स्वत: नहीं हुआ है, अपितु इनकी जड़ें उन गहरे एवं उपजाऊ विश्वासों में मिलती हैं जो सभ्यताओं को सींखते है। अमेरिका की प्रजातान्त्रिक व्यवस्था का आधार नैतिक एवं आध्यात्मिक समानता, वैयक्तिक विकास की स्वतन्त्रता, सुअवसरों के स्वतन्त्र चुनाव की स्वतन्त्रता, न्यायपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा, वैयक्तिक स्वतन्त्रता, पारस्परिक प्रतिष्ठा एवं सर्वजन के अधिकार हैं। प्रजातन्त्र के यह सभी आदर्श अभी तक पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं किए जा सके है तथा समाज कार्य इन्हीं आदर्शों की प्राप्ति का प्रयास कर रहा है। मूल्यों एवं क्रियाओं में प्रत्यक्ष सम्बन्ध पाया जाता है। जब कभी हम किसी क्रिया को करते हैं तो उसका मूल्यांकन उसके साथ जुड़े मूल्यों द्वारा किया जाता है। समाज कार्य का लक्ष्य मानव कल्याण करना है।

यह तभी सम्भव है जब समाज कार्य में सामाजिक मूल्यों को समाहित किया जाए। मूल्यों के आधार पर ही व्यक्ति की जीवन-शैली का निर्धारण होता है तथा अन्त:क्रियाएँ सम्भव होती हैं। मूल्य समाज द्वारा मान्यता प्राप्त इच्छाएँ एवं लक्ष्य है जिनका आन्तरीकरण समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से होता है। कोनोप्का (Konopka) ने समाज कार्य के दो प्राथमिक मूल्यों का उल्लेख किया है-प्रथम, प्रत्येक व्यक्ति का आदर तथा प्रत्येक व्यक्ति को अपनी क्षमताओं के पूर्ण विकास का अधिकार तथा द्वितीय, व्यक्तियों की पारस्परिक निर्भरता तथा एक-दूसरे के प्रति अपनी योग्यता के अनुसार उत्तरदायित्व। समाज कार्य के मूल्यों एवं सिद्धान्तों में समानता, सामाजिक न्याय तथा भ्रातृत्व प्रमुख हैं। ये तीनों मूल्य प्रजातन्त्र का आधार माने जाते हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ का 1958 में 'समाज सेवा के प्रशिक्षण' पर तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय सर्वेक्षण हुआ जिसमें समाज कार्य के निम्नलिखित नैतिक नियमों पर बल दिया गया-

1. किसी व्यक्ति की सामाजिक पृष्ठभूमि (स्थिति, जाति, धर्म, राजनीतिक विचारधारा) तथा व्यवहार को ध्यान में रखे बिना उसे मानव के रूप में स्वीकार करना तथा ऐसे सभी कार्य करना जिनसे उसके गौरव, शील और आत्म-सम्मान में वृद्धि हो।
2. व्यक्ति, समूह और समुदाय की भिन्नताओं को आदर की दृष्टि से देखते हुए ऐसे कार्य करना जिनसे समन्वय की वृद्धि और सामुदायिक कल्याण सम्भव हो।
3. आत्म-सम्मान एवं उत्तरदायित्व को उचित प्रकार से वहन करने की योग्यता बढ़ाने की दृष्टि से स्वावलम्बन को प्रोत्साहित करना।
4. व्यक्ति, समूह और समुदाय को विषम परिस्थितियों एवं कठिनाइयों में ऐसे अवसर उपलब्ध कराना जिनसे उनका जीवन सुखी एवं सन्तोषप्रद हो सके।
5. समाज कार्य के ज्ञान और दर्शन पर आधारित उन नीतियों को कार्यरूप देने का व्यावसायिक उत्तरदायित्व स्वीकार करना, जिनसे व्यक्ति अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए अच्छे-से-अच्छा वातावरण और अवसर प्राप्त कर अपनी शक्तियों का पूरा प्रयोग कर सन्तुष्ट हो सके।
6. व्यावसायिक सम्बन्धों की गोपनीय प्रकृति की यथासम्भव रक्षा करना।
7. व्यक्तियों को पहले से बने हुए हल (Solutions) बता देने की अपेक्षा अपने व्यावसायिक सम्बन्धों का समस्याग्रस्त व्यक्ति, समूह या समुदाय को अधिक स्वतन्त्र और आत्मनिर्भर बनाने में प्रयोग करना।
8. व्यावसायिक सम्बन्धों का सावधानी से और जहाँ तक सम्भव हो परोक्ष रूप से व्यक्ति और समाज की अधिक-से-अधिक अच्छाई के लिए प्रयोग करना।

एस. सी. कॉस (S. C. Kohs) ने समाज कार्य के निम्नलिखित दस प्राथमिक मूल्यों का उल्लेख किया है-

1. मनुष्य की महत्ता तथा गरिमा बनाए रखना,
2. मानव प्रकृति में पूर्ण मानवीय विकास की क्षमता विकसित करना,
3. मतभेदों के लिए सहनशील होना,
4. मौलिक मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि स्वीकार करना,
5. स्वाधीनता में विश्वास करना,
6. आत्म निर्देशन,
7. अनिर्णायक प्रवृत्ति,
8. रचनात्मक सामाजिक सहयोग,
9. कार्य का महत्त्व तथा रिक्त समय का रचनात्मक उपयोग, तथा
10. मनुष्य एवं प्रकृति द्वारा उत्पन्न किए गए खतरों से अपने अस्तित्व की रक्षा।

हरबर्ट बिस्नो (Herbert Bisno) ने समाज कार्य के दर्शन का विस्तृत विवेचन किया है। इसे उन्होंने व्यक्ति की प्रकृति, समूहों, व्यक्तियों एवं समूहों के पारस्परिक सम्बन्धों तथा समाज कार्य की प्रणालियों एवं कार्यों के सन्दर्भ में समझाने का प्रयास किया है। उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि प्रत्येक व्यक्ति का महत्त्व केवल उसके अस्तित्व के आधार पर ही है। मानवीय कष्ट एवं असुविधाएँ अवांछनीय होती हैं जिसके कारण उन्हें रोका जाना चाहिए अथवा कम किया जाना चाहिए। व्यक्तियों में पाए जाने वाले अन्तरों एवं असमानताओं को स्वीकार करना चाहिए। समुदाय का यह उत्तरदायित्व है कि वह बिना किसी भेदभाव के अपने सभी सदस्यों को सामाजिक सेवाएँ उपलब्ध कराए। समाज कार्य के सिद्धान्तों में गोपनीयता (Confidentiality), व्यक्तिवाद (Individualization), गैर-निर्णय (Nonjudgement), मुवक्किल-कार्यकर्ता सम्बन्ध (Client-worker relationship), नियन्त्रित

भावात्मक अन्तर्ग्रस्तता (Controiled emotional involvement), भावनाओं का उद्देश्यपूर्ण अभिव्यक्ति (Purposeful expression of feelings), तथा आत्म-संकल्प (Selfdetermination) प्रमुख हैं।

बोध प्रश्न

NOTES

1. समाज कार्य के क्या उद्देश्य है?

....

....

....

2. संयुक्त राष्ट्र संघ के अनुसार समाज कार्य के नैतिक नियम क्या है?

....

....

....

2.4 भारत में समाज कार्य

भारतीय समाज एक अति प्राचीन समाज है। इतिहासज्ञों ने इस समाज का लगभग पिछले 5000 वर्षों का इतिहास लिपिबद्ध किया है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में भारतीय समाज को हम चार कालों में विभाजित कर सकते है- प्राचीन काल (लगभग 3000 ईसा पूर्व से 700 ई. तक), मध्यकाल (701 से 1750 ई. तक), आधुनिक काल (1751 से 1947 ई. तक) एवं समकालीन काल (1947 ई. से आज तक)। यह काल-विभाजन विश्लेषण की सरलता की दृष्टि से किया गया है अन्यथा कालप्रवाह को किसी भी तरह निश्चित अवधियों में नहीं बाँटा जा सकता क्योंकि प्रत्येक युग में पिछले युग के तत्व भी सम्मिलित होते हैं और यह भावी युग की सम्भावनाओं को अपने में समाये होता है। आधुनिक काल को अंग्रेजी शासनकाल भी कहा जाता है। प्राचीन भारत का इतिहास एक दीर्घकालीन सांस्कृतिक विकास की प्रक्रिया को प्रकट करता है जिसमें भारतीय समाज की मूल परम्पराएँ पूर्ण रूप से विकसित हुई। वैदिक संस्कृति के इसी युग में हिन्दू सामाजिक संगठन की संस्थागत आधारशिलाएँ एवं वैचारिक मान्यताएँ भी विकसित हुईं। मध्यकाल तथा आधुनिक काल में इन संस्थागत आधारशिलाओं में काफी परिवर्तन हुआ है। परन्तु इनका महत्व, किसी न किसी रूप में, समकालीन भारतीय समाज में भी पाया जाता है। आर. सी. मजूमदार, बी. एन. मेहता, एम. एस. गोरे तथा राजाराम शास्त्री इत्यादि अनेक विद्वानों ने भारत में समाज कार्य के ऐतिहासिक विकास का वर्णन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इन विद्वानों के अनुसार भारत में समाज कार्य की एक लम्बी परम्परा रही है जिसका विवेचन चारों कालों में अलग-अलग रूप में किया जा सकता है।

2.5 प्राचीन भारत में समाज कार्य

प्राचीन भारत में पीड़ितों की सेवा और साथियों के लिए अच्छे काम करने की भावना लोगों का विशिष्ट गुण रहा है। धर्म में भी दान, विश्व-प्रेम एवं पारस्परिक सहायता के मूल्यों को अधिक महत्ता प्रदान की गई थी। भिक्षा देना एवं अपंगों को भोजन कराना और उनकी देखभाल करना आदि धार्मिक कार्य समझे जाते थे। यद्यपि कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में निर्धनों, वृद्धों, निराश्रितों एवं असमर्थ लोगों की देखरेख का दायित्व शासक (राजा) का बताया है, तथापि विशिष्ट सहायता की आवश्यकता रखने वाले व्यक्तियों का उत्तरदायित्व शासक, धनी तथा साधारण समुदाय के सदस्यों द्वारा आपस में बाँट लिया जाता था। मन्दिरों और आश्रमों की स्थापना, उनके निर्वाह के लिए धन का अर्पण, सन्त महात्माओं के लिए आवास-स्थानों का निर्माण, घुमक्कड़ योगियों या मन्दिरों और आश्रमों के लिए भोजन, कपड़े, तेल तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति के लिए उचित संघों के साथ-साथ स्थायी संग्रहस्थानों की स्थापना आदि का कार्य सामूहिक रूप से ही किया जाता था। किसी प्राकृतिक विपत्ति के समय भी मुफ्त भोजन एवं आश्रय का प्रबन्ध किया जाता था। प्रयास यह रहता था कि बीमार, वृद्ध, निराश्रित एवं विकलांग लोगों की यथासम्भव आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। इस कार्य को करने हेतु सामाजिक संस्थाओं

में व्यवस्था होती थी। संयुक्त परिवार तो ऐसे सदस्यों की देखभाल करता ही था, साथ ही जाति संगठन, मण्डलियाँ एवं पंचायतें भी वृद्धों, बीमारों एवं अपंगों की आवश्यकताएँ पूरा करने में सहायता प्रदान करती थीं।

प्राचीनकाल में भारतीय समाज अधिक समस्याओं से ग्रसित नहीं था। इसी कारण समाज कार्य का क्षेत्र निर्धनों, वृद्धों, निराश्रितों एवं असमर्थ लोगों की देखरेख तक ही सीमित रहा। धर्म एवं आध्यात्मिकता का प्रभाव अधिक होने के कारण सभी लोग इनकी सहायता करना अपना दायित्व मानते थे। इस काल में यज्ञ, हवन एवं दान का प्रचलन था। समाज के सभी सदस्य उत्पादन सम्बन्धी कार्यों में भाग लेते थे और उनके सामूहिक श्रम के फलों को सभी सदस्यों में वितरित किया जाता था। समुदाय के प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति करने का उत्तरदायित्व अन्य व्यक्तियों पर था। सभी लोग अपने साधनों के अनुसार कार्य का पालन करने में एक-दूसरे से आगे बढ़ने का प्रयास करते थे। विभिन्न प्राचीनकालीन ग्रन्थों का अध्ययन करने पर तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में समाज कल्याण सम्बन्धी कार्यों की स्पष्ट झलक मिलती है जिसके आधार पर यह कहा जाता है कि भारतीय समाज में समाज कार्य की जड़ें बहुत ही पुरानी हैं। महाकाव्यों में अनेक ऐसे आख्यानों का वर्णन है जो प्राचीन भारत में सामाजिक नीति, राजनीति एवं नैतिकता का मार्गदर्शन करते रहे हैं।

2.6 मध्यकाल में समाज कार्य

मध्यकाल में भारतीय समाज में अनेक कुरीतियाँ विकसित होने लगी। जात-पात, परदा प्रथा, सती प्रथा, बाल विवाह इत्यादि इन्हीं कुरीतियों के उदाहरण हैं। इस काल में महिलाओं के प्रति भेदभाव होने लगा तथा उनका कार्य-क्षेत्र घर की चहारदीवारी तक ही सीमित कर दिया गया। इससे महिलाएँ न केवल शिक्षा से वंचित हो गईं, अपितु पुरुषों पर उनकी निर्भरता बढ़ गई। सामन्तशाही के उदय के कारण जनसाधारण की आर्थिक स्थिति भी बदतर होती चली गई। शिक्षा धर्म-केन्द्रों में केन्द्रित हो गई। इससे महिलाओं की स्थिति में काफी गिरावट आ गई। मुसलमानों और हिन्दू दोनों ही राजाओं में रनवास में रानियों के झुण्ड रखने की प्रथा प्रारम्भ हो गई।

मध्यकाल में भारतीय सामाजिक व्यवस्था को इस्लाम के सिद्धान्तों के अनुसार चलाने के प्रयास में सामाजिक संस्थाओं में अत्यधिक परिवर्तन हुआ तथा जनता के लिए कल्याण सेवाओं की व्यवस्था में राज्य ने भी कुछ अंशों में योगदान किया। इस्लाम की 'ज़कात' एवं 'खैरात' की अवधारणाओं को सामाजिक स्वीकृति प्राप्त हुई। भारतीय मुसलमान अपनी आय का 25 प्रतिशत अनिवार्य रूप से निर्धनों एवं आवश्यकताग्रस्त व्यक्तियों को प्रदान करते रहे हैं। इसी प्रकार से वे स्वैच्छिक रूप से अकिंचनों एवं निराश्रितों को खैरात के रूप में भिक्षा प्रदान करते रहे हैं। अनेक मुसलमान शासकों ने आवश्यकताग्रस्त व्यक्तियों के लिए समय-समय पर अनेक प्रकार की समाज सेवाओं का प्रावधान किया। इन सेवाओं में रोगियों के उपचार के लिए चिकित्साल्यों का निर्माण, बच्चों की शिक्षा हेतु शिक्षा संस्थाओं का निर्माण, यात्रियों के लिए बारादरियों एवं मुसाफिरखानों का निर्माण इत्यादि प्रमुख हैं। मस्जिद से सम्बद्ध मदरसों के रूप में कार्य करने वाली शिक्षा संस्थाओं की स्थापना करना मुसलमान समुदाय में अत्यधिक प्रचलित रहा है। इसके अतिरिक्त बूढ़ों, बीमारों और अपंगों की सहायता संयुक्त परिवार करते रहे हैं।

समाज कार्य की व्यवस्था में राज्य के योगदान की दिशा में शेरशाह सूरी एवं अकबर के सुधार कार्य उल्लेखनीय हैं। उदाहरणार्थ, अकबर की मान्यता थी कि राजा को अपनी प्रजा का सबसे बड़ा शुभचिंतक एवं संरक्षक होना चाहिए। प्रत्येक धर्म एवं जाति के प्रति सहिष्णु होना चाहिए तथा जनता के कल्याण में ही रत रहना चाहिए। अकबर ने सामाजिक सुधारों की ओर भी ध्यान दिया। उसने सती एवं बाल-हत्या की कुरीतियों को अपने समय में समाप्त कर दिया। अकबर ने सती प्रथा के सम्बन्ध में भी यह आदेश दिया कि यदि कोई विधवा सती न होना चाहे तो उसे ऐसा करने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा। बाल-विवाह पर रोक लगाने के उद्देश्य से विवाह के लिए लड़के की कम से कम आयु 16 वर्ष एवं लड़की की 14 वर्ष आवश्यक कर दी गई। उसने द्विपत्नी विवाह पर रोक लगाने का भी प्रयास किया। उसने युद्धबन्दियों को गुलाम बनाने की प्रथा पर रोक लगाई। उसने अपने राज्य को एक धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया तथा यात्री कर एवं जजिया कर से प्राप्त धन को कल्याण सम्बन्धी कार्यों पर लगाया।

भारत में अनेक अन्य धर्मों में भी दान का अत्यन्त महत्व है। इसी से विभिन्न धर्मों ने समाज कार्य की दृष्टि से उल्लेखनीय योगदान दिया है। उदाहरणार्थ, पारसियों ने दान के महत्व के परिणामस्वरूप ही धर्मशालाओं, तालाबों, कुओं, विद्यालयों आदि का निर्माण करवाया। उन्होंने बहुत-से न्यास स्थापित किए जिसमें एक प्रसिद्ध न्यास 'बाम्बे पारसी पंचायत ट्रस्ट फण्ड्स' है। इस फण्ड्स के उद्देश्यों में पारसी विधवाओं की सहायता, पारसी

बालिकाओं की विवाह सम्बन्धी सहायता, नेत्रहीन पारसियों की सहायता, निर्धन पारसियों की सहायता और धार्मिक शिक्षा सम्बन्धी सहायता शामिल है। इस प्रकार, समाज कार्य काफी लम्बे समय तक धार्मिक अभिप्रेरणाओं से प्रभावित होता रहा।

2.7 अंग्रेजी शासनकाल में समाज कार्य

NOTES

मुगल साम्राज्य के पतन, यूरोपियों के भारत आगमन तथा दक्षिण एवं बंगाल में ब्रिटिश सत्ता के अभ्युदय के साथ अंग्रेजी शासनकाल का प्रारम्भ हुआ। चूँकि अंग्रेज सबसे पहले व्यापारियों की तरह भारत आए, अत: ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारी (कुछ अपवाद छोड़कर) भारतीयों के कल्याण की अपेक्षा हिस्सेदारों की माँगों पर अधिक ध्यान देते थे। 1798 से 1856 ई. तक ब्रिटिश साम्राज्य का भारत में न केवल विस्तार हुआ अपितु इसका काफी सुदृढ़ीकरण भी हुआ। 1857 के स्वतन्त्रता संग्राम के पश्चात् समाज कार्य की दृष्टि से भारत में धार्मिक और सामाजिक सुधारों की लहर-सी आ गई थी। इससे पूर्व ईसाई धर्म के बढ़ते प्रभाव के कारण हिन्दू धर्म के अनुयायी न केवल अपने आपको शक्तिहीन मानने लगे थे, अपितु मूर्तिपूजा, सती प्रथा, विधवा पुनर्विवाह सम्बन्धी निषेध, अस्पृश्यता, बाल-विवाह आदि समस्याओं ने भी हिन्दू समाज को निष्प्राण कर दिया था इसीलिए 19वीं शताब्दी भारतीय नवजागरण के काल के रूप में उभर कर सामने आई। पाश्चात्य शिक्षा के विस्तार से भारतीयों को पाश्चात्य विज्ञान, साहित्य एवं इतिहास का अध्ययन करने का अवसर मिला। इससे उनके मस्तिष्क से संकीर्णता तथा संकुचितता दूर हुई एवं उनका दृष्टिकोण विशाल एवं व्यापक हो गया। विभिन्न पाश्चात्य लेखकों ने प्राचीन भारतीय संस्कृति, साहित्य एवं कला के गुणगान के माध्यम से भारतीयों को अपनी प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति की महानता का ज्ञान कराया जिसके परिणामस्वरूप अनेक सुधारकों, सन्तों तथा विद्वानों ने हिन्दू धर्म के वास्तविक स्वरूप का विवेचन किया एवं धार्मिक तथा सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए अपनी आवाज बुलन्द की।

राजा राममोहन राय को 'भारतीय पुनर्जागरण का जनक' कहा जाता है। उन्हें भारतीय राष्ट्रीयता का पैगम्बर एवं आधुनिक भारत का पिता भी कहा जाता है। राजा राममोहन राय ने 1828 ई. में कलकत्ता में 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की जिसका प्रमुख उद्देश्य था समाज में प्रचलित जाति के भेदभावों की समाप्ति, छुआछूत का अन्त, बाल-विवाह का प्रचलन एवं अन्धविश्वास तथा रूढ़िवादिता की समाप्ति करना था। 1866 ई. में केशवचन्द्र सेन ने ब्रह्म समाज आन्दोलन को पुन: स्वस्थ समाज सुधार आन्दोलन का प्रभावकारी उपकरण बनाया। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आन्दोलनों में एक महत्वपूर्ण स्थान है। वह संस्कृत के एक महान विद्वान होने के साथ-साथ पाश्चात्य चिन्तन के सर्वोत्तम तत्वों से पूर्णरूप से जागरुक थे। 1856 ई. में विधवा पुनर्विवाह कानून पास कराने में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का एक महत्वपूर्ण योगदान था। आर्य समाज की स्थापना स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 1875 ई. में बम्बई में की। दयानन्द सरस्वती ने भारतीयों को 'वेदों की ओर लौट जाओ' (Back to Vedas) का नारा दिया।

समाज सुधार के साथ-साथ अंग्रेजी शासनकाल में सामाजिक दृष्टि से विफल लोगों के लिए समाज कल्याण संस्थाओं की स्थापना पर भी बल दिया गया। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु अनेक अखिल भारतीय संगठनों का निर्माण किया गया। वे विशेषत: हरिजनों, जनजातीय लोगों तथा औद्योगिक श्रमिकों के कल्याण के लिए कार्य करते थे। वी. आर. शिन्दे द्वारा 1906 में भारत दलित वर्ग मिशन समाज (Depressed Classes Mission Society of India) की स्थापना बम्बई में शिक्षा सम्बन्धी कार्य संगठित करने के लिए की गई, जिसके अध्यक्ष चन्द्रावरकर थे। 1908 में बम्बई में सेवा सदन की स्थापना की जिसकी अध्यक्षा श्रीमती रमाबाई रानाडे थीं। इस संगठन का उद्देश्य महिला कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षित करना, चिकित्सा सम्बन्धी सहायता और कर्मशालाएँ प्रदान करना, अंग्रेजी, संस्कृत और नागरिकशास्त्र की शिक्षा देना था। मद्रास में 1909 में संगठित की गई। होली के अवसर पर की जाने वाली असभ्यताओं को रोकने के लिए समाज सेवा संघ की स्थापना चन्द्रावरकर की अध्यक्षता में 1911 में की गई। संयम समाज, विवाह सुधार संघ, जिला तथा प्रान्तीय समाज सुधार सम्मेलन तथा समाज सुधार संघ सम्पूर्ण देश में तीव्र गति के साथ स्थापित होने लगे। महात्मा गांधी के नेतृत्व में सेवा ग्राम में 'हरिजन सेवक संघ' तथा 'अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ' की स्थापना हुई जिनका लक्ष्य जनता की आर्थिक प्रगति में सहायता देने के साथ-साथ सामाजिक जीवन में सुधार करना भी था।

प्रारम्भिक ईसाई धर्म प्रचारकों के प्रयासों का प्रभाव भी कम शक्तिशाली नहीं था। उनके द्वारा जाति प्रथा पर कठोर प्रहार किया गया और ईसाई धर्म की स्वाभाविक जन्मजात, समानता को अधिक चढ़ा-चढ़ाकर सामने

रखने का प्रयास हुआ। उन्होंने भी बीमारों, निर्धनों एवं अन्य ऐसे वर्गों को अपनी सेवा भावना द्वारा प्रभावित कर ईसाई धर्म ग्रहण करने हेतु प्रेरित किया। वस्तुत: ईसाई मिशनरियों ने निर्धनता की स्थिति का लाभ उठाकर निर्धनों के कल्याण के लिए जो संस्थाएँ खोलीं उनका प्रमुख उद्देश्य सहायता प्रदान करना न होकर धर्म परिवर्तन करना था। फिर भी, अस्पृश्यता, सती प्रथा, बाल विवाह, विधवा विवाह निषेध आदि अनेक कुरीतियों को दूर करने में समाज सुधारकों के साथ-साथ ईसाई मिशनरियों ने देश मे अपने सामाजिक और धार्मिक कार्यों का विस्तार जारी रखा।

धार्मिक आन्दोलनों से प्राप्त प्रेरणा से अंग्रेजी शासनकाल में अनेक प्रकार की समाज सेवाएँ प्रारम्भ हुईं जिनमें विविध प्रकार के सार्वजनिक कल्याणकारी कार्य सम्पादित किए जाने लगे। ऐसे कार्यों में नहरें, तालाब तथा कुएँ खुदवाना, पेड़ लगवाना, मन्दिर बनवाना, धर्मशाला तथा आश्रम बनवाना, विद्यालय तथा चिकित्सालय स्थापित करना इत्यादि प्रमुख थे। अनेक प्रकार की धार्मिक संस्थाओं ने भी सार्वजनिक कल्याण सम्बन्धी कार्य प्रारम्भ किए। अनेक धनवानों ने अपनी सम्पत्ति धार्मिक संस्थाओं को सौंप दी या ट्रस्ट बना दिए जिनके माध्यम से अनेक प्रकार के कल्याणकारी कार्यक्रम आयोजित किए जाने लगे।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पहले अंग्रेजी सरकार का कर्त्तव्य केवल कानून पास करने और गाँव में ग्राम पुनर्निर्माण कार्य के लिए तथा कुछ समाज सेवाओं; जैसे-शिक्षा, स्वास्थ्य और गतिमान कर्मचारियों के पुनर्वास के लिए कुछ अनुदान देने तक ही सीमित था परन्तु अपंग तथा कम लाभान्वित लोगों की सुविधाओं के लिए अमेरिका अथवा इंग्लैण्ड जैसी कोई व्यवस्था नहीं की गई। अंग्रेजी शासनकाल में समाज कार्य की दृष्टि से राज्य का कार्य-क्षेत्र अत्यन्त सीमित था। यह इसी का परिणाम था कि केन्द्र अथवा राज्यों में समाज कल्याण सम्बन्धी समस्याओं की देखरेख करने वाला कोई विभाग नहीं था। इस दिशा में वास्तविक प्रारम्भ स्वतन्त्रता के बाद ही किया जा सका।

बोध प्रश्न

1. प्राचीन भारत में समाज कार्य पर टिप्पणी लिखो?

   ....

   ....

   ....

2. मध्यकाल में हुए समाज कार्य पर प्रकाश डालिये?

   ....

   ....

   ....

   ....

2.8 स्वतन्त्रता-पश्चात् समाज कार्य

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् पाकिस्तान से आए विस्थापितों के पुनर्वास का दायित्व राज्य ने अपने हाथों में लेते हुए पुनर्वास मन्त्रालय की स्थापना की। भारतीय संविधान भारत को सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष, लोकतान्त्रिक गणराज्य घोषित करता है जिसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक न्याय, विचार अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म तथा उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा तथा अवसर की समानता प्रदान करता है। भारतीय संविधान में अल्पसंख्यकों के धार्मिक, भाषायी और सांस्कृतिक हितों की सुरक्षा की विशेष व्यवस्था की गई है। इसके अतिरिक्त भारतीय संविधान में अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के व्यक्तियों को सेवाओं, विधानसभाओं, संसद और अन्य क्षेत्रों में विशेष संरक्षण प्रदान किया गया है। कल्याणकारी राज्य होने के नाते भारतीय संविधान जनता के सभी अंगों के कुछ आवश्यक हितों की साधना करने पर बल देता है।

भारत में 1953 ई. में दुर्गाबाई देशमुख की अध्यक्षता में केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड की स्थापना की गई जिसका कार्य स्वैच्छिक संगठनों के माध्यम से समाज कल्याण से सम्बन्धित गतिविधियों को बढ़ावा देना

तथा कल्याणकारी योजनाओं पर अमल कराना है। 1985 ई. में कल्याण मन्त्रालय की स्थापना की गई जिसे सभी प्रकार के सामाजिक कल्याण से सम्बन्धित कार्य सौंप दिए गए। भारत में इस समय 33 राज्य कल्याण बोर्ड विभिन्न कल्याण कार्यक्रमों पर अमल कर रहे हैं। स्वतन्त्रता-पश्चात् भारत में अनेक स्वैच्छिक एवं गैर-सरकारी संगठनों की सेवाएँ भी समाज कार्य हेतु ली जा रही हैं। सरकार इन संगठनों को समाज कार्य हेतु वित्तीय अनुदान प्रदान करता है। साथ ही, पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा समाज के कमजोर वर्गों की समस्याओं का समाधान करने तथा उनके सामाजिक-आर्थिक स्तर को ऊँचा करने हेतु प्रयास किए जा रहे हैं। इस प्रकार, समाज कार्य हेतु नियोजन की सहायता भी ली जा रही है। समाज कार्य को प्रोत्साहन देने हेतु अनेक सामाजिक अधिनियम भी पारित किए गए हैं। केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड द्वारा अंग्रेजी में 'सोशल वेलफेयर' तथा हिन्दी में 'समाज कल्याण' नामक मासिक पत्रिकाओं का प्रकाशन किया जाता है। सामुदायिक विकास मन्त्रालय द्वारा 'कुरुक्षेत्र' नाम से मासिक पत्रिका भी प्रकाशित की जाती है। इन सभी पत्रिकाओं में समाज कल्याण एवं समाज कार्य से सम्बन्धित जानकारी उपलब्ध कराई जाती है।

NOTES

स्वतन्त्र भारत में विभिन्न धर्मों द्वारा स्थापित की गई समाज सेवी संस्थाओं द्वारा भी समाज कार्य में उल्लेखनीय योगदान दिया जा रहा है। प्रजातान्त्रिक देश होने के नाते भारत में समाज कार्य निश्चित रूप से मानवतावादी प्रकृति रखता है, इसीलिए समाज कार्य प्रत्येक सदस्य को न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति एवं धन के पुर्नवितरण में विश्वास रखता है। लोकतान्त्रिक विचारधारा के कारण ही भारतीय संविधान में सभी नागरिकों को बिना किसी भेदभाव के समान अधिकार प्रदान किए गए हैं। भारत में आज समाज कार्य प्रजातान्त्रिक एवं मानवीय मूल्य, मान्यताओं तथा व्यावसायिक सिद्धान्तों पर आधारित एक व्यावहारिक विषय होने के साथ-साथ सेवा भी है जो समाज के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित है। लॉवी (Lowie) जैसे विद्वानों ने आधुनिक युग में समाज कार्य की महत्ता को स्वीकार करते हुए समाज कार्यकर्ताओं (अभ्यासकर्ताओं) को 'धर्मनिरपेक्ष पुजारी' (Secular priests) नाम दिया है क्योंकि वे एक चिकित्सक के रूप में वही समाज सेवा प्रदान करते हैं जो पहले धार्मिक संस्थाओं के पुजारी करते थे तथा अभी भी कुछ समाजों में करते आ रहे हैं।

2.9 भारत में समाज कार्य शिक्षा का विकास

भारत में समाज कार्य शिक्षा एक व्यावसायिक शिक्षा के रूप में प्रारम्भ हुई जो अनुभवी शिक्षकों एवं समाज सेवार्थियों की देखरेख में दी जाती है। इसके लिए समय-समय पर शिक्षा संस्थाओं की स्थापना होती रही। ऐसी शिक्षण संस्थाएँ मुख्य रूप से विश्वविद्यालयों की अध्ययन पद्धति एवं पाठ्यक्रम का भाग बनकर विकसित हुई। भारत में प्रारम्भ में समाज कार्य शिक्षण हेतु 1936 ई. में बम्बई में सर दोराब जी टाटा ग्रेजुएट स्कूल ऑफ सोशल वर्क की स्थापना हुई। बाद में इसका नाम टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल साइन्सेस हो गया। 1947 ई. में काशी विद्यापीठ में समाज विज्ञान विद्यालय खुला। इसी वर्ष दिल्ली में स्कूल ऑफ सोशल वर्क खुला। 1949 ई. में लखनऊ विश्वविद्यालय में समाज कार्य प्रशिक्षण प्रारम्भ हुआ। 1950 ई. में बड़ौदा विश्वविद्यालय में समाज कार्य संकाय खोला गया। 1952 ई. में मद्रास स्कूल ऑफ सोशल वर्क तथा 1955 ई. में आगरा में समाज कार्य की शिक्षा प्रारम्भ हुई।

आज समाज कार्य का प्रशिक्षण बम्बई, आगरा, मद्रास, पटना, लखनऊ, वाराणसी, जमशेदपुर, कलकत्ता, वाल्टेयर, उदयपुर, भागलपुर, बंगलौर, मंगलौर, इन्दौर, कोयम्बटूर, कर्नाटक आदि अनेक स्थानों पर उपलब्ध कराया जाता है। वर्तमान में समाज कार्य प्रशिक्षण प्रदान करने वाली संस्थानों की संख्या 60 से भी अधिक है। कुछ संस्थानों में स्नातक, स्नातकोत्तर तथा कुछ में दोनों स्तर की शिक्षा दी जाती है। अनेक संस्थानों में पी-एच.डी. एवं डी.लिट. की उपाधियों के लिए भी व्यवस्था है। इस दृष्टि से भारत में समाज कार्य व्यवसाय के रूप में खरा उतरता है।

भारत में समाज कार्य शिक्षा के विकास के सन्दर्भ में यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि अमेरिका एवं यूरोप के देशों के विपरीत यहाँ इसका व्यवसाय के रूप में विकास धीमी गति से हुआ है। अनेक विद्वान् तो आज भी विशिष्ट सैद्धान्तिक ज्ञान की शाखा के रूप में समाज कार्य विषय पर सन्देह रखते हैं। इसके प्रमुख कारण अग्र प्रकार हैं-

1. भारत में विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों द्वारा समाज कार्य के मूल्यों, दर्शन, सिद्धान्तों, प्रणालियों, प्रविधियों को उसी रूप में स्वीकार नहीं किया गया है जैसा कि अमेरिका एवं अन्य विकसित देशों में हुआ है।

NOTES

2. भारत में एक विषय के रूप में समाज कार्य के अर्थ के बारे में आज भी भ्रम बना हुआ है। इसे परोपकार का कार्य तथा दान से सम्बन्धित कार्य समझने के साथ-साथ नि:स्वार्थ सेवा, श्रमदान अथवा आपातकालीन सेवा के रूप में भी समझा जाता है। कई बार तो ऐच्छिक शारीरिक श्रम को भी समाज कार्य की श्रेणी में सम्मिलित किया जाता है।

3. भारत में एक विषय के रूप में समाज कार्य के अर्थ के बारे में पाए जाने वाले भ्रम के साथ-साथ समाज कार्यकर्ता का अर्थ भी स्पष्ट नहीं है। समाज सुधारक, दानी, परोपकारी, नेता, स्वैच्छिक कार्यकर्ता इत्यादि विविध प्रकार के लोगों को समाज कार्यकर्ता कहा जाता है जिससे समाज कार्य का व्यावसायिक रूप उभरने में कठिनाई हो रही है।

4. भारत की अधिकांश समस्याओं की जड़ें सामाजिक संरचना में गढ़ी हुई हैं जिसके कारण अपेक्षित परिवर्तन लाना बहुत कठिन कार्य है इसीलिए समाज कार्यकर्ताओं के लिए समस्याओं का समाधान करना सरल कार्य नहीं है।

5. भारत में समाज कार्य से सम्बन्धित शिक्षण सामग्री का भी नितान्त अभाव है। अधिकांश पुस्तकों में समाज कार्य का परिचय पश्चिमी देशों में उपलब्ध शिक्षा के आधार पर दिया गया है इसीलिए भारतीय सन्दर्भ में समाज कार्य का अर्थ, इसका विषय-क्षेत्र एवं विषय-वस्तु स्पष्ट नहीं हो पाती है।

6. भारत में समाज कार्य की प्रणालियों का समुचित विकास नहीं हो पाया है जिसके कारण समस्याओं के समाधान हेतु अधिकांशत: प्रयास एवं त्रुटि के सिद्धान्त को लागू किया जाता है।

7. भारत में समाज कार्य के व्यावसायिक संगठन भी प्रभावशाली ढंग से इस विषय का विकास नहीं कर पा रहे है। वे समाज कार्य को व्यावसायिक रूप देने में काफी सीमा तक असफल रहे हैं।

8. भारत में प्रशिक्षित समाज कार्यकर्ताओं (जिनके पास महाविद्यालयों/विश्वविद्यालयों की डिग्रियाँ या डिप्लोमा हैं) में न केवल लग्नशीलता एवं कर्त्तव्यपरायणता की कमी है, अपितु उनमें मानवतावादी दृष्टिकोण भी विकसित नहीं हो पाता है जो व्यावसायिक समाज कार्य के लिए आवश्यक है।

बोध प्रश्न

1. स्वतंत्र भारत में समाज कार्य पर टिप्पणी लिखो?

....

....

....

2. भारत में समाज कार्य शिक्षा पर संदेह क्यों किया जाता है?

....

....

....

2.10 सारांश

समाज कार्य के उद्देश्य समय के साथ-साथ परिवर्तित होते रहते हैं। समाज कार्य के मुख्य दो उद्देश्य आर्थिक व शारीरिक कल्याण तथा संतोषजनक संबंधों एवं अनुभवों द्वारा सामाजिक वृद्धि करना है। समाज कार्य के मूल्यों में प्रत्येक व्यक्ति का आदर तथा व्यक्ति को क्षमताओं के विकास के अवसर देना एवं व्यक्तियों की एक-दूसरे पर निर्भरता व उत्तरदायित्व का विकास करना है। प्राचीन काल में समाजकार्य का क्षेत्र व्यापक नहीं था। मध्यकाल तक भारत में कई कुरूतियाँ विकसित हुई और समाजकार्य की आवश्यकता बढ़ने लगी। स्वतंत्र भारत में कई समाजसेवी संस्थाओं की स्थापना हुई। भारत में सर्वप्रथम मुंबई में सन् 1936 में समाज कार्य शिक्षण के लिए जी. टाटा ग्रेजुएट स्कूल ऑफ Social Work की स्थापना हुई।

2.11 शब्दावली

मूल्य - मूल्य से अभिप्राय किसी वस्तु, अवधारणा, सिद्धान्त, क्रिया अथवा परिस्थिति के विषय में किसी व्यक्ति, समूह या समुदाय के बौद्धिक एवं संवेगात्मक निर्णय से है।

NOTES

सामाजिक सूमह - सामाजिक समूह का अर्थ व्यक्तियों के ऐसे संग्रह से है जिनमें निश्चित सम्बन्ध पाए जाते हैं तथा जो अपने समूह एवं उसके प्रतीकों के प्रति सचेत होते है।

समुदाय - समुदाय से अभिप्राय उस छोटे क्षेत्रीय समूह से है जिसके सदस्यों में सामुदायिक भावना पाई जाती है तथा जिसके अन्तर्गत सामाजिक जीवन के समस्त पहलुओं का समावेश होता है।

2.12 अभ्यास प्रश्न

दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. समाज कार्य क्या है? इसके प्रमुख उद्देश्य बताइए।
2. समाज कार्य के मूल्यों एवं सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए।
3. भारत में समाज कार्य के ऐतिहासिक विकास को स्पष्ट कीजिए।

लघुउत्तरीय प्रश्न

1. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए-

   (अ) वैज्ञानिक पद्धति की विशेषताएँ (ब) बाधितों का कल्याण

   (स) पर्यावरण सन्तुलन (द) भारत में समाज कार्य शिक्षा।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. ब्राउन ने समाज कार्य के कितने उद्देश्य बताए है–

   (अ) चार (ब) पाँच (स) छः (द) सात

उत्तर 1. (अ)

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

Konopka, G., Social Work Philosophy, Minneapolis : The University of Minnesota Press, 1958.

मदन, जी. आर., समाज कार्य, दिल्ली : विवेक प्रकाशन, 2004.

Majumdar, R. C., "Social Work in Ancient India" in A. R. Wadia (ed.), History and Philosophy of Social Work in India, Bombay : Allied Publishers, 1968.

Mehta, B. N., "Historical Development of Social Work in India" in Indian Journal of Social Work, Vol. 13, June 1952.

Murray, Clyde E., "Social Work as a Profession" in Russell H. Kurtz (ed.), Social Work Year Book, New York : American Book-Stratford Press, Inc., 1954.

Shashtri, R. R., Social Work Tradition in India, Varanasi : Welfare Forum and Research Organization, 1966.

Sushil Chandra, "Social Work in Uttar Pradesh" in Indian Conference of Social Work, 1954.

United Nations, Training for Social Workers-Third International Survey, New York : UN Department of Economics and Social Affairs, 1958.

●●●

अध्याय–3 समाज कार्य में भूमिका, संबंध एवं आवश्यकताओं की अवधारणा

[CONCEPT OF ROLE, RELATION AND NECESSITIES IN SOCIAL WORK]

NOTES

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 भूमिका की अवधारणा
3.3 सम्बन्ध की अवधारणा
3.4 आवश्यकताओं की अवधारणा
3.5 मानवीय आवश्यकताओं की विशेषताएँ
3.6 मानवीय आवश्यकताओं का वर्गीकरण
3.7 सारांश
3.8 शब्दावली
3.9 अभ्यास प्रश्न
सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

3.0 उद्देश्य

प्रत्येक विषय को समझने हेतु उसमें प्रयुक्त मूल अवधारणाओं का स्पष्ट ज्ञान होना आवश्यक है। इन अवधारणाओं का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया जाता है तथा यह अर्थ व्यक्तियों के सामान्य ज्ञान से भिन्न भी हो सकता है। समाज कार्य की भी अपनी कुछ विशिष्ट अवधारणाएँ हैं जिनका प्रयोग इस विषय में बहुधा किया जाता है। इन अवधारणाओं में भूमिका, सम्बन्ध, आवश्यकताएँ, प्रमुख हैं। इस इकाई में इन अवधारणाओं के स्पष्टीकरण के साथ-साथ समाज कार्य के लक्ष्य एवं प्रकार्य समझाने का प्रयास किया गया है।

3.1 प्रस्तावना

समाज कार्य सामाजिक एवं व्यक्तिगत समस्याओं की रोकथाम एवं उपचार की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है। आज इसका महत्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है तथा इसमें कुछ ऐसे उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य करने की आशा भी की जाने लगी है जो सामाजिक नीतियों के निर्माण तथा उन्हें लागू करने में महत्वपूर्ण होते हैं। समाज कार्य मानवीय आवश्यकताओं को समझने, इनकी प्राप्ति के मार्ग में आने वाली बाधाओं तथा इन्हें प्राप्त करने के ढंगों को समझने में सहायक है। समाज कार्य की मौलिक अवधारणाओं को समझकर इस विषय को और अधिक लोकप्रिय बनाया जा सकता है।

3.2 भूमिका की अवधारणा

एक जटिल समाज में विभिन्न व्यक्तियों के मध्य सामाजिक अन्तर्क्रियाएँ निरन्तर होती रहती हैं। सामाजिक अन्तर्क्रियाएँ वैयक्तिक नहीं होती वरन् पद के अनुरूप व प्रस्थिति से सम्बन्धित होती हैं। जिस प्रकार कोशिका-कोशिका मिलकर शरीर का ढाँचा निर्मित करती है, उसी प्रकार व्यक्ति-व्यक्ति के बीच अन्तर्सम्बन्धों के द्वारा सामाजिक संरचना का निर्माण होता है। यह संरचना ही मानवीय अन्तर्क्रियाओं को सुविधाजनक और सम्भव बनाती है। वस्तुतः

ये पारस्परिक अन्तर्क्रियाएँ ही समाज, संस्कृति और व्यक्तित्व की मूलाधार हैं। प्रस्थिति एवं भूमिका को सामाजिक संरचना की लघुतम इकाई माना जाता है। चूँकि भूमिका को प्रस्थिति का गत्यात्मक पक्ष कहा जाता है, इसलिए भूमिका की अवधारणा को समझने हेतु प्रस्थिति की अवधारणा समझना अनिवार्य है।

किसी सामाजिक समूह को एक सम्बन्धों की संरचना के रूप में देखा जा सकता है। यह संरचना वास्तव में, अन्तर्सम्बन्धित कुछ प्रस्थितियों को दर्शाती है, जैसे एक परिवार में पिता, माँ, भाई-बहन, भाभी आदि प्रस्थितियाँ हैं या एक कॉलेज में प्रिन्सिपल, शिक्षक, विद्यार्थी, क्लर्क, चपरासी आदि प्रस्थितियाँ ही है जिनके अन्तर्सम्बन्धित प्रबन्ध का नाम ही वहाँ की संरचना है। इस प्रकार, कहा जा सकता है कि प्रस्थिति से अभिप्राय किसी समाज अथवा समूह विशेष में व्यक्ति के पद (स्थान) से है। प्रत्येक समाज व समूह में इस प्रकार के अनेक पद होते हैं। इन पदों से व्यक्ति प्रतिष्ठित होता है। किसी व्यक्ति को उतने ही पद प्राप्त होते हैं जितने समूहों में उसकी सदस्यता होती है।

यह सामाजिक पद (Social position) व्यक्ति को या तो विरासत में मिलता है या उसे अपनी योग्यता और परिश्रम से प्राप्त होता है। जॉनसन (Johnson) के अनुसार सामाजिक पद के दो प्रमुख तत्त्व हैं- अधिकार (Right) एवं कर्त्तव्य (Obligation) अर्थात् प्रत्येक सामाजिक पद कुछ अधिकारों और कर्त्तव्यों या दायित्वों की व्याख्या करता है। उदाहरणार्थ, कॉलेज में प्राचार्य का पद उसके अधिकारों और दायित्वों की व्याख्या करता है इसीलिए सामाजिक पद को व्यक्तियों के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का एक जटिल समग्र कहा गया है। समाजशास्त्रीय शब्दावली में सामाजिक पद के अधिकार वाले पक्ष को प्रस्थिति कहा जाता है, जबकि कर्त्तव्य वाले पक्ष को भूमिका। इस प्रकार, सामाजिक पद प्रस्थितियों एवं भूमिकाओं की जटिल व्यवस्था है। जॉनसन के शब्दों में, "इस प्रकार, एक सामाजिक पद के दो भाग होते हैं, एक में दायित्व निहित होते हैं और दूसरे में अधिकार। सामाजिक पद के इन दो भागों को हम इसकी भूमिका एवं प्रस्थिति कहते हैं, 'भूमिका' शब्द दायित्वों को प्रकट करता है और 'प्रस्थिति' अधिकारों की व्याख्या करता है।"

कुछ विद्वानों (जैसे रॉल्फ लिण्टन) ने सामाजिक पद तथा सामाजिक प्रस्थिति में कोई भेद नहीं किया है और इन्हें पर्यायवाची अर्थ में प्रयोग किया है। परन्तु जॉनसन इससे सहमत नहीं हैं। वस्तुतः सामाजिक पद एवं सामाजिक प्रस्थिति में अत्यधिक बारीक अन्तर पाया जाता है। इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। जॉनसन ने हमें बताया है कि कभी-कभी एक ही व्यक्ति को एक से अधिक सामाजिक पद प्राप्त होते हैं, जैसे कोई व्यक्ति एक-साथ राष्ट्रपति, पिता, पति या पुत्र कुछ भी हो सकता है। ठीक उसी प्रकार एक सामाजिक पद पर एक से अधिक व्यक्ति भी हो सकते हैं, जैसे वकील या शिक्षक। परन्तु एक ही पेशे के सभी व्यक्तियों का सामाजिक पद तो समान होता है परन्तु उनकी सामाजिक प्रस्थिति में भिन्नता हो सकती है। सभी वकीलों या शिक्षकों का पद तो एक समान है परन्तु उनकी प्रस्थिति में समानता नहीं है क्योंकि उनकी भूमिकाओं के निर्वहन के स्तर में काफी अन्तर होता है। कोई अच्छा वकील या अध्यापक होता है, तो कोई औसत दर्जे का वकील या अध्यापक। कोई उच्च कोटि का साहित्यकार है, तो कोई साधारण साहित्यकार। जॉनसन की विचारधारा उपयुक्त प्रतीत होती है क्योंकि विश्लेषण की स्पष्टता के लिए पद एवं प्रस्थिति में भेद किया ही जाना चाहिए।

किसी समाज या समूह में कोई व्यक्ति, निर्दिष्ट समय में जो स्थान प्राप्त करता है उसे प्रस्थिति कहा जाता है। परन्तु यह सामाजिक पद का अधिकार पक्ष ही है क्योंकि प्रस्थिति से व्यक्ति के अधिकारों का बोध होता है। सामाजिक प्रस्थिति को समूह के सन्दर्भ में न देखकर व्यक्ति के सन्दर्भ में देखा जाता है। बीरस्टीड (Bierstedt) ने समाज को 'प्रस्थितियों का ताना-बाना' (Network of statuses) कहा है। सैद्धान्तिक स्तर पर प्रस्थिति को दो अर्थों में स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है- प्रथम अर्थ में इससे एक निश्चित क्रम का पता चलता है अर्थात् इससे उच्च या निम्न भाव प्रकट होते हैं, जैसे किसी आफिस में बड़े बाबू को अन्य बाबुओं से अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। दूसरे अर्थ में इससे किसी प्रकार के क्रम का आभास नहीं होता है, जैसे वैवाहिक या आयु प्रस्थिति। समाज में व्यक्तियों की प्रस्थिति का निर्धारण सामाजिक नियमों के अनुसार होता है।

मैकाइवर एवं पेज (Maciver and Page) के अनुसार, "प्रस्थिति वह सामाजिक पद है, जो अपने धारक के लिए उसके व्यक्तिगत लक्षण या सामाजिक सेवा के अतिरिक्त प्रभाव, प्रतिष्ठा और आदर की मात्रा भी निर्धारित करता है।" इस भाँति, इन विद्वानों ने सामाजिक प्रस्थिति में निश्चित मात्रा में प्रतिष्ठा, आदर व सम्मान के तत्त्व को निहित माना है। वास्तव में, छात्र संघ के नेता की प्रस्थिति साधारण सदस्य की प्रस्थिति से अधिक सम्मान व प्रतिष्ठा रखती है। इन्हीं तत्त्वों पर जोर देते हुए लिंडग्रेन (Lindgren) ने भी लिखा है कि "एक पद की प्रस्थिति को उसकी शक्ति, प्रतिष्ठा और अनन्यता के सन्दर्भों में ही परिभाषित किया जाता है।"

सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था में व्यक्ति अपनी आयु, लिंग, जाति, प्रजाति एवं व्यक्तिगत योग्यता के आधार पर जिस पद को प्राप्त करता है उसे उसकी प्रस्थिति कहा जाता है। प्रस्थिति दो प्रकार की होती है-प्रदत्त तथा अर्जित। प्रदत्त प्रस्थिति को 'आरोपित प्रस्थिति' भी कहा जाता है। प्रदत्त प्रस्थिति व्यक्ति की वे प्रस्थितियाँ हैं जो व्यक्ति को बिना किसी प्रयत्न किए समाज व समूह से प्राप्त हो जाती हैं। ये प्रस्थितियाँ व्यक्ति को जन्म से ही सामाजिक व्यवस्था एवं परम्परागत नियमों के अनुरूप प्राप्त हो जाती हैं। व्यक्ति की योग्यता या कार्य इसका निर्धारण नहीं करते। प्रदत्त प्रस्थिति के विपरीत अर्जित प्रस्थिति व्यक्ति की वह स्थिति है जो उसने जन्म के आधार पर नहीं अपितु अपनी व्यक्तिगत योग्यता के आधार पर प्राप्त की है।

समाज में अनेक प्रकार के पद होते हैं तथा इन पदों की प्राप्ति के लिए अनिवार्य विशिष्ट योग्यताएँ होती हैं। व्यक्ति द्वारा अपने प्रयास से किसी पद को प्राप्त करना उसकी अर्जित प्रस्थिति है। आधुनिक मुक्त समाजों में अधिकांश प्रस्थितियाँ अर्जित ही होती हैं। प्रस्थिति के सन्दर्भ में सामाजिक परम्परा, प्रथा, नियम एवं कानून के अनुसार जो कार्य करने होते हैं, उन्हें व्यक्ति की भूमिका कहा जाता है। लिण्टन का मत है कि प्रत्येक स्थिति का एक क्रिया पक्ष होता है तथा इसी पक्ष को भूमिका कहा जाता है। अन्य शब्दों में, किसी भी सामाजिक पद के दायित्व वाले पक्ष को भूमिका कहा जाता है। लिण्टन ने भूमिका को प्रस्थिति का गत्यात्मक पक्ष (Dynamic aspect) बताया है। इस दृष्टि से दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं तथा वे कभी एक-दूसरे से स्वतन्त्र नहीं हो सकते। प्रस्थिति के बदलते ही भूमिका भी बदल जाती है और भूमिका के बदलते ही प्रस्थिति प्रभावित हो जाती है।

स्पष्ट है कि भूमिका का तात्पर्य कार्य से है। इसका निर्धारण व्यक्ति के पद अथवा प्रस्थिति के अनुसार होता है। भूमिका को प्रस्थिति से अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि बिना भूमिका के किसी प्रस्थिति की कल्पना भी नहीं की जा सकती है इसीलिए भूमिका प्रस्थिति का गत्यात्मक पक्ष है। उदाहरणार्थ, किसी कॉलेज में अमुक प्रोफेसर का होना उसकी प्रस्थिति का द्योतक है, जबकि उसके द्वारा शिक्षार्थियों को पढ़ाना या परीक्षा सम्बन्धित कार्य करना उसकी भूमिका है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्रत्येक कार्य भूमिका नहीं कहा जाता है। उदाहरणार्थ, भोजन करना एक सामान्य कार्य तो है परन्तु भूमिका नहीं है। केवल उसी कार्य को भूमिका कहा जाता है जो कोई व्यक्ति सामाजिक नियमों एवं मानदण्डों को ध्यान में रखकर करता है। माता-पिता द्वारा बच्चों को स्नेह प्रदान करना उनकी सामाजिक भूमिका है परन्तु बच्चों द्वारा माता-पिता का अपमान करना उनकी भूमिका नहीं है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि भूमिका व्यक्तियों के व्यवहार की एक प्रणाली का नाम है। कोई भी व्यक्ति पिता, पुत्र, शिक्षक, ग्राहक, शिक्षार्थी इत्यादि के रूप में जो व्यवहार करता है वही उसकी भूमिका कही जाती है।

लिण्टन (Linton) के अनुसार, "जहाँ तक कि भूमिका बाह्य व्यवहार का बोध कराती है यह प्रस्थिति का गतिशील पक्ष है अर्थात् पद का औचित्य सिद्ध करने के लिए व्यक्ति को जो कुछ करना पड़ता है, वह भूमिका होती है।" अन्यत्र उन्होंने भूमिका को इन शब्दों में परिभाषित किया है-" भूमिका शब्द का प्रयोग किसी विशेष प्रस्थिति से सम्बन्धित सांस्कृतिक प्रतिमान की समग्रता के लिए किया जाता है। इस प्रकार, भूमिका के अन्तर्गत उन समस्त अभिवृत्तियों, मूल्यों व व्यवहारों को सम्मिलित किया जाता है जो किसी विशेष पद से सम्बन्धित व्यक्ति अथवा व्यक्तियों को समाज द्वारा प्रदत्त होते हैं।"

भूमिका की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं-

1. भूमिका सामाजिक जीवन के अस्तित्व के लिए आवश्यक है क्योंकि वह सामाजिक व्यवहार पर सीमाएँ लगाती है और व्यवहार को निर्धारित ढंग से चलाने में सहायता प्रदान करती है।
2. भूमिका के द्वारा किसी भी अन्य क्रिया से सम्बन्धित पक्षों के आचरण की पर्याप्त सीमा तक भविष्यवाणी की जा सकती है, जैसे पुलिस इन्सपैक्टर से आशा की जाती है कि वह अपराधी को गिरफ्तार करेगा।
3. भूमिका एक तटस्थ शब्द है जिससे स्पष्ट नहीं होता है कि आचरण या व्यवहार अच्छा है या बुरा अथवा लाभदायक है या हानिकारक।
4. किसी भी सामाजिक प्रस्थिति से जुड़ी भूमिकाएँ प्रायः प्रामाणिक होती जाती हैं। समय के साथ-साथ उनका एक रूढ़िगत ढंग विकसित हो जाता है।

5. एक व्यक्ति को किसी एक प्रस्थिति के सम्बन्ध में कोई एक भूमिका ही नहीं निभानी पड़ती वरन् उस प्रस्थिति से सम्बन्धित विभिन्न व्यक्तियों के साथ विभिन्न ढंग से भूमिकाएँ निभानी पड़ती हैं। इसी को ही भूमिका पुंज कहा जाता है।

6. जब व्यक्ति के विभिन्न भूमिका पुंज होते हैं तो कई बार ऐसी परिस्थिति भी हो सकती है जहाँ व्यक्ति को अपनी दो भूमिकाओं के निष्पादन में तनाव एवं संघर्ष का सामना करना पड़ता है।

7. भूमिका के निर्धारण से यह आशय नहीं है कि उसका धारक समाज द्वारा प्रत्याशित पूरे व्यवहार का अक्षरश: पालन करेगा। वास्तव में, हर भूमिका के अभिनय में कुछ न कुछ छूट की सम्भावना अवश्य होती है। प्रत्येक धारक कुछ अपने निजी ढंग से व्यवहार कर जाता है।

   इसलिए समाजशास्त्र में भूमिका अभिनय (Role enactment) के सम्बन्ध में तीन अवधारणाएँ प्रयोग की जाती हैं-

   (i) **भूमिका निर्धारण-** इसका आशय उस व्यवहार से है जिसे समाज किसी प्रस्थिति के धारक के लिए निर्धारित करता है।

   (ii) **भूमिका प्रत्याशा-** यह वह आचरण है जिसको कि मूर्त परिस्थिति में सम्बन्धित अन्य व्यक्ति प्रस्थिति के धारक से आशा करते है।

   (iii) **भूमिका-** व्यवहार, निर्वाह या सम्पादन-यह वह व्यवहार है जो किसी प्रस्थिति का धारक वास्तव में मूर्त परिस्थिति में करता है।

8. भूमिका का विश्लेषण प्राय: नाटकीय विश्लेषण मॉडल (Dramaturgic model) की सहायता से किया जाता है। जिस प्रकार रंगमंच पर पात्रों के मध्य नाटक खेला जाता है वैसे ही प्रस्थिति के अनुसार भूमिका निष्पादित करनी पड़ती है। जिस प्रकार नाटक के पात्रों का वाक्य पूर्वरचित होता है ठीक उसी प्रकार समाज के आदर्श व मूल्य आदि, भूमिका का निर्धारण पहले से ही कर देते हैं। गॉफमैन (Goffman) एवं मीड (Mead) जैसे विद्वानों ने इस प्रकार के विचार प्रकट किए हैं।

9. प्रस्थिति की भाँति भूमिकाएँ मनुष्य में आरोपित (प्रदत्त या अर्जित) हो सकती हैं। आरोपित भूमिकाएँ वे भूमिकाएँ हैं जो समाज के सदस्यों को कुछ विशेष लक्षणों; जैसे-लिंग, आयु, पारिवारिक पृष्ठभूमि आदि के आधार पर प्राप्त होती है। दूसरी ओर, अर्जित भूमिकाएँ व्यक्ति अपनी प्रदर्शित की जाने वाली योग्यता या उपलब्धि के आधार पर प्राप्त करता है।

   भूमिका में निम्नलिखित दो प्रमुख तत्व होते हैं-

1. प्रत्याशाएँ- प्रत्येक प्रस्थिति का धारक इस बात को जानता है कि उससे किस आचरण की आशा अन्य सम्बन्धित प्रस्थितियों के धारक कर रहे हैं। विद्यार्थी यह जानता है कि उसके शिक्षक उससे किस आचरण की आशा करते हैं। साथ ही, उसे यह भी ज्ञात है कि शिक्षक को मालूम है कि उसके विद्यार्थी उससे किस प्रकार के आचरण की आशा करते हैं। ये पारस्परिक प्रत्याशाएँ है जो सामाजिक भूमिका का मानसिक पृष्ठभूमि तैयार करती हैं।

2. बाह्य व्यवहार- केवल मानसिक स्थिति ही भूमिका के लिए पर्याप्त नही होती अपितु ज्ञानात्मक जागरुकता तथा अपने दायित्वों व कर्त्तव्यों को व्यवहार में अनुमोदित करना पड़ता है इसीलिए सामाजिक भूमिका का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व आचरण की प्रत्याशा को बाह्य व्यवहार में रखा जाना है।

प्रस्थिति की भाँति भूमिकाएँ भी अनेक प्रकार की होती है। रॉल्फ लिण्टन (Ralph Linton) ने प्रदत्त (Ascribed) एवं अर्जित (Achieved) भूमिकाओं का उल्लेख किया है। जो भूमिकाएँ व्यक्ति को समाज का स्वाभाविक सदस्य होने के नाते निभानी पड़ती हैं उन्हें प्रदत्त भूमिका कहा जाता है, जैसे पिता या भाई की भूमिका। इसके विपरीत, जो भूमिकाएँ हम अपनी योग्यता एवं परिश्रम से प्राप्त प्रस्थिति के अनुकूल निभाते हैं उन्हें अर्जित भूमिका कहा जाता है, जैसे एक डॉक्टर, वकील या प्रोफेसर की भूमिका।

एस. एफ. नैडल (S. F. Nadel) ने भूमिकाओं को दो श्रेणियों में विभाजित किया है-सम्बन्धात्मक भूमिका (Relational role) तथा गैर-सम्बन्धात्मक भूमिका (Non-relational role)। सम्बन्धात्मक भूमिका एक प्रकार से

पूरक भूमिका (Complementary role) है। उदाहरणार्थ- कोई व्यक्ति पति की भूमिका तभी निभा सकता है जबकि उसकी पत्नी हो। इसके विपरीत, गैरसम्बन्धात्मक भूमिका के निष्पादन में किसी प्रकार की पूरक भूमिका की आवश्यकता नहीं होती है। किसी व्यक्ति द्वारा एक कवि की भूमिका का निष्पादन गैर-सम्बन्धात्मक भूमिका है क्योंकि यह भूमिका किसी अन्य भूमिका के सन्दर्भ में नहीं निभाई जाती है।

NOTES

मिशेल बैण्टन (Michael Banton) ने तीन प्रकार की भूमिकाओं का उल्लेख किया है-बुनियादी भूमिका (Basic role), सामान्य भूमिका (General role) तथा स्वतन्त्र भूमिका (Independent role)। जनजातीय समाजों में एक भूमिका को दूसरी भूमिका से अलग करना कठिन होता है। ऐसी भूमिका बुनियादी भूमिका कहलाती है। सामान्य भूमिका का अभिप्राय एक ही भूमिका को एक-साथ कई लोगों द्वारा निष्पादित करना है। आधुनिक समाजों में स्वतन्त्र भूमिकाओं का अत्यधिक महत्व होता है। इस प्रकार की भूमिकाएँ अन्य भूमिकाओं से स्वतन्त्र होती हैं।

यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि यद्यपि प्रस्थिति व भूमिका परस्पर सम्बन्धित हैं, तथापि दोनों के मध्य अन्तर पाया जाता है। दोनों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व है। समाज में प्रस्थितियाँ समान होने पर भी भूमिका निभाने के तरीके भिन्न-भिन्न होते हैं। प्रस्थिति एवं भूमिका के अर्थ से स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्थिति एक पद है, जबकि भूमिका उस पद के अनुरूप किया जाने वाला कार्य है। प्रस्थितियाँ सांस्कृतिक होती हैं, जबकि भूमिकाएँ व्यवहारात्मक। भूमिका व प्रस्थिति अनिवार्य रूप से अन्योन्याश्रित नहीं होतीं। भूमिका के बिना प्रस्थिति हो सकती है, जबकि प्रस्थिति के अभाव में भूमिका नहीं हो सकती है। उदाहरण के लिए, एक उच्च अधिकारी सफेदपोश अपराधी हो सकता है। उसकी अपराधी भूमिका उसकी प्रस्थिति के अनुरूप नहीं है। साथ ही, प्रस्थिति को प्राप्त किए बिना ही भूमिका अदा की जा सकती है। प्रस्थिति को अनेक आधारों पर निर्धारित किया जा सकता है। भूमिका केवल परम्परागत पद या सामाजिक मूल्य के आधार पर ही निर्धारित होती है। प्रस्थितियों की प्राप्ति तो व्यक्ति को जन्म से ही हो जाती है। कभी-कभी यह उसके स्वयं के प्रयासों से भी प्राप्त होती है। उदाहरणार्थ, मान-सम्मान, प्रतिष्ठा की दृष्टि से उच्च पदों पर नियुक्ति आदि भूमिकाएँ कार्य अथवा व्यवहार होते हैं, जिन्हें व्यक्ति करता है। प्रस्थितियों द्वारा सामाजिक संरचना निर्मित होती है, जबकि भूमिकाओं द्वारा सामाजिक संरचना निर्मित नहीं होती है।

बोध प्रश्न

1. भूमिका की प्रमुख विशेषताएँ बताइये?

....

....

....

2. भूमिका के दो तत्व प्रत्याशा तथा बाह्य व्यवहार का विश्लेषण करिये?

....

....

....

....

3.3 सम्बन्ध की अवधारणा

सम्बन्ध एक अवधारणा है जो मौखिक अथवा लिखित वार्तालापों में प्रकट होता है जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्ति लघुकालीन, दीर्घकालीन, स्थायी अथवा अस्थायी सामान्य अभिरुचियों एवं भावनाओं के साथ अन्त:क्रिया करते हैं। सामाजिक एवं सांवेगिक होने के नाते मनुष्य दूसरों के साथ सम्बन्धों, उनकी वृद्धि एवं विकास को प्रभावित करते हैं। इसके साथ-ही-साथ उसका सम्पूर्ण समायोजन भी इसकी परिधि क्षेत्र में आ जाता है। 'सामाजिक' शब्द से अभिप्राय उन व्यक्तियों से है जो समूह में रहते हैं तथा अपने समूह के प्रति सचेत होते हैं। अरस्तू (Aristotle) ने मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी माना है। गिडिंग्स (Giddings) ने इसे समानता की चेतना कहकर सम्बोधित किया है।

अनेक विद्वानों ने समाजशास्त्र तथा समाज कार्य में सामाजिक सम्बन्ध की अवधारणा को प्रमुख माना है। सामाजिक सम्बन्धों से हमारा अभिप्राय दो अथवा दो से अधिक ऐसे व्यक्तियों के सम्बन्धों से है जिन्हें एक-दूसरे का आभास है तथा जो एक-दूसरे के लिए कुछ-न-कुछ कार्य कर रहे हैं। एक-दूसरे के प्रति आभास होना सामाजिक सम्बन्ध का मानसिक पक्ष कहा जाता है। सामाजिक सम्बन्ध कभी भी इस जागरूकता के अभाव में नहीं हो सकता। यह जरूरी नहीं है कि सम्बन्ध मधुर तथा सहयोगात्मक ही हों, ये संघर्षात्मक या तनावपूर्ण भी हो सकते है। समाज कार्य इन दोनों तरह के सम्बन्धों का अध्ययन करते है।

सामाजिक सम्बन्ध उस परिस्थिति में पाए जाते हैं जिसमें कि दो या अधिक व्यक्ति, अथवा दो या अधिक समूह परस्पर अन्तर्क्रिया में भाग लें। सामाजिक सम्बन्ध तीन प्रकार के हो सकते हैं-प्रथम, व्यक्ति तथा व्यक्ति के बीच, द्वितीय, व्यक्ति तथा समूह के बीच तथा तृतीय, एक समूह और दूसरे समूह के बीच। पति-पत्नी, भाई-बहन, पिता-पुत्र के सम्बन्ध पहली श्रेणी के उदाहरण हैं। छात्रों का अध्यापक के साथ सम्बन्ध दूसरी श्रेणी का उदाहरण है। एक टीम का दूसरी टीम अथवा एक राजनीतिक दल का दूसरे राजनीतिक दल से सम्बन्ध तीसरी श्रेणी का उदाहरण है। बीस्टेक (Biestek) ने सम्बन्ध के इन तत्वों का उल्लेख किया है-भावनाओं का उद्देश्योंपूर्ण प्रगटन, नियन्त्रित सांवेगिक भागीकरण, स्वीकृति, वैयक्तीकरण, अनिर्णायक मनोवृत्ति, आत्म निश्चयीकरण तथा गोपनीयता।

समाज कार्य सहित सामाजिक विज्ञानों में मनुष्य-मनुष्य, मनुष्य-समूह तथा समूह-समूह में पाए जाने वाले सम्बन्धों को समझने का प्रयास किया जाता है चाहे वे प्रत्यक्ष हों या अप्रत्यक्ष, संगठित हों या असंगठित, जागरूक हो या अजागरूक, सहयोगी हों या द्वेषपूर्ण। प्रमुख जर्मन समाजशास्त्री मैक्स वेबर (Max Weber) ने सामाजिक सम्बन्ध को इन शब्दों में परिभाषित किया है, "सामाजिक सम्बन्ध शब्द का प्रयोग अनेक कर्ताओं के उस व्यवहार के लिए किया जाएगा जहाँ तक कि वे अर्थपूर्ण है, प्रत्येक की क्रिया एक-दूसरे का ध्यान रखते हुए की जाती है तथा उन्हीं अर्थों में सन्दर्भित है।"

इस परिभाषा में वेबर ने सामाजिक सम्बन्ध को अनेक कर्ताओं का व्यवहार बताया है जो अर्थपूर्ण अन्तर्वस्तु रखता है तथा जिसमें प्रत्येक क्रिया अन्य व्यक्तियों को ध्यान में रखते हुए की जाती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि सामाजिक सम्बन्ध एक से अधिक कर्ताओं की वे अर्थपूर्ण क्रियाएँ हैं जो वे अन्त:क्रियारत् सन्दर्भ में करते हैं। वेबर के मतानुसार सामाजिक सम्बन्ध के लिए यह आवश्यक है कि कम-से-कम न्यूनतम स्तर पर प्रत्येक व्यक्ति की क्रिया दूसरों की क्रियाओं के पारस्परिक सन्दर्भ में हो। सामाजिक सम्बन्ध की प्रकृति अस्थायी अथवा स्थायी हो सकती है। यह भी महत्वपूर्ण है कि सामाजिक सम्बन्ध का प्रतीतिक अर्थ परिवर्तित भी हो सकता है।

मैकाइवर एवं पेज (MacIver and Page) ने सामाजिक सम्बन्धों को मानव व्यवहार का प्रमुख आधार माना है। इन्हीं से समाज का निर्माण होता है। मनुष्य जो कुछ भी करता है वह उसे अन्य मनुष्यों से सम्बन्धित करता है जिससे सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण होता है। इनके मतानुसार जब तक सामाजिक जागरूकता नहीं होती तब तक सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण नहीं हो सकता। सामाजिक सम्बन्ध केवल वहीं उत्पन्न होते है जहाँ सामाजिक प्राणी एक-दूसरे के प्रति समाज द्वारा स्वीकृत तरीकों से व्यवहार करें। मैकाइवर एवं पेज की यह व्याख्या मैक्स वेबर की व्याख्या से काफी मिलती-जुलती है।

मैकाइवर एवं पेज ने सामाजिक सम्बन्धों के क्षेत्र को अत्यन्त विस्तृत बताया है। सामाजिक सम्बन्ध उतने ही भिन्न होत है जितना कि समाज जटिल है। मतदाता का प्रत्याशी से, माता-पिता का बालक से, नौकर का मालिक से, मित्र का मित्र से सामाजिक सम्बन्ध के कुछ उदाहरण हैं। आर्थिक, राजनीतिक, वैयक्तिक, अवैयक्तिक, मित्रतापूर्ण, शत्रुतापूर्ण आदि सब सामाजिक सम्बन्धों के ही स्वरूप हैं। समाज का अस्तित्व सामाजिक सम्बन्धों पर ही निर्भर करता है।

समाज कार्य में मुख्यत: निम्नांकित सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है-

1. परिवार के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्ध एवं इनमें होने वाला परिवर्तन,
2. विघटनात्मक तत्वों (यथा पारिवारिक तनाव, विवाह-विच्छेद, भग्न परिवार, बाल अपराध इत्यादि) एवं सम्बन्धों का अध्ययन,
3. सांस्कृतिक जीवन एवं विभिन्न सांस्कृतिक समूहों के सम्बन्धों का अध्ययन,
4. सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन, तथा

5. विशिष्ट प्रकार के सम्बन्धों का अध्ययन।

व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों तथा उनकी पारस्परिक निर्भरता को समाज कहा जाता है। व्यक्तियों में सामाजिक सम्बन्धों का विकास निम्नांकित परिस्थितियों के कारण अनिवार्य एवं अपरिहार्य है-

NOTES

1. एक सामाजिक प्राणी होने के नाते एक व्यक्ति को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है तथा इससे सामाजिक सम्बन्धों का विकास होता है।
2. व्यक्ति अपनी विभिन्न प्रवृत्तियों को पूरा करने के लिए समाज के अन्य सदस्यों से सम्बन्ध जोड़ता है।
3. व्यक्ति पारिवारिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक व वैधानिक सम्बन्धों के द्वारा समाज के अन्य सदस्यों के साथ जुड़ा होता है।
4. प्रत्येक व्यक्ति की समाज में अपनी एक प्रस्थिति होती है और उसी के अनुरूप वह भूमिका निभाता है। विभिन्न परिस्थितियों के लोग श्रम-विभाजन द्वारा समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रयास करते हैं।

3.4 आवश्यकताओं की अवधारणा

सामान्य रूप से 'इच्छा' तथा 'आवश्यकता' को समान अर्थों में प्रयोग किया जाता है, परन्तु सैद्धान्तिक रूप में इन दोनों अवधारणाओं में स्पष्ट अन्तर है। व्यक्ति के मन में उत्पन्न होने वाली अनन्त इच्छाओं में से कुछ इच्छाएँ ही आगे चलकर आवश्यकताओं का रूप ग्रहण कर लेती हैं। 'इच्छा' के प्रति जाग्रत होना मनुष्य की एक स्वभावगत विशेषता है। व्यक्ति के मन में असंख्य इच्छाएँ मुक्त रूप से जन्म लेती रहती हैं। समस्त इच्छाएँ व्यक्ति की भावनाओं द्वारा पोषित होती हैं। जो इच्छाएँ भौतिक जगत की यथार्थताओं से समर्थन प्राप्त कर लेती हैं उन्हें ही 'आवश्यकता' के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। वास्तव में, व्यक्ति की वह इच्छा उसकी आवश्यकता बन जाती है जो उसके उपलब्ध भौतिक साधनों के अनुरूप होती है। जिस इच्छा की पूर्ति के लिए व्यक्ति समुचित साधन-सम्पन्न होता है उस इच्छा को व्यक्ति की आवश्यकता मान लिया जाता है। सम्पूर्ण मानव व्यवहार आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु ही प्रेरित होता है। यदि आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती तो व्यक्ति में निराशा, भावात्मक व्यथा एवं कुण्ठा विकसित होती है। कई बार तो वे इनकी पूर्ति हेतु आन्दोलनरत् भी हो जाते हैं।

कार्ल मार्क्स ने मानव को 'आवश्यकताओं के प्राणी' (Creatures of need) माना है जो अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति तथा सीखने की प्रक्रिया में पीड़ा महसूस करते हैं। यह आवश्यकताएँ भौतिक एवं नैतिक अथवा भावात्मक एवं बौद्धिक हो सकती हैं। आवश्यकताओं की पूर्ति की प्रक्रिया में मानव के सम्मुख अनेक अन्य नवीन आवश्यकताएँ विकसित हो जाती हैं। आवश्यकता व्यक्ति की उस इच्छा को कहते हैं, जिसकी पूर्ति के लिए उसके पास पर्याप्त साधन हों और वह उन साधनों को उस इच्छा की पूर्ति हेतु लगाने को तत्पर हो। इस प्रकार, वे इच्छाएँ ही 'आवश्यकता' के रूप में स्वीकृति प्राप्त करती हैं जिनकी पूर्ति के लिए व्यक्ति साधन-सम्पन्न होता है तथा उनकी पूर्ति के लिए स्वयं तैयार भी होता है। स्मिथ एवं पीटरसन (Smith and Peterson) के अनुसार, "आवश्यकता किसी वस्तु को प्राप्त करने की वह इच्छा है, जिसको पूरा करने के लिए मनुष्य में योग्यता हो और जो उसके लिए व्यय करने को तैयार हो।" इस अर्थ में सामर्थ्य (योग्यता) एवं तत्परता आवश्यकता के दो प्रमुख तत्व हैं। एक प्रकार से प्रभावोत्पादक इच्छा को ही आवश्यकता कहते हैं।

अत: यह कहा जा सकता है कि उन समस्त इच्छाओं को हम व्यक्ति की आवश्यकताओं के रूप में स्वीकार कर सकते हैं जिन्हें पूरा करने के लिए व्यक्ति के पास समुचित साधन हैं तथा साथ-साथ वह व्यक्ति उस इच्छा की पूर्ति के लिए समुचित साधन को प्रयोग में लाने के लिए स्वयं तैयार भी हो। आवश्यकता के इस अर्थ को एक उदाहरण के माध्यम से भी स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए, एक व्यक्ति के मन में इच्छा जाग्रत होती है कि उसके पास एक मोटरकार हो। अपने प्रारम्भिक रूप में यह एक इच्छा मात्र ही होगी। यदि व्यक्ति के पास मोटरकार खरीदने तथा उसके रखरखाव के लिए पर्याप्त धन नहीं है तो उसकी इस इच्छा को केवल कोरी या कल्पनाजनित इच्छा ही माना जाएगा। उसे हम कदापि 'आवश्यकता' के रूप में स्वीकृति प्रदान नहीं कर सकते। यदि व्यक्ति के पास पर्याप्त धन है तो उसकी यह इच्छा आवश्यकता का रूप ग्रहण कर सकती है। अब यह देखना होगा कि वह व्यक्ति मोटरकार पर इतना अधिक धन खर्च करने के लिए पूर्ण रूप से तैयार है या नहीं?

यदि व्यक्ति सोचता है कि कार खरीदने एवं पेट्रोल आदि का खर्च अनावश्यक है तो उसकी कार खरीदने की इच्छा को आवश्यकता नहीं माना जाएगा। इसके विपरीत, यदि व्यक्ति पूर्ण रूप से मोटरकार खरीदने के लिए तैयार हो तो उसकी इस इच्छा को उसकी आवश्यकता स्वीकार किया जा सकता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि प्रायः सभी आवश्यकताएँ सापेक्ष होती हैं; अर्थात् व्यक्ति की परिस्थितियों के साथ-साथ आवश्यकताएँ भी परिवर्तित होती रहती हैं। इसी प्रकार किसी एक व्यक्ति की आवश्यकता किसी अन्य व्यक्ति के लिए व्यर्थ अथवा कोरी काल्पनिक इच्छा ही हो सकती है।

NOTES

3.5 मानवीय आवश्यकताओं की विशेषताएँ

व्यक्ति की आवश्यकताएँ उसके व्यक्तित्व के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। मानवीय आवश्यकताओं की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

1. **असीमित प्रकृति-** मनुष्य की आवश्यकताएँ अनन्त तथा असीमित होती है, उनको वह कभी भी पूर्ण नहीं कर सकता। मनुष्य जन्म से लेकर मृत्यु तक आवश्यकताओं से घिरा रहता है। बालक जन्म लेता है तो उसी क्षण से उसको माँ के दूध व वस्त्र की आवश्यकता होती है। जैसे-जैसे बालक बड़ा होता जाता है, उसकी आवश्यकताएँ भी बढ़ती जाती हैं। मनुष्य जब मृत्यु के कगार पर होता है तब भी उसको औषधियों की आवश्यकता होती है।

2. **बार-बार उत्पन्न होने की क्षमता-** प्रत्येक मनुष्य के जीवन में आवश्यकताएँ बार-बार उत्पन्न होती हैं; अर्थात् एक व्यक्ति किसी आवश्यकता की कुछ समय के लिए ही सन्तुष्टि कर सकता है। जैसे- मनुष्य भूख लगने पर भोजन करता है, परन्तु वह जिन्दगी भर के लिए एक साथ भोजन नहीं कर सकता। वह अपनी निश्चित समय के लिए तो भूख मिटा सकता है, परन्तु उसको कुछ घण्टों पश्चात् फिर भूख लगेगी और भूख मिटाने के लिए वह फिर भोजन करेगा। इस प्रकार आवश्यकताएँ बार-बार उत्पन्न होती हैं और मनुष्य उनको पूर्ण करने की बार-बार चेष्टा करता है।

3. **प्रतियोगिता का तत्व-** सभी आवश्यकताओं की प्रकृति समान नहीं होती, उनकी तीव्रता में अन्तर रहता है। सन्तुलित भोजन की आवश्यकता सुन्दर वस्त्र से अधिक है। कार की आवश्यकता बालकों की शिक्षा की आवश्यकता से कम है। सीमित आय के कारण प्रत्येक परिवार को आवश्यकता पूर्ति हेतु प्रबल एवं अधिक अनिवार्य आवश्यकताओं का चुनाव करना होता है अतः सदैव अधिक महत्वपूर्ण आवश्यकताएँ ही चुनी जाती हैं। इस प्रकार की आवश्यकताओं को मौलिक अथवा प्राथमिक आवश्यकता कहा जाता है।

4. **आवश्यकता का अनेक भागों में विभाजित होना-** एक आवश्यकता में अनेक आवश्यकताएँ निहित होती हैं। उदाहरणार्थ-हम एक भवन का निर्माण करते हैं तो भवन का निर्माण पूर्ण होते ही हमारे समक्ष अनेक आवश्यकताएँ आ खड़ी होती हैं। जैसे-भवन की सज्जा के लिए विभिन्न साजसामान की आवश्यकता पड़ती है आदि।

5. **पूरक प्रकृति-** आवश्यकताएँ एक-दूसरे की पूरक होती हैं। एक आवश्यकता की पूर्ति के लिए बहुधा एक या दो अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करना अनिवार्य होता है। उदाहरण के लिए-कार की आवश्यकता के साथ-साथ पेट्रोल की भी आवश्यकता हुआ करती है।

6. **आदत में परिणत होने की क्षमता-** जब आवश्यकताओं को बार-बार सन्तुष्ट किया जाता है तो वे आदत में परिणत हो जाती हैं। मनुष्य उनकी पूर्ति का आदी हो जाता है। ऐसी आदतों की पूर्ति के अभाव में उसे कष्ट होता है। जैसे-प्रारम्भ में बहुत-से व्यक्ति शराब या सिगरेट शौक के लिए पीते हैं, बाद में चलकर यही शौक उनकी आदत में बदल जाता है।

7. **ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ आवश्यकताओं का बढ़ना-** प्राचीनकाल में जब मनुष्य आदिम अवस्था में था तो उसकी आवश्यकताएँ बहुत सीमित थीं; किन्तु जैसे-जैसे उसके ज्ञान एवं साधनों का विकास होता गया वैसे-वैसे उसकी आवश्यकताएँ भी बढ़ती गईं। आज विज्ञान के युग में जैसे-जैसे व्यक्ति को विभिन्न साधनों एवं सेवाओं की जानकारी प्राप्त होती है, वैसे-वैसे व्यक्ति की आवश्यकताओं में भी वृद्धि होती जाती है।

8. **प्रेरक क्षमता-** प्राणी के विभिन्न व्यवहारों के कारणों को समझने के लिए उसकी विभिन्न आवश्यकताओं को समझना आवश्यक है, क्योंकि आवश्यकताएँ ही उसे किसी विशिष्ट दिशा में गतिशील होने के लिए प्रेरणा

देती है। प्राणियों की आवश्यकताओं में जातीय और वैयक्तिक रुचि का भेद पाया जाता है। उदाहरणार्थ-मनुष्य जाति की आवश्यकता शेर जाति की आवश्यकता से भिन्न होगी और एक व्यक्ति की आवश्यकता दूसरे व्यक्ति की आवश्यकता से भिन्न होगी। वस्तुत: इस भिन्नता के कारण ही जगत का व्यापार इस प्रकार चल रहा है, अन्यथा उसमें या तो शैथिल्य ही आ जाता या उथल-पुथल मच जाती।

NOTES

9. समय का महत्व- मानवीय आवश्यकताएँ अनेक प्रकार की होती हैं। कुछ का सम्बन्ध मुख्य रूप से वर्तमान से ही होता है, जबकि कुछ आवश्यकताएँ भविष्य से सम्बन्धित होती हैं। इन दोनों प्रकार की आवश्यकताओं में से वर्तमान सम्बन्धी आवश्यकताएँ अधिक प्रबल होती हैं। अनेक व्यक्ति भविष्य सम्बन्धी आवश्यकताओं की अवहेलना कर देते हैं, भले ही वे आवश्यकताएँ अधिक महत्वपूर्ण ही क्यों न हों।

बोध प्रश्न

1. समाज कार्य में मुख्यत: किन संबंधों का अध्ययन किया जाता है?

....

....

....

2. मानवीय आवश्यकताओं की विशेषताएँ लिखिये?

....

....

....

3.6 मानवीय आवश्यकताओं का वर्गीकरण

मानव सहित सभी प्राणियों में साँस लेने (हवा), पानी पीने (जल), भोजन करने, मल-मूत्र त्यागने, अपने शरीर के तापक्रम में स्थायित्व बनाए रखने, कामेच्छा की पूर्ति, आत्मरक्षा तथा रहने (घर) जैसी समान आवश्यकताएँ पाई जाती है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के अभाव में प्राणी का जीना कठिन हो जाएगा। इन जन्मजात आवश्यकताओं को प्राथमिक आवश्यकताएँ कहते हैं। इसके अतिरिक्त, कुछ अन्य ऐसी अर्जित आवश्यकताएँ भी होती हैं जो प्राणी के जीवन को सुगम बना देती हैं परन्तु इनके अभाव में भी उसका जीवन सम्भव होता है। इन आवश्यकताओं को गौण आवश्यकताएँ कहते हैं। दूसरों से प्रेम या प्रशंसा पाने, अच्छी शिक्षा संस्था में पढ़ने, ऊँची नौकरी प्राप्त करने, आलीशान मकान बनाने, स्कूटर या गाड़ी खरीदने जैसी आवश्यकताएँ गौण आवश्यकताएँ हैं जिनके अभाव में व्यक्ति का जीवन तो सम्भव है, परन्तु साधन न होने पर इनकी आपूर्ति से जीवन इतना सुगम नहीं हो सकता।

आवश्यकताओं के प्राथमिक तथा गौण वर्गीकरण से यह समझना भूल होगी कि प्राथमिक आवश्यकताएँ अधिक प्रबल होती है और गौण आवश्यकताएँ अपेक्षाकृत निर्बल हैं। उदाहरणार्थ, किसी व्यक्ति में दूसरों से प्रशंसा प्राप्त करने की इच्छा इतनी प्रबल हो सकती है कि उसकी धुन में वह अपना स्वास्थ्य खोकर मरने के सन्निकट आ सकता है। ऐसी स्थिति में गौण आवश्यकताओं का प्राधान्य हो जाता है और प्राथमिक आवश्यकताएँ अवरोधित हो जाती है। एक अर्थ में, गौण आवश्यकता प्राथमिक आवश्यकता से अधिक महत्वपूर्ण बन सकती है। उदाहरणार्थ, व्यक्ति अपनी मानहानि अथवा धन का हरण होने पर आत्महत्या करते देखे जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों को मान अथवा धन के बिना जीना व्यर्थ लगता है और वे आत्महत्या तक कर बैठते हैं।

मनुष्य वैसे तो अपने निजी प्रयत्नों के द्वारा ही अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करता है किन्तु उसके इस कार्य में समाज एवं राज्य भी पर्याप्त सहायता देते हैं। दोनों संस्थाओं के द्वारा ही उसे वे महत्वपूर्ण साधन प्रदान किए जाते हैं, जिनके द्वारा वह अपनी विभिन्न आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करता है। उदाहरणार्थ, समाज तथा राज्य अनेक औद्योगिक एवं व्यावसायिक संस्थानों की स्थापना करते हैं, जिनमें कार्य करके व्यक्ति अपनी अनेक दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धनोपार्जन करता है। इसी प्रकार से वह अपनी सामाजिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए पारस्परिक सम्बन्धों की स्थापना करता है और समाज के विभिन्न वर्गों की

सहायता से ही उसकी शिक्षा, आवास, मनोरंजन तथा अन्य अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। इस प्रकार से हम देखते हैं कि व्यक्तिगत रूप में मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में समाज एवं राज्य पर अवलम्बित होता है।

मनुष्य के जीवन का मुख्य उद्देश्य अपनी आवश्यकताओं की समुचित पूर्ति करना होता है। यदि समुचित प्रयास करने के उपरान्त भी किसी व्यक्ति की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती तो व्यक्ति के जीवन एवं व्यक्तित्व पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। इस स्थिति में कभी-कभी व्यक्ति अपनी अभावग्रस्त दशा के लिए समाज को जिम्मेदार मान बैठता है। इस धारणा के प्रबल हो जाने पर कुछ व्यक्ति समाज-विरोधी बन जाते हैं। उदाहरण के लिए-यदि व्यक्ति पर्याप्त परिश्रम करके भी अपना तथा अपने परिवार का पालन-पोषण नहीं कर पाता तो इस स्थिति में इस बात की सम्भावना रहती है कि वह व्यक्ति समाज-विरोधी बन जाए तथा चोरी, डकैती आदि गतिविधियों में लिप्त हो जाए।

यदि परिवार के सन्दर्भ में प्रमुख आवश्यकताओं की चर्चा की जाए तो कहा जा सकता है कि परिवार की प्रमुख आवश्यकताएँ हैं-पर्याप्त तथा सन्तुलित भोजन, समुचित वस्त्र, समुचित आवास-व्यवस्था, बच्चों के लिए शिक्षा की व्यवस्था, स्वास्थ्य-रक्षा तथा चिकित्सा सुविधा, मनोरंजन की आवश्यकता, बच्चों की देखभाल, परिवार के सदस्यों में प्रेम, स्नेह तथा सहयोगपूर्ण सम्बन्धों की आवश्यकता तथा पारिवारिक आय एवं बचत की आवश्यकता। इन सभी आवश्यकताओं की समुचित पूर्ति के लिए व्यक्ति एवं परिवार संयुक्त रूप से प्रयास करते हैं। कुछ आवश्यकताएँ धन आदि भौतिक साधनों द्वारा पूरी होती हैं। इसके लिए व्यक्ति एवं परिवार को आर्थिक प्रयास करने पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ आवश्यकताएँ शारीरिक, मानसिक एवं भावात्मक प्रयासों द्वारा पूरी की जाती हैं। व्यक्ति की अधिकांश आवश्यकताओं की पूर्ति का केन्द्र परिवार ही होता है।

पैन्सन ने आवश्यकताओं का अग्रांकित वर्गीकरण प्रस्तुत किया है-

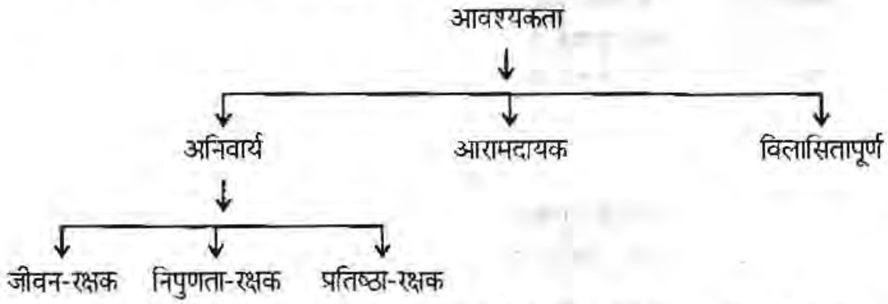

अनिवार्य (आवश्यक) आवश्यकताएँ मनुष्य की वे मौलिक आवश्यकताएँ हैं जिनके अभाव में उसका जीवन सम्भव नहीं है। इनमें भोजन, वस्त्र एवं आवास प्रमुख हैं। इनके अभाव में व्यक्ति की कार्यक्षमता ही प्रभावित नहीं होती अपितु उसे सामाजिक प्रतिष्ठा भी प्राप्त नहीं होती है। इन अनिवार्य आवश्यकताओं को तीन उप-श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है-जीवन-रक्षक आवश्यकताएँ (जीवन की रक्षा सम्बन्धी आवश्यकताएँ; जैसे-भोजन, वस्त्र एवं आवास), निपुणता-रक्षक आवश्यकताएँ (कार्यकुशलता को बनाए रखने सम्बन्धी आवश्यकताएँ; जैसे-पौष्टिक आहार, मौसमानुसार वस्त्र, हवादार मकान, शिक्षा, चिकित्सा इत्यादि) तथा प्रतिष्ठा-रक्षक आवश्यकताएँ (प्रतिष्ठा बनाए रखने सम्बन्धी आवश्यकताएँ; जैसे-अतिथि सत्कार, विवाह, जन्म या मृत्यु के समय मान्य परम्पराओं का अनुकरण इत्यादि)।

आरामदायक आवश्यकताएँ मानव के जीवन को सुगम बनाती हैं तथा उसे प्रसन्नता एवं सन्तुष्टि प्रदान करती हैं। अच्छा घर, घर में अच्छा फर्नीचर, पंखे, टी.वी., फ्रिज, गैस का चूल्हा, कुकर इत्यादि आरामदायक आवश्यकताओं के प्रमुख उदाहरण हैं। इनके अभाव में मानव जीवन सम्भव तो है परन्तु आरामदायक नहीं।

विलासितापूर्ण आवश्यकताएँ वे हैं जिनसे व्यक्ति प्रतिष्ठा का अनुभव तो करता है परन्तु उसकी कार्यकुशलता में इनसे कोई वृद्धि नहीं होती है। ऐली जैसे विद्वानों ने बेकार की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि को ही विलासिता कहा है। आलीशान मकान, कीमती फर्नीचर, हीरे-जवाहरात, नौकर-चाकर, विदेशी या बड़ी गाड़ी, विवाह के समय शराब एवं खाने इत्यादि पर फिजूलखर्ची विलासिता से सम्बन्धित हैं। विलासितापूर्ण आवश्यकताएँ हानिकारक भी हो सकती हैं तथा हानिरहित भी। शराब, चरस इत्यादि का सेवन हानिकारक हो सकता है, जबकि बहुमूल्य गहने या अत्यधिक अचल सम्पत्ति किसी संकटकाल में सुरक्षा का साधन हो सकते हैं।

अनेक समाजशास्त्रियों ने भी आवश्यकताओं का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। इन विद्वानों में डब्ल्यू. आई. थॉमस का नाम प्रमुख है। उन्होंने निम्नलिखित चार आवश्यकताएँ बताई हैं-

1. स्नेह एवं सामाजिक सुरक्षा की आवश्यकता- यह आवश्यकता बचपन से ही अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है क्योंकि बच्चा न केवल परिवार के सदस्यों से प्यार चाहता है अपितु पूर्ण सुरक्षा भी उसके विकास को सुगम बनाती है। यह केवल बच्चे की आवश्यकता ही नहीं है अपितु सभी बुजुर्ग, युवा, स्त्री एवं पुरुष को स्नेह एवं सुरक्षा की आवश्यकता होती है तथा इनकी पूर्ति से उन्हें सन्तुष्टि प्राप्त होती है।

2. प्रशंसा की आवश्यकता- प्रशंसा व्यक्ति के अहम् की सन्तुष्टि से सम्बन्धित है। यह एक ऐसी मानसिक भावना है जिसकी सन्तुष्टि हेतु व्यक्ति अपने परिवार, साथियों, समुदाय एवं समाज के सदस्यों से आशा करता है।

3. समस्या के समाधान की आवश्यकता- किसी भी प्रकार की समस्या उत्पन्न होने पर उसका समाधान होना आवश्यक है। बच्चे के सम्मुख अगर कोई समस्या विकसित होती है तो वह परिवार से इसके समाधान की आशा करता है। परिवार में उत्पन्न समस्या के समाधान की आशा समुदाय एवं समाज से की जाती है। यदि समस्याओं का समाधान सुगमतापूर्वक हो जाता है तो व्यक्ति संघर्षमय जीवन से बच जाता है।

4. नवीन अनुभव की आवश्यकता- तेजी से परिवर्तित हो रहे आधुनिक युग में रोज नए-नए आविष्कार एवं वस्तुएँ सामने आ रही है। व्यक्ति इनसे समायोजन हेतु नवीन अनुभव की आवश्यकता महसूस करता है। इसी से परिवर्तित वातावरण के साथ उसका समायोजन सम्भव हो पाता है। उपर्युक्त आवश्यकताएँ व्यक्तित्व के विकास से सम्बन्धित सामाजिक एवं संवेगात्मक आवश्यकताएँ ही हैं। इनमें मनुष्य के जीवन की रक्षा हेतु आर्थिक आवश्यकताओं को अनदेखा किया जाता है, इसलिए अनेक समाज- वैज्ञानिकों ने आवश्यकताओं को निम्नलिखित तीन श्रेणियों में विभाजित किया है-

1.भौतिक आवश्यकताएँ- भौतिक आवश्यकताएँ तीन प्रकार की होती हैं-शारीरिक आवश्यकताएँ, जिनकी पूर्ति से शरीर की वृद्धि, विकास एवं सुरक्षा सम्भव हो पाती है (जैसे-भोजन, वायु, वस्त्र, आवास इत्यादि); आरामदायक आवश्यकताएँ, जो व्यक्ति के जीवन को सुखदायक बनाती हैं (जैसे- आलीशान बंगला, वाहन, टी.वी., फ्रिज, गैस का चूल्हा इत्यादि) तथा यौन सम्बन्धी आवश्यकताएँ, जो शरीर की प्रमुख आवश्यकता है तथा जिनकी अतृप्ति व्यक्तित्व के विकास को बाधित कर सकती है।

2. सामाजिक आवश्यकताएँ- सामाजिक प्राणी होने के नाते व्यक्ति की जो आवश्यकताएँ हैं उन्हें सामाजिक आवश्यकताएँ कहा जाता है। प्रेम, वात्सल्य, प्रशंसा, प्रतिष्ठा इत्यादि इस प्रकार की आवश्यकताएँ हैं।

3. आत्मनिर्भरता सम्बन्धी आवश्यकताएँ- इन आवश्यकताओं का सम्बन्ध बच्चे को आत्मनिर्भर बनाने से है। युवा पीढ़ी में यह एक प्रबल आवश्यकता है जिसकी आपूर्ति उनमें भग्नाशा उत्पन्न कर सकती है।

यह एक व्यावहारिक दृष्टि से सत्यापित तथ्य है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में असंख्य आवश्यकताएँ अनुभव करता है तथा उनकी पूर्ति के लिए तरह-तरह के प्रयास भी करता है। यदि व्यक्ति की कोई आवश्यकता ही प्रबल न हो तो व्यक्ति की क्रियाशीलता भी घट जाती है। मासलो (Maslow) ने आवश्यकताओं को यथार्थ आवश्यकताओं, सम्मान-सम्बन्धी आवश्यकताओं, प्रेम एवं सम्बन्ध रखने सम्बन्धी आवश्यकताओं, सुरक्षा-सम्बन्धी आवश्यकताओं तथा मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं में विभाजित किया है। यथार्थ आवश्यकताओं का स्तर एक असाधारण स्तर है जिसमें व्यक्ति लक्ष्य प्राप्ति, व्यक्तिगत वृद्धि एवं अपनी क्षमताओं को प्राप्त करने का प्रयास करता है। यह वह बिन्दु है जिस पर व्यक्ति पूर्ण रूप से प्रकार्यात्मक बनने का प्रयास करता है। सम्मान-सम्बन्धी आवश्यकताएँ व्यक्ति के अहम् से सम्बन्धित होती हैं, प्रेम एवं सम्बन्ध स्थापित करने सम्बन्धी आवश्यकताओं की प्रकृति सामाजिक होती है। परिवार का निर्माण इसी आवश्यकता की पूर्ति हेतु किया जाता है। खतरों से बचाव एवं सुरक्षित क्षेत्र में रहने की आवश्यकता बच्चों में अधिक होती है। मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ शरीर से सम्बन्धित होती है जिनकी पूर्ति न होने पर व्यक्ति की मृत्यु भी हो सकती है। मासलो ने आवश्यकताओं में पाए जाने वाले संस्तरण को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया है-

1. अपनी यथार्थ आवश्यकताएँ (Self Actualization Needs)
   (पूर्ण अन्त:शक्ति)

2. सम्मान-सम्बन्धी आवश्यकताएँ (Esteem Needs)
   (आत्म-सम्मान, व्यक्तिगत योग्यता, स्वायत्तता)

3. प्रेम एवं सम्बन्ध रखने सम्बन्धी आवश्यकताएँ (Love and Belongingness Needs)
   (प्रेम, मित्रता, साहचर्य)

4. सुरक्षा-सम्बन्धी आवश्यकताएँ (Safety Needs)
   (सुरक्षा, हानि से बचाव)

5. मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ (Psychological Needs)
   (भोजन, निद्रा, उत्प्रेरणा, क्रिया)

3.6.1 आवश्यकताओं की उत्पत्ति के नियम

मानव की आवश्यकताओं की उत्पत्ति से सम्बन्धित प्रमुख नियमों का वर्णन निम्न प्रकार किया जा सकता है-

1. शारीरिक रचना- शारीरिक रचना के आधार पर आवश्यकताओं का अनुभव होता है। मनुष्य और जानवरों की आवश्यकताओ मे अन्तर होता है। मनुष्यों में आपस में यदि शारीरिक भिन्नता है तो उनकी आवश्यकताओं में अन्तर होगा। जैसे-एक अन्धे आदमी को चश्मे की आवश्यकता नहीं होती, जबकि स्वस्थ आदमी को चश्मे की आवश्यकता हो सकती है। इसी प्रकार लँगड़े आदमी को बैसाखियों की आवश्यकता होती है, स्वस्थ को नहीं। अत: स्पष्ट है कि शारीरिक आवश्यकताओं के निर्धारण में शारीरिक रचना भी एक महत्वपूर्ण कारक होता है।

2. आर्थिक स्थिति- व्यक्ति की आवश्यकताओं की उत्पत्ति के पीछे व्यक्ति की आर्थिक स्थिति का भी विशेष हाथ होता है। यदि व्यक्ति की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं होती तो उस दशा में व्यक्ति की आवश्यकताएँ सीमित ही रहती है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति अपनी मूलभूत या प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति ही कठिनाई से कर पाता है। इसके विपरीत यदि व्यक्ति की आर्थिक स्थिति अच्छी होती है तथा उसके पास अतिरिक्त धन आ जाता है तो निश्चित रूप से व्यक्ति की आवश्यकताओं में वृद्धि हो जाती है; अर्थात् नित्य नई आवश्यकताएँ उत्पन्न होने लगती है।

3. आदतें- बहुत-सी आवश्यकताएँ आदत पर निर्भर करती है। एक सिगरेट पीने की आदत वाले व्यक्ति को सिगरेट की आवश्यकता होती है। इसके विपरीत, जिस व्यक्ति को सिगरेट पीने की आदत नहीं होती, उसे सिगरेट की कोई आवश्यकता नहीं होती है। आदत का आवश्यकताओं पर बहुत प्रभाव पड़ता है। आवश्यकता पड़ने पर ही व्यक्ति चोरी करता है और वह आदत में बदल जाती है। अत: आवश्यकता और आदत में गहरा सम्बन्ध है।

4. संस्कृति- बहुत-सी आवश्यकताएँ संस्कृति पर निर्भर करती है। जिस समाज में जिस प्रकार के नियम व रीति-रिवाज होते है, उन्हीं के आधार पर मनुष्यों की आवश्यकताएँ निर्धारित होती हैं। खान-पान, रहन-सहन के आधार पर आवश्यकताओं का अनुभव होता है। जैसी समाज की संस्कृति होती है, उसी के अनुसार सम्बन्धित व्यक्तियों को चलना पड़ता है। यदि व्यक्ति समाज के नियमों के विपरीत चलेगा तो उसका अपमान होगा। अत: आवश्यकताएँ संस्कृति से सम्बन्धित होती हैं।

5. वातावरण- वातावरण का भी मनुष्य की आवश्यकताओं पर गहरा प्रभाव पड़ता है। मनुष्य जैसे वातावरण में रहता है, उसको वैसी ही आवश्यकता महसूस होती है। उदाहरणार्थ-एक रजाई जाड़ों के दिनों में तन ढकने के काम आती है, परन्तु वही रजाई गरमियों में बेकार है। अत: वातावरण का भी आवश्यकताओं पर प्रभाव पड़ता है।

6. जीवन के प्रति दृष्टिकोण- मनुष्य की आवश्यकताओं पर व्यक्ति के जीवनदर्शन का भी प्रभाव पड़ता है। एक भौतिकवादी दृष्टिकोण वाले व्यक्ति की आवश्यकताएँ, अध्यात्मवादी दृष्टिकोण वाले व्यक्ति की आवश्यकताओं से पर्याप्त भिन्न होती हैं।

7. प्रचलन एवं रीति-रिवाज- सामाजिक प्रचलनों एवं रीति-रिवाजों से भी मानवीय आवश्यकताओं का निर्धारण होता है। बहुत-से व्यक्ति अनेक ऐसी वस्तुएँ खरीदा करते है जो केवल फैशन के लिए ही होती हैं।

NOTES

8. दिखावा तथा अनुकरण- दिखावे की प्रवृत्ति मनुष्य की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। व्यक्ति बहुत-से कार्य केवल इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप ही करता है। अच्छी तथा कीमती साड़ी खरीदना, दावतों का आयोजन करना आदि कार्य अनेक बार केवल दिखावे के लिए ही किए जाते हैं। इस रूप में दिखावा भी हमारी आवश्यकताओं को प्रभावित करता है। दिखावे के अतिरिक्त अनुकरण भी एक महत्वपूर्ण कारक है जो हमारी आवश्यकताओं को प्रभावित करता है। ऐसा प्राय: देखा या सुना जाता है कि अमुक पड़ोसिन ने रंगीन टी.वी. ले लिया है अत: हम भी लेंगे। अमुक परिवार के बच्चे कॉन्वेण्ट में पढ़ते है इसलिए हमारे बच्चे भी कॉन्वेण्ट में ही पढ़ेंगे। इस प्रकार अनुकरण की भावना से अनेक आवश्यकताएँ निर्धारित होती हैं।

3.6.2 मानव जीवन में आवश्यकताओं का महत्व

व्यक्ति के जीवन में आवश्यकताओं का अत्यधिक महत्व होता है। वास्तव में, व्यक्ति के जीवन के संचालन में उसकी आवश्यकताओं के द्वारा महत्वपूर्ण भूमिका निभाई जाती है। जीवन का सुचारु संचालन वास्तव में व्यक्ति की आवश्यकताओं के ही माध्यम से होता है। व्यक्ति अनवरत रूप से विभिन्न आवश्यकताओं को अनुभव करता है, अनुभव की गई आवश्यकताओं की प्राथमिकता को निर्धारित करता है तथा तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यथासम्भव प्रयास करता है। समुचित प्रयासों द्वारा वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इस प्रक्रिया के माध्यम से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति से व्यक्ति को एक प्रकार के सुख एवं सन्तोष की प्राप्ति होती है। इसके साथ-साथ व्यक्ति कुछ अन्य इच्छाओं को आवश्यकता की श्रेणी में सम्मिलित कर लेता है तथा उनकी पूर्ति के लिए प्रयत्नशील हो जाता है। इस प्रकार व्यक्ति का जीवन अग्रसर होता रहता है। आवश्यकताओं के महत्व को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि "आवश्यकताओं का जन्म जीवन के अस्तित्व व सुख के लिए होता है।"

सामान्य रूप से प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में विभिन्न इच्छाओं एवं सम्बन्धित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यथाशक्ति प्रयास किया करता है। अपने प्रयासों से व्यक्ति द्वारा कुछ या अधिकांश आवश्यकताओं को पूरा कर लिया जाता है तथा कुछ आवश्यकताएँ बिना पूरी हुए ही रह जाती हैं या उन्हें प्राप्त करने का प्रयास छोड़ दिया जाता है। इन परिस्थितियों में जीवन सामान्य रूप से चलता रहता है। इससे भिन्न कुछ व्यक्तियों के जीवन में कुछ परिस्थितियों एवं कारणों के परिणामस्वरूप उनकी अधिकांश इच्छाएँ एवं आवश्यकताएँ पूर्ण नहीं हो पातीं। ऐसे व्यक्तियों के मन में इच्छाएँ भी जाग्रत होती है तथा वे सम्बन्धित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यथाशक्ति प्रयास भी करते हैं, परन्तु निरन्तर प्रयास करने के उपरान्त भी उन्हें अभीष्ट सफलता नहीं प्राप्त होती। इस स्थिति में वे निराश होकर प्रयास करना भी छोड़ देते हैं। निराशा की इस स्थिति को ही भग्नाशा या कुण्ठा कहा जाता है।

बोध प्रश्न

1. अनिवार्य आवश्यकता से आप क्या समझते हैं?

   ....

   ....

   ....

2. आवश्यकता की उत्पत्ति का नियम बताइए?

   ....

   ....

   ....

3.7 सारांश

प्रत्येक व्यक्ति की अपनी सामाजिक प्रस्थिति होती है। प्रस्थिति से अधिकारों का बोध होता है। प्रत्येक पद की अनिवार्य विशिष्ट योग्यताएँ होती है। भूमिका में व्यक्ति का आचरण तथा जागरुकता का अनुमोदन होता है।

संबंध एक ऐसी धारणा है जो मौखिक व लिखित वार्तालाप से प्रकट होती है। व्यक्ति की कई इच्छाएँ आवश्यकता का रूप ले लेती है जिनकी पूर्ति के लिए मानव के पास पर्याप्त साधन हो।

NOTES

3.8 शब्दावली

भूमिका- व्यक्ति से अपनी प्रस्थिति के अनुकूल जिस कार्य की अपेक्षा की जाती है उसे उसकी भूमिका कहते है। भूमिका के अन्तर्गत उन समस्त अभिवृत्तियों, मूल्यों व व्यवहारों को सम्मिलित किया जाता है जो किसी विशेष पद से सम्बन्धित व्यक्ति अथवा व्यक्तियों को समाज द्वारा प्रदत्त होते है।

सामाजिक सम्बन्ध -सामाजिक सम्बन्ध से अभिप्राय दो अथवा दो से अधिक ऐसे व्यक्तियों के सम्बन्धों से है जिन्हें एक-दूसरे का आभास है तथा जो एक-दूसरे के लिए कुछ-न-कुछ कार्य कर रहे हैं।

आवश्यकता - आवश्यकता किसी वस्तु को प्राप्त करने की वह इच्छा है, जिसको पूरा करने के लिए मनुष्य में योग्यता हो और जो उसके लिए व्यय करने को तैयार हो।

3.9 अभ्यास प्रश्न

दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. भूमिका की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।

लघुउत्तरीय प्रश्न

1. आवश्यकता किसे कहते है? आवश्यकताओं के प्रमुख प्रकार बताइए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. आवश्यकताओं की उत्पत्ति के नियम कितने हैं–

   (अ) आठ (ब) दस (स) बारह (द) चोदह

उत्तर 1. (अ)

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

Bierstedt, Robert, The Social Order, New York : McGraw-Hill, 1963.

Canda, E. R., Spirituality in Social Work : New Directions, Binghamton, New York : Haworth Press, 1998.

Canda, E. R. and L. E. Furman, Spiritual Diversity in Social Work Practice : The Heart of Helping, New York : Free Press, 1999.

Canda, E. R. and E. D. Smith (eds.), Transpersonal Perspectives on Spirituality in Social Work, Binghamton, New York : Haworth Press, 2001.

Derezotes, D. S., Spiritually Oriented Social Work Practice, Boston : Pearson Education Inc., 2006.

●●●

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

अध्याय–4 अवधारणा का अर्थ, समाज कल्याण एवं समाज सेवा (MEANING OF CONCEPT, SOCIAL WELFARE & SOCIAL SERVICE)

NOTES

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 अवधारणा का अर्थ
4.3 समाज कल्याण
4.4 सामाजिक नियोजन एवं समाज कल्याण
4.5 भारत में समाज कल्याण
4.6 समाज कल्याण हेतु प्राथमिकताएँ
4.7 भारत में श्रम कल्याण
4.8 समाज कल्याण एवं समाज कार्य में अन्तर
4.9 समाज सेवा
4.10 सारांश
4.11 शब्दावली
4.12 अभ्यास प्रश्न
सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

4.0 उद्देश्य

समाज कार्य से तात्पर्य समस्याओं से ग्रसित व्यक्ति की सहायता करना है। यह सहायता अधिकांशतया संगठित समूहों की सेवाओं द्वारा की जाती है। कई बार ऐसे व्यक्तियों को समूह का सदस्य बना लिया जाता है और समूह की गतिविधियों में भाग लेते हुए उनकी समस्याओं को समाधान करने का प्रयास किया जाता है। समाज कार्य का सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्धों से उत्पन्न कठिनाइयों को दूर करने से है। विस्तृत अर्थ में समाज कार्य एक प्रगतिशील एवं विकसित व्यवसाय माना जाता है जिसका उद्देश्य व्यक्ति या समूह के उन मनो-सामाजिक व्यवधानों को दूर करना है जो उन्हें समाज में अपना कर्तव्य पालन करने से रोकते हैं या उन्हें अकुशल बनाते हैं।

4.1 प्रस्तावना

समाज कार्य अन्य व्यवसायों में सबसे नवीन व्यवसाय है, इसलिए इसके अर्थ, विशेषताओं एवं सीमाओं के विषय में भ्रम होना स्वाभाविक है। साधारण व्यक्ति द्वारा समाज कार्य का प्राचीन अर्थ यह दिया जाता है कि समाज कार्य ईसाई और मानवीय प्रवृत्तियो के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ है। कल्याण सम्बन्धी शासन के अधिकारीगण वर्तमान भ्रमों से ही समाज कार्य की व्यावसायिक परिभाषा देने का प्रयास करते हैं।

4.2 अवधारणा का अर्थ

वैज्ञानिक अध्ययन, अन्वेषण अथवा शोध में चार तत्वों को महत्वपूर्ण माना गया है-उपागम (Paradigms), अवधारणाएँ (Concepts), प्रस्तावनाएँ (Propositions) तथा सिद्धान्त (Theories)। केवल समाज कार्य अथवा

सामाजिक विज्ञानों में ही नहीं, अपितु प्राकृतिक विज्ञानों में भी इनका स्पष्टीकरण वैज्ञानिक अध्ययन में महत्त्वपूर्ण माना जाता है। उपागम किसी प्रघटना के बारे मे प्रकट अथवा प्रच्छन्न मान्यताओं का कुलक है, जबकि अवधारणा प्रघटना का बोध कराने की एक विधि है। प्रस्तावना प्रघटना की प्रकृति के बारे में कथन है, जबकि सिद्धान्त प्रस्तावनाओं की एक व्यवस्था है।

अवधारणाएँ प्रत्येक विषय में पाई जाती हैं तथा उनका प्रयोग समस्या के निर्माण करने और इसके समाधान के लिए किया जाता है। अवधारणा एक तार्किक रचना (Construct) है जिसका प्रयोग एक शोधकर्ता आँकड़ों को व्यवस्थित करने एवं उनमें सम्बन्धों का पता लगाने के लिए करता है। यह किसी अवलोकित प्रघटना का भाववाचक अथवा व्यावहारिक रूप है अर्थात् अवधारणा स्वयं प्रघटना न होकर इसे (प्रघटना) समझने में सहायता देती है। इन अमूर्त रचनाओं अर्थात् अवधारणाओ की सहायता से प्रत्येक विषय अपनी विषय-वस्तु को समझाने का प्रयास करता है। समाज कार्य में अनेक अवधारणाओं का प्रयोग किया जाता है। इनमे समाज कल्याण, समाज सेवा, समाज सुधार, सामाजिक विकास, सामाजिक सुरक्षा, भूमिका, आवश्यकताएँ, परानुभूति इत्यादि प्रमुख है। अन्य सभी विज्ञानों की भाँति समाज कार्य में इन अवधारणाओं का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया जाता है।

समाज कार्य में सामाजिक यथार्थता को व्यक्त करने हेतु अनेक अवधारणाओं (जिन्हें संकल्पनाएँ, संबोध अथवा संप्रत्यय भी कहा जाता है) का प्रयोग किया जाता है। इन्हीं से उस विषय की शब्दावली का निर्माण होता है। उदाहरणार्थ, समाज, सामाजिक समूह, समुदाय, समाज कल्याण, समाज सेवा, समाज सुधार, स्वयंसेवी संगठन, मानव अधिकार आदि अवधारणाएँ ही हैं। विषय के मूल ज्ञान हेतु इन अवधारणाओं को स्पष्ट रूप से समझना अनिवार्य होता है। प्राकृतिक विज्ञानों में प्रत्येक अवधारणा का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया जाता है, जबकि समाज कार्य में ऐसा नहीं है। सामाजिक विज्ञानों में एक ही अवधारणा को विविध अर्थों में प्रयोग किया जाता है जिसका परिणाम यह है कि बहुधा इन विज्ञानो की 'वैज्ञानिक प्रकृति' पर प्रश्न-चिह्न लगाने का प्रयास किया जाता है। सामाजिक विज्ञानों में प्रयोग की जाने वाली अवधारणाएँ निश्चयात्मक (Definitive) न होकर अनिश्चयात्मक (Sensitizing) प्रकृति की होती है।

समाज कार्य सहित सभी सामाजिक विज्ञानों में विभिन्न अवधारणाओं की अनिश्चितता का प्रमुख कारण यह है कि इन अवधारणाओं को सामान्य बोलचाल की भाषा में भी प्रयोग में लाया जाता है इसीलिए समाज कार्य के क्रमबद्ध ज्ञान एवं सामान्य बौद्धिक ज्ञान में अन्तर पाया जाता है। इतना ही नहीं, विशिष्ट अवधारणाओं के अर्थ को जानने हेतु सामान्य अंग्रेजी-हिन्दी शब्दकोशों का भी प्रयोग किया जाता है। समाज कार्य एवं अन्य सामाजिक विज्ञानों में प्रयुक्त अवधारणाएँ इनके सामान्य अथवा शब्दकोशीय अर्थ से भिन्न अर्थ रखती हैं। उदाहरणार्थ, 'सिद्धान्त' शब्द का शब्दकोशीय अर्थ 'व्यवहार के विपरीत' अथवा 'अव्यवहारिक' है इसीलिए बहुधा यह कहा जाता है कि जो सिद्धान्त में उपयुक्त होता है वह अनिवार्य रूप से व्यवहार में नहीं। समाज कार्य में सिद्धान्त का अर्थ व्यवहार के विपरीत कदापि नहीं है। जब हम समाज कार्य के सिद्धान्तों की बात करते है तो हमारा अभिप्राय उन मूल्यों एवं मान्यताओं से है जो समाज कार्य का आधार हैं।

4.3 समाज कल्याण

साधारणतया समाज कल्याण को 'समाज कार्य', 'समाज सेवा' अथवा 'सामाजिक सुरक्षा' के नाम से भी पुकारते हैं जिससे इसके अर्थ के बारे में भ्रम पैदा हो जाता है। प्रत्येक समाज किसी-न-किसी समस्या से ग्रसित रहता है। समाज की उन समस्याओं का निराकरण कर समाज के पिछड़े वर्गों को अधिकाधिक सुविधा प्रदान करने का प्रयास सामान्यतया समाज कल्याण कहलाता है। इस प्रकार, समाज कल्याण का अर्थ समाज के कमजोर वर्गों के हितों को संरक्षण प्रदान करना, उनके सामाजिक-आर्थिक स्तर को ऊँचा उठाना तथा उनके कल्याण के लिए विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करना है। तृतीय पंचवर्षीय योजना में कहा गया था कि समाज कल्याण कार्यक्रमों में समाज के अनेक पीड़ित वर्गों के कल्याण के सम्बन्ध में समुदाय की चिन्ता व्यक्त होती है और ये कार्यक्रम राष्ट्रीय विकास के महत्व पर जोर देते हैं। दुर्गाबाई देशमुख ने समाज कल्याण के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "समाज कल्याण जनसंख्या के दुर्बल एवं पीड़ित वर्गों के लाभ के लिए किया जाने वाला एक विशेषीकृत कार्य है। इसके अन्तर्गत स्त्रियों, बच्चों, अपंगों, मानसिक रूप से विकार युक्त लोगों एवं सामाजिक रूप से पीड़ित व्यक्तियों के कल्याण के लिए की जाने वाली सेवाओं का विशेष रूप से समावेश होता है।"

इससे समाज कल्याण के तीन तत्त्व स्पष्ट होते हैं-

1. समाज कल्याण संगठित व योजनाबद्ध कार्यक्रमों की ओर संकेत करता है,
2. यह कमजोर वर्गों के हितों की रक्षा करने तथा उन्हें विभिन्न सुविधाएँ प्रदान करके ऊँचा उठाने से सम्बन्धित है, तथा

NOTES

3. इसमें मानव साधनों को नष्ट होने से बचाने, उन्हें संरक्षित करने तथा कमजोर वर्गों की उन्नति के लिए प्रयोग करने का प्रयत्न किया जाता है।

विस्तृत अर्थ में समाज कल्याण में उन सभी संगठित कार्यों को सम्मिलित किया जाता है जो मानव उद्धार के लिए किए जाते हैं अर्थात् जो मानव समूह के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने तथा स्वास्थ्य को चढ़ाने में सहायक होते हैं। योजना आयोग ने समाज सेवा तथा कल्याण सेवा में अन्तर स्पष्ट करने का प्रयास किया है। समाज सेवा का अर्थ उन सेवाओं से है जो राज्य द्वारा समाज को दी जाती हैं, जबकि कल्याण सेवाएँ वे हैं जो समस्त समाज को नहीं अपितु निम्न वर्गों एवं असहाय व्यक्तियों को दी जाती हैं।

समाज कल्याण का तात्पर्य उन सभी सामूहिक रूप से किए गए प्रयासों से है जिनसे समाज के कमजोर तथा पिछड़े वर्गों की समस्याओं का समाधान कर उन्हें वे सुविधाएँ उपलब्ध कराई जाती हैं जिनसे समाज के अधिक-से-अधिक लोगों का कल्याण हो सके। समाज कल्याण का अर्थ समाज के पिछड़े, कमजोर एवं शोषित वर्गों के लोगों को दी जाने वाली उन सुविधाओं से है जिनको प्राप्त कर वे अपने व्यक्तित्व का विकास करने में सफल हो सकते हैं।

4.4 सामाजिक नियोजन तथा समाज कल्याण

'सामाजिक नियोजन' तथा 'समाज कल्याण' दो भिन्न संकल्पनाएँ हैं। सामाजिक नियोजन एक विस्तृत संकल्पना है जिसका एक उद्देश्य समाज कल्याण है। अत: समाज कल्याण सामाजिक नियोजन का ही एक अंग है। कई बार यह प्रश्न उठाया जाता है कि क्या भारत जैसे समाज में समाज कल्याण के लिए नियोजन आवश्यक है? निश्चित रूप से इसका उत्तर 'हाँ' में दिया जा सकता है। वास्तव में, भारत जैसे विकासशील देश में नियोजन का और अधिक महत्त्व है। इसका कारण यह है कि भारत में नागरिकों की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति करने एवं उनमें समानता लाने के लिए अभी काफी रास्ता तय करना है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार का प्रमुख लक्ष्य देश को एक नवीन एवं शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में विकसित करना था। इसके लिए ऐसे लक्ष्य निर्धारित करना अनिवार्य था जिनसे नागरिकों की न्यूनतम आवश्यकताएँ अधिकाधिक पूरी हो सकें। भारत ने प्रजातान्त्रिक शासन प्रणाली को अपनाकर समाजवादी समाज की स्थापना का संकल्प लिया। इसी के अनुरूप नागरिकों में आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक दृष्टि से समानता लाने तथा सभी को सुरक्षा प्रदान करने वाली सामाजिक व्यवस्था के निर्माण के प्रयास शुरू किए गए।

भारत में सामाजिक नियोजन कृषि तथा औद्योगिक विकास के साथ-साथ ग्रामीण पुनर्निर्माण में भी सहायक रहा है। समाज कल्याण की दृष्टि से भी यह अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। यह नियोजन मुख्यत: विकलांगों के कल्याण, सामाजिक सुरक्षा, अनुसूचित जाति तथा जनजाति कल्याण, अल्पसंख्यकों के कल्याण, महिला व बाल कल्याण, सहायता और पुनर्वास तथा पेन्शनभोगियों के कल्याण से सम्बन्धित रहा है और आज भी है।

बोध प्रश्न

1. अवधारणा से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

2. सामाजिक नियोजन की समाजकल्याण के साथ व्याख्या करो?

....

....

....

....

4.5 भारत में समाज कल्याण

भारत सरकार ने समाज कल्याण के लिए अनेक कार्यक्रम चलाये हैं। वास्तव में, हमारे संविधान में भारत को एक कल्याणकारी राज्य बनाने का लक्ष्य रखा गया है। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों ने स्वतन्त्रता के पश्चात् कल्याण कार्यों को काफी प्राथमिकता दी है। प्रारम्भ में कल्याण कार्यक्रमों में बीमारियों को दूर करने और लोगों का पुनर्वास करने जैसी कुछ आधारभूत सेवाओं पर ध्यान दिया जाता था। आज इन कार्यक्रमों का लक्ष्य विकलांगों, वृद्धों, कुपोषितों तथा अनुसूचित जातियों व जनजातियों, समाज के अन्य दुर्बल व पिछड़े वर्ग के लोगों को निवारक, विकासपरक और पुनर्वास सेवाओं को उपलब्ध कराना है। भारत सरकार द्वारा समाज कल्याण की दिशा में किए गए कुछ कार्य निम्नलिखित हैं-

1. **विकलांगो का कल्याण**- हमारे देश में लगभग एक करोड़ बीस लाख विकलांगों में नेत्रहीन, मूक व बधिर, शारीरिक रूप से विकलांग, मन्दबुद्धि, मस्तिष्क संस्तंभ से ग्रस्त और कुष्ठ रोगियों को सम्मिलित किया जाता है। कल्याण मंत्रालय ने इनका पता लगाने, उनका उपचार करने, उन्हें शिक्षा तथा प्रशिक्षण देने तथा उनके पुनर्वास के लिए अनेक कार्यक्रम लागू किए है। इसके लिए देहरादून, मुम्बई, कोलकाता तथा हैदराबाद में चार राष्ट्रीय संस्थान खोले गए हैं। ये विकलांगों को शिक्षा, प्रशिक्षण, व्यावसायिक मार्गदर्शन, परामर्श, पुनर्वास तथा अनुसन्धान में सहायता देते हैं। विकलांगों को शिक्षा के लिए छात्रवृत्तियाँ, रोजगार के लिए सहायक साधनों तथा उपकरणों की आपूर्ति पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। सरकार ने 'राष्ट्रीय विकलांग कल्याण कोष' की भी स्थापना की है। देश में विकलांगों के सम्बन्ध में नीति निर्धारित करने तथा कार्यक्रमों को बनाने में सलाह देने के लिए एक 'राष्ट्रीय विकलांग कल्याण परिषद' की भी स्थापना की गई है।

2. **सामाजिक सुरक्षा**- आज भारत में अनेक पारिवारिक एवं सामाजिक समस्याएँ हैं। बाल अपराध, मादक द्रव्य व्यसन, मद्यपान, अपराध, महिलाओं व लड़कियों के अनैतिक व्यापार इनके उदाहरण हैं। व्यक्तिगत और सामाजिक पतन की इन समस्याओं पर नियन्त्रण के लिए सरकार ने सामाजिक सुरक्षा से सम्बन्धित जो कदम उठाए हैं, उनमें से प्रमुख निम्न प्रकार हैं-

(i) बाल अपराध नियन्त्रण- इसके लिए 1986 ई. में किशोर न्याय अधिनियम पारित किया गया है। इसे 2 अक्टूबर 1987 को लागू किया गया है। इस अधिनियम में किशोर अपराधी की देखभाल, सुरक्षा, उपचार, विकास व पुनर्वास आदि की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। पर्यवेक्षक गृहों, विशेष गृहों तथा बाल गृहों की स्थापना भी की गई है। 2000 ई. में इसमें संशोधन किया गया है।

(ii) बच्चों के लिए सेवाएँ- परित्यक्त, उपेक्षित, अवांछित और निराश्रित बच्चों की देखरेख और सुरक्षा के लिए विशेष कार्यक्रम चलाया जा रहा है। इसका उद्देश्य इन बच्चों को भोजन, आवास, कपड़ा, चिकित्सा सुविधा, शिक्षा, व्यवसाय पूर्व प्रशिक्षण और व्यावसायिक प्रशिक्षण आदि देना है।

(iii) कारागार कल्याण- बन्दियों की स्थिति में सुधार लाने, उन्हें सलाह देने, उनका मार्गदर्शन करने तथा अपराधियों को समाज में रहने के लिए फिर से तैयार करने के वास्ते पुनर्वास गृहों का निर्माण किया गया है। परिवीक्षा तथा सम्बद्ध उपायों की ओर भी विशेष ध्यान दिया जा रहा है।

(iv) भिक्षावृत्ति की रोकथाम- भिक्षावृत्ति की रोकथाम के उपायों को कारगर बनाया जा रहा है। भिक्षावृत्ति के लिए बच्चों को फुसलाने, अपंग करने या उनका अपहरण करने के खिलाफ विशेष कानून बनाए गए हैं।

(v) **मद्यनिषेध और मादक द्रव्यों का सेवन**- मद्यनिषेध लागू करने के लिए विविध कार्यक्रम बनाए गए हैं। मादक द्रव्यों का सेवन करने वालों की पहचान, उनके लिए विशेष सेवाएँ, उपचार, इनके विरुद्ध जागरुकता, शिक्षा और उनके पुनर्वास जैसे पहलुओं पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। नशीले पदार्थों के इस्तेमाल को रोकने के बारे में एक समन्वित नीति तैयार करने के उद्देश्य से एक उच्च स्तरीय समिति गठित की गई है।

(vi) वृद्धों के लिए कल्याण सेवाएँ- वृद्धों के लिए आश्रय स्थलों की स्थापना और नकद सहायता देने की सामान्य योजनाएँ भी लागू की गई है। स्वैच्छिक संगठनों को सहायता अनुदान देने की सामान्य योजना के अन्तर्गत वृद्धों के लिए रोजगार के अवसर जुटाने, उनके स्वास्थ्य की देखभाल करने तथा मनोरंजन आदि के लिए चलाई गई सेवाओं को वित्तीय सहायता दी जाती है।

NOTES

3. अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति कल्याण-भारत में अनुसूचित जातियों व जनजातियों की जनसंख्या लगभग एक-चौथाई है। कुछ अन्य पिछड़े वर्गों, खानाबदोश तथा अर्द्ध-खानाबदोश समुदायों तथा अनुसूचित जाति व जनजाति कल्याण के लिए सरकार ने अनेक कदम उठाए हैं। अस्पृश्यता अपराध अधिनियम, 1955 तथा नागरिक अधिकार संरक्षण अधिनियम, 1955 इस दिशा में उठाए गए महत्वपूर्ण कदम हैं। विधान मण्डलों में प्रतिनिधित्व, सेवाओं में आरक्षण, शिक्षा के लिए छात्रवृत्तियों, लड़कियों के लिए छात्रावास योजना, अनुसूचित जाति एवं जनजाति के उम्मीदवारों के लिए शिक्षण तथा उससे सम्बद्ध योजना, छात्रों के लिए पुस्तक बैंक योजना आदि विविध प्रकार की योजनाओं द्वारा इनका सामाजिक-आर्थिक स्तर ऊँचा करने तथा इनकी समस्याओं का समाधान करने के प्रयास किए जा रहे हैं। बीस-सूत्री कार्यक्रम भी इनके विकास पर विशेष ध्यान देता है।

4. अल्पसंख्यक लोगों का कल्याण- भारतीय संविधान में धार्मिक एवं भाषायी अल्पसंख्यकों के हितों के संरक्षण पर विशेष ध्यान दिया गया है। दोनों प्रकार के अल्पसंख्यकों के अलग-अलग आयोग है। 1983 ई. में एक विशेष अल्पसंख्यक प्रकोष्ठ सेल की स्थापना की गई थी। सरकार ने साम्प्रदायिक हिंसा को रोकने, साम्प्रदायिक सद्भाव बढ़ाने, इनकी शिक्षा सम्बन्धी जरूरतों को पूरा करने, सेवाओं (विशेष कर केन्द्र और राज्य पुलिस सेवाओं) में भर्ती आदि के लिए विशेष कदम उठाकर इनके कल्याण को सुनिश्चित किया जाना इसी दिशा में एक अन्य प्रयास है।

5. महिला व बाल कल्याण- महिलाओं और बच्चों का सर्वांगीण विकास मानव संसाधन विकास का एक महत्वपूर्ण भाग है। 1985 ई. से मानव संसाधन विकास मंत्रालय में महिला और बाल विकास के लिए अलग-अलग विभाग बनाया गया है। इस विभाग के कार्यक्रमों का मुख्य उद्देश्य महिलाओं और बच्चों, विशेषकर समाज के निर्बल वर्गों का, समन्वित विकास कार्यक्रमों द्वारा कल्याण करना है। इस विभाग के दो ब्यूरो हैं-पोषाहार और बाल विकास, तथा महिला कल्याण और विकास। पोषाहार और बाल विकास विभाग बच्चों के कल्याण और विकास कार्यक्रमों को क्रियान्वित करता है। यह विभाग बाल विकास की समग्र नीति भी निर्धारित करता है। इसके अलावा बाल विकास कार्यक्रमों में समन्वय के लिए भी यही उत्तरदायी है। महिला कल्याण और विकास विभाग देश में महिला कल्याण और विकास के कार्यक्रमों में समन्वय स्थापित करने के लिए उत्तरदायी है। यह विभाग महिलाओं के कल्याण और आर्थिक विकास के कुछ कार्यक्रमों का क्रियान्वयन भी करता है। छह साल तक के बच्चों और गर्भवती एवं प्रसूता महिलाओं के कल्याण के लिए 'समेकित बाल विकास सेवाएँ' विशेष रूप से बनाई गई हैं। 'बच्चों की बालबाड़ियों' के अन्तर्गत नौकरी पेशा तथा बीमार महिलाओं के पाँच वर्ष तक के बच्चों को कुछ सेवाएँ दी जाती हैं। 1970-71 ई. से प्रारम्भ पोषाहार कार्यक्रम के अन्तर्गत नगरों की गन्दी बस्तियों, जनजातियों तथा पिछड़े इलाकों में छह वर्ष से कम उम्र के बच्चों और गर्भवती महिलाओं को पूरक पोषाहार उपलब्ध कराया जा रहा है। 1986 ई. से एक नया पूरक पोषाहार कार्यक्रम भी प्रारम्भ किया गया है। धर्मार्थ संस्था अधिनियम, 1980 के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय बाल विकास वर्ष, 1979 में एक राष्ट्रीय बाल कोष की स्थापना की गई है। संयुक्त राष्ट्र बाल कोष से भी बाल कल्याण के लिए भारत को सहायता मिलती है।

महिला कर्मचारियों के लिए हॉस्टलों के निर्माण व विस्तार की योजना बनाई गई है। पीड़ित महिलाओं के पुनर्वास के लिए प्रशिक्षण केन्द्र, रोजगार तथा आय उत्पन्न करने वाली उत्पादक इकाइयाँ खोली गई हैं। महिला प्रशिक्षण तथा रोजगार कार्यक्रम प्रभावी बनाए गए हैं। महिलाओं के लिए विभिन्न विकास कार्यक्रम शुरू किए गए है। महिलाओं के लिए सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम, प्रौढ़-महिलाओं के लिए शिक्षा के सघन पाठ्यक्रम भी बनाए गए है। महिलाओं पर होने वाले अत्याचारों को रोकने के लिए शैक्षिक कार्यों पर बल दिया जा रहा है। महिलाओं और लड़कियों के रहने के लिए अल्पकालिक आवास के अतिरिक्त महिला कल्याण के लिए महिला मण्डल, व्यावसायिक प्रशिक्षण केन्द्र, पुनर्वास केन्द्र, निराश्रित महिला सदन आदि की स्थापना की गई है। विधायी उपायों में समान पारिश्रमिक अधिनियम, 1976; बाल विवाह अवरोधक संशोधन अधिनियम, 1978; कारखाना (संशोधन) अधिनियम, 1976; स्त्रियों और लड़कियों के अनैतिक व्यापार के दमन के लिए 1956 में बनाए गए कानून को 1978 तथा 1986 में संशोधित कर, जिसे अब अनैतिक व्यापार (निवारण) कानून, 1986 कहा जाता है, प्रभावशाली बनाना; दहेज निषेध कानून, 1961; दहेज निषेध (संशोधन) कानून, 1986; महिला का अभद्र चित्रण (निषेध) अधिनियम, 1986 आदि ऐसे प्रमुख उपाय हैं जिनका महिलाओं को संरक्षण देने में महत्वपूर्ण स्थान है।

6. सहायता और पुनर्वास- विस्थापित लोगों के राहत और पुनर्वास को भी सामाजिक कल्याण के अन्तर्गत प्राथमिकता दी गई है। ऐसी योजनाएँ गृह मन्त्रालय द्वारा सीधे ही राज्य सरकारों व केन्द्रशासित प्रशासनों के माध्यम से लागू की जाती हैं। श्रीलंका से वापस लौटे भारतीय लोगों और तिब्बती शरणार्थियों को छोड़कर बाकी लोगों के पुनर्वास का काम पूरा हो चुका है। पुनर्वास पर होने वाले खर्चे का सरकार पर काफी आर्थिक दबाव पड़ता है, परन्तु केवल उनके कल्याण को सामने रख कर यह खर्चा किया जाता है।

उपर्युक्त समाज कल्याण कार्यक्रमों के अतिरिक्त सरकार ने 1985 ई. में 'पेन्शन और पेन्शनभोगी कल्याण विभाग' भी खोला है। यह केन्द्र सरकार के सभी कर्मचारियों के सेवानिवृत्ति लाभों से सम्बन्धित मामलों की देखरेख करता है। 1 जनवरी, 1986 से समीकृत पेन्शन ढाँचा लागू किया गया है। इस प्रकार, कहा जा सकता है कि भारत में समाज कल्याण कार्यक्रमों की ओर काफी ध्यान दिया जा रहा है।

4.6 समाज कल्याण हेतु प्राथमिकताएँ

भारत में सामाजिक नियोजन द्वारा देश के विकास एवं समाज कल्याण हेतु समयबद्ध पंचवर्षीय योजनाएँ बनाई गईं हैं। पंचायती राज का पुनर्गठन किया गया है तथा सामुदायिक विकास जैसी योजनाओं की शुरुआत की गई है। वास्तव में, समाजवादी समाज की स्थापना करना हमारी सरकार ने अपना वांछनीय लक्ष्य निर्धारित किया है जिसके लिए प्रजातान्त्रिक राजनीतिक प्रणाली एवं मिश्रित अर्थव्यवस्था को साधनों के रूप में स्वीकार किया गया है। भू-दान, ग्राम-दान तथा सर्वोदय जैसे गैर-सरकारी प्रयासों द्वारा भी इस लक्ष्य की प्राप्ति की ओर कदम चढ़ाने में सहायता मिली है।

पंचवर्षीय योजनाओं में समाज कल्याण, विशेष रूप से पिछड़े वर्गों के कल्याण, की ओर काफी ध्यान दिया गया है।

भारत में 1966 ई. में समाज कल्याण विभाग की स्थापना की गई तथा केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड बनाया गया जो निम्नलिखित बातों के बारे में विशेष ध्यान देता है-

1. सामान्य कल्याण,
2. शिशु कल्याण,
3. अनाथ बच्चों की देखरेख,
4. भिखारी, किशोर अपराधी व अन्य ऐसे ही लोगों के पुनर्स्थापन के लिए प्रशिक्षण प्रोग्राम,
5. अन्तर्राष्ट्रीय शिशु शिक्षा धन,
6. अपाहिजों की शिक्षा का प्रबन्ध,
7. स्त्रियों का नैतिक उद्धार एवं वेश्यावृत्ति की समाप्ति,
8. सामाजिक सुरक्षा का कार्य,
9. मद्यनिषेध,
10. ग्रामीण स्त्रियों को शिक्षा, तथा
11. अनुसन्धान एवं प्रशिक्षण।

भारत सरकार द्वारा समाज कल्याण के लिए किए गए कार्यों में मद्यनिषेध, अनैतिक व्यापार पर रोक, बाल अपराधियों का सुधार, भिखारियों का सुधार, जेलों में समाज कल्याण, विस्थापित व्यक्तियों की सहायता एवं पुनर्वास, शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से अयोग्य व्यक्तियों का कल्याण, मातृत्व एवं बाल कल्याण संस्थाओं का विकास तथा पिछड़े वर्गों के कल्याण के लिए शुरू की गई विविध योजनाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

विभिन्न सामाजिक अधिनियमों को पारित करके भी समाजवाद के लक्ष्य की ओर चढ़ने का निरन्तर प्रयास किया जा रहा है। पंचवर्षीय योजनाओं ने सामाजिक एवं आर्थिक नियोजन एवं नियोजित सामाजिक परिवर्तन में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। अत: हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि भारत में नियोजित सामाजिक परिवर्तन

सम्भव एवं महत्वपूर्ण ही नहीं है अपितु हमारे देश की वर्तमान स्थिति इसी का परिणाम है। इससे समाज कल्याण कार्यक्रमों को लागू करने में काफी सहायता मिली है। इसके साथ ही विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में भी समाज एवं श्रम कल्याण को काफी प्राथमिकता दी गई है तथा इस पर काफी व्यय भी किया गया है।

बोध प्रश्न

NOTES

1. सामाजिक सुरक्षा पर टिप्पणी लिखो?

....

....

....

2. समाज कल्याण में क्या प्राथमिकताएँ है?

....

....

....

....

4.7 भारत में श्रम कल्याण

श्रम कल्याण से अभिप्राय श्रमिकों के कल्याण से है। भारत में श्रम कल्याण की ओर भी विशेष ध्यान दिया गया है। भारत की श्रम नीति की आधारभूमि संविधान की निर्देशक नीति से तैयार की गई है। इसे परिस्थिति की विशिष्ट आवश्यकताओं को देखते हुए तथा योजनाबद्ध आर्थिक विकास व सामाजिक न्याय की माँगों के अनुरूप ढाला गया है। सातवीं तथा आठवीं योजनाओं में इसीलिए देश में प्रचुर मानव संसाधनों को काम में लाने तथा विकास के लिए इनकी क्षमताओं को बढ़ाने पर बल दिया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ (I. L. O.) के अनुसार, "श्रम कल्याण से आशय ऐसी सेवाओं और सुविधाओं से समझना चाहिए जो कारखाने के अन्दर या निकटवर्ती स्थानों में स्थापित की गई हों, ताकि उनमें काम करने वाले श्रमिक स्वास्थ्य और शक्तिपूर्ण परिस्थितियों में अपना कार्य कर सकें और अपने स्वास्थ्य व नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने वाली सुविधाओं का लाभ उठा सकें।" सामाजिक विज्ञानों के शब्दकोश (Encyclopaedia of Social Sciences) के अनुसार, "श्रम कल्याण से अर्थ कानून, औद्योगिक व्यवस्था और बाजार की आवश्यकताओं के अतिरिक्त मालिकों द्वारा वर्तमान औद्योगिक व्यवस्था के अन्तर्गत श्रमिकों के काम करने और कभी-कभी जीवन-निर्वाह की दशाओं के उपलब्ध करने के ऐच्छिक प्रयासों से है।" इस प्रकार, श्रम कल्याण का अर्थ श्रमिकों की कार्यदशाओं, स्वास्थ्य और समृद्धि में सुधार से है।

भारत में श्रमिकों की संख्या इस समय 30 करोड़ से भी अधिक है। भारतीय अर्थव्यवस्था के संगठित क्षेत्र में सर्वाधिक श्रमिक फैक्ट्रियों में काम करते हैं। श्रमिक कल्याण की दिशा में सर्वप्रथम कदम 'फैक्ट्री अधिनियम, 1948' है। इस अधिनियम में श्रमिक उस व्यक्ति को कहा गया है जिसका किसी निर्माण प्रक्रिया में या किसी मशीनरी या उसके हिस्से अथवा स्थान की सफाई में उपयोग किया जाता हो, या किसी अन्य प्रकार के काम में, जिसका सम्बन्ध निर्माण प्रक्रिया के विषय से हो और जिसकी सीधे या किसी एजेन्सी के द्वारा नियुक्ति की जाती हो, चाहे उसे मजदूरी दी जाती हो या नहीं।

कारखानों में काम की शर्तें फैक्ट्री अधिनियम, 1948 के द्वारा ही नियमित की जाती हैं। इस अधिनियम की कुछ प्रमुख बातें निम्न प्रकार हैं-

1. प्रौढ़ श्रमिकों के लिए सप्ताह में 48 घण्टे काम के लिए निश्चित हैं,
2. किसी भी कारखाने में 14 साल से कम उम्र के बच्चों को काम पर लगाने की मनाही है,
3. कारखानों के मालिकों के लिए रोशनी, साफ हवा, सुरक्षा, स्वास्थ्य तथा कल्याण सेवा के न्यूनतम मानक का पालन करना अनिवार्य है,

4. जिन कारखानों में 30 से अधिक महिला श्रमिक काम करती है, वहाँ उनके बच्चों के लिए बालगृहों की व्यवस्था करनी पड़ती है,
5. जिन कारखानों में 150 से अधिक व्यक्ति काम करते है, वहाँ कारखानों के मालिकों को उनके लिए आरामगृह तथा भोजन के लिए कमरों की व्यवस्था करनी पड़ती है,
6. जिन कारखानों में 250 से अधिक व्यक्ति काम करते हैं, वहाँ श्रमिकों के लिए आवश्यक सुविधाओं से युक्त कैण्टीनों की भी व्यवस्था करनी पड़ती है, तथा
7. जिन कारखानों में 500 या इससे अधिक कर्मचारी काम करते हैं, वहाँ कल्याण अधिकारी की नियुक्ति करना आवश्यक है।

2 दिसम्बर, 1986 को लोकसभा में फैक्ट्री संशोधन विधेयक, 1986 पेश किया गया। इसके द्वारा 1948 के फैक्ट्री एक्ट में संशोधन करके श्रम-सुरक्षा की व्यवस्थाओं को और अधिक कड़ा कर दिया गया है। श्रम कल्याण के लिए किए गए कुछ प्रमुख कार्य निम्न प्रकार हैं-

1. मजदूरी का नियमन- सरकार ने मजदूरी के नियमन के लिए 'मजदूरी भुगतान अधिनियम, 1936' पारित किया है। इसके अनुसार श्रमिकों की मजदूरी को न तो रोका जा सकता है और न ही अनधिकृत रूप में किसी प्रकार की कटौती की जा सकती है। श्रमिकों की मजदूरी का भुगतान निश्चिय दिवस के पूर्व किया जाना अनिवार्य है।

2. न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण- श्रमिकों की मजदूरी के निर्धारण के लिए 'न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, 1948' बनाया गया है। इसके अनुसार न्यूनतम मजदूरी निश्चित कर दी गई है।

3. पत्रकारों की सुरक्षा- समाचारपत्र प्रतिष्ठानों में काम कर रहे व्यक्तियों तथा श्रमजीवी पत्रकारों की सेवा-शर्तों को नियमित करने के लिए 1955 ई. में 'श्रमजीवी पत्रकार तथा अन्य कर्मचारी सेवा-शर्तें तथा विविध उपबन्ध अधिनियम' बनाया गया है। 1981 ई. में किए गए संशोधनों में 'श्रमजीवी पत्रकार' शब्द की परिभाषा में अंशकालिक संवाददाताओं को भी शामिल कर दिया गया है।

4. स्त्री तथा पुरुष श्रमिकों के लिए समान पारिश्रमिक व्यवस्था- इसके लिए 'समान पारिश्रमिक अधिनियम, 1976' बनाया गया है। यह स्त्रियों के साथ वेतन में भेदभाव के विरुद्ध व्यवस्था करता है। यह सभी प्रकार के रोजगारों पर लागू होता है तथा एक महत्वपूर्ण कदम कहा जाता है।

5. बंधुआ मजदूर प्रथा का उन्मूलन- 'बंधुआ मजदूर उन्मूलन अधिनियम, 1976' द्वारा सारे देश में बंधुआ मजदूरी की प्रथा समाप्त कर दी गई है। उनके कर्जों को भी माफ कर दिया गया है। मुक्त कराए गए बंधुआ मजदूरों के पुनर्वास को 20 सूत्री कार्यक्रम का एक अंग बनाया गया है।

6. बोनस की व्यवस्था- श्रमिकों व कर्मचारियों को सम्बन्धित लाभ के बँटवारे के लिए 'बोनस भुगतान अधिनियम, 1965' बनाया गया है। 1985 ई. में संशोधन करके बोनस की अदायगी के लिए कर्मचारियों की मासिक आय की सीमा 1,600 रुपये से बढ़ाकर 2,500 रुपये कर दी गई है।

7. औद्योगिक विवादों के निपटारे तथा उद्योगों में श्रमिकों की भागीदारी की समुचित व्यवस्था- 'औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947' ऐसा प्रमुख केन्द्रीय कानून है जिसमें औद्योगिक विवादों को हल करने की व्यवस्था है। सरकार ने प्रबन्ध में श्रमिकों की भागीदारी के लिए एक व्यापक योजना लागू की है। 'औद्योगिक विवाद संशोधन अधिनियम, 1976' के अन्तर्गत मालिकों के जबरन छुट्टी, छँटनी और तालाबन्दी के अधिकार पर समुचित पाबन्दी लगा दी गई है।

8. श्रमिकों को सामाजिक सुरक्षा- श्रमिकों की सामाजिक सुरक्षा के लिए सरकार ने अनेक उपाय किए हैं। इनमें कर्मचारियों को दुर्घटना हो जाने पर मुआवजा, महिला श्रमिकों को प्रसूति सम्बन्धी लाभ, कर्मचारी राज्य बीमा योजना, कर्मचारी भविष्य निधि योजना, मृत्यु होने पर सहायता, पारिवारिक पेन्शन तथा आनुतोषिक (ग्रेच्यूटी) योजना प्रमुख हैं।

9. काम की शर्तें और कल्याण- कारखानों में काम की शर्तें 'फैक्ट्री अधिनियम, 1948' द्वारा नियमित की गई हैं। श्रमिकों के कल्याण के लिए 'खान अधिनियम, 1952', 'बागान मजदूर अधिनियम, 1951', 'बीड़ी

और सिगार कर्मचारी (रोजगार की शर्तें) अधिनियम, 1966', 'ठेका मजदूर नियमन और उन्मूलन अधिनियम, 1970' आदि अधिनियम पारित किए गए हैं। खान मजदूरों की सुरक्षा के लिए विशेष कदम उठाए गए है तथा 1986 में खान सुरक्षा संगठन की भी स्थापना की गई है।

उपर्युक्त कल्याण कार्यों के अतिरिक्त आज श्रमिकों के प्रशिक्षण और रोजगार, अनुसन्धान, व्यावसायिक प्रशिक्षण कार्यक्रम पर अत्यधिक जोर दिया जा रहा है। ग्रामीण श्रमिकों की ओर भी विशेष ध्यान दिया जा रहा है। विदेशों में रोजगार के लिए भारतीय नागरिकों के प्रवास का नियमन करने के लिए 'प्रवास अधिनियम, 1983' बनाया गया है। प्रवासियों के हितों को सुरक्षित करने हेतु श्रमिकों की माँग करने वाले देशों में जन-शक्ति समझौते हस्ताक्षरित करने के प्रयास किए जा रहे हैं।

4.8 समाज कल्याण एवं समाज कार्य में अन्तर

समाज कल्याण एवं समाज कार्य शब्दों का प्रयोग अधिकांशतया समानार्थक रूप में किया जाता है। इन शब्दों में अन्तर तभी किया जा सकता है जब इसका विस्तीर्ण अध्ययन किया जाए। लेकिन व्यावसायिक समाज कार्यकर्ताओं द्वारा भी इन शब्दों में भेद साधारणतया नहीं किया जाता। संयुक्त राष्ट्र संघ का समाज कल्याण विभाग कहता है, "समाज कल्याण का क्षेत्र अभी निश्चितता और एकरूपता को प्राप्त नहीं हो पाया है और इसीलिए स्पष्ट परिभाषा भी नहीं दी जाती है। योग्य कार्यकर्ताओं और उनके प्रशिक्षण के क्या अर्थ हैं इस भ्रम में भी इस वास्तविकता के दर्शन होते हैं। किसी भी देश में समाज कार्य के क्षेत्र की सीमाएँ झूठी निन्दा या वाद-विवाद से परे निश्चित नहीं हो पाई हैं।"

इस भ्रम के दो मुख्य कारण हैं-

1. प्रत्येक देश में समाज कार्य एक गतिशील क्रिया के रूप में उदित हुआ और इस पर सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का बराबर प्रभाव पड़ता रहा है इसीलिए इसका निश्चित अर्थ नई परिस्थितियों का सामना करना भर रह गया है।
2. समाज कल्याण शब्द का प्रयोग कुछ विशेष कार्यों की व्याख्या के लिए ही नहीं किया जाता, वरन् इसका प्रयोग 'सामाजिक नीति' (**Social policy**) के स्थान पर भी किया जाता है।

फ्रीडलैंडर (Friedlander) के मतानुसार समाज कल्याण सामाजिक सेवाओं और संस्थाओं का संगठित समूह है जिसके द्वारा व्यक्तियों को स्वास्थ्य और सन्तोषप्रद जीवन स्तर की प्राप्ति का प्रयत्न किया जाता है। इसका लक्ष्य व्यक्ति के व्यक्तिगत एवं सामाजिक सम्बन्ध को ठीक बनाना है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी शक्तियों का प्रयोग करके समाज की गति के साथ अपने कल्याण की वृद्धि करते है। इसके विपरीत, समाज कार्य एक व्यावसायिक सेवा है, जिसका आधार वैज्ञानिक ज्ञान और मानवीय सम्बन्ध है, जो व्यक्तियों को अकेले या समूह में स्वतन्त्रता और व्यक्तिगत सन्तोष प्राप्त करने में सहायता प्रदान करती है। साधारणतया यह सेवा या तो किसी सामाजिक संस्था द्वारा या इसी प्रकार के किसी अन्य संगठन द्वारा प्रदान की जाती है। समाज कल्याण शब्द का अर्थ व्यावसायिक समाज कार्य से अधिक व्यापक है।

4.9 समाज सेवा

समाज सेवा एक अत्यन्त विस्तृत अवधारणा है। सामाजिक सेवा की परिभाषा देते हुए हैरी. एम. कैसिडी (Harry M. Cassedy) लिखते हैं कि, "वे संगठित कार्य जिनका सीधा सम्बन्ध प्रथाओं या रूढ़ियों से है और जो मानवीय साधनों की रक्षा और उन्नति का काम करते हैं समाज सेवा है।" इनमें सामाजिक सेवा, सामाजिक सहायता, सामाजिक बीमा, शिशु कल्याण, अपराधियों का सुधार, मानसिक स्वास्थ्य, जन स्वास्थ्य, शिक्षा, मनोरंजन, श्रमिकों की सुरक्षा तथा गृह एवं निवास-सम्बन्धी कार्य भी सम्मिलित है। समाज सेवा समाज कल्याण से विस्तृत अवधारणा है। श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख ने इस सन्दर्भ में कहा है कि, "समाज कल्याण के अर्थ साधारण समाज सेवा जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य इत्यादि से भिन्न हैं। समाज कल्याण के विशिष्ट कार्य में समाज के दुर्बल विभागों की सहायता और लाभ करने के अतिरिक्त शिशु, महिला तथा अंगभंगों, मन्दबुद्धि मनुष्यों और इसी प्रकार के अन्य व्यक्तियों के लिए की गई सेवाएँ भी सम्मिलित है।" उन्होंने आगे बताया है कि, "समाज कल्याण परिणाम

था और समाज कार्य एक प्रक्रिया जिसका प्रयोग उन्नति की प्राप्ति के लिए किया गया। समाज कार्यकर्ता ऐसे लोग थे जो समाज कल्याण के लिए समाज कार्य के माध्यम से कार्य करते है। यदि प्रक्रिया को भली-भाँति समझ लिया जाए तो प्रयुक्त निपुणताओं का गुण-दोष विवेचन किया जा सकेगा, आवश्यक सन्दर्भित पृष्ठभूमि के साथ प्रमुख तथा सम्बद्ध क्षेत्रों के विषयों में सूचनाओं का संकलन एवं प्रस्तुतीकरण अधिक सतर्कता से हो सकेगा और सामाजिक नीति-निर्माताओं; समाज नियोजकों, समाज प्रशासकों, व्यावसायिक तथा अविज्ञ समाज कार्यकर्ताओं को सम्पर्क से संवारा जा सकेगा, समाज कल्याण सेवाओं की गुणावस्था में सुधार होगा और समाज कल्याण कार्यक्रमों तथा सेवाओं का प्रसार कर्म तथा अध्ययनशील एवं कार्यकुशल अधिक हो जाएगा।'' समाज सेवा एवं समाज कल्याण में जन कल्याण, कृषि सहायता, पुनर्वास, बाढ नियन्त्रण, श्रम सम्बन्धी कानून इत्यादि सम्मिलित होते हैं। इस प्रकार, समाज सेवा का सम्बन्ध केवल समस्याग्रस्त व्यक्तियों, समूहों अथवा समुदायों से नहीं है इसलिए इसमें केस वर्क (Case work) का प्रयोग नहीं किया जाता है।

समाज कार्य का मुख्य उद्देश्य ऐसे व्यक्तियों की सहायता करना है जो समस्याओं से ग्रस्त हैं तथा समाज कार्य संस्थाओं/संगठनों का उपभोग करना चाहते हैं। केस वर्क में वे संस्थाएँ आती हैं जो यह स्पष्ट घोषणा करती हैं कि वे केस वर्क द्वारा समाज कार्य कर रही हैं। उनमें से सब समाज कार्य की संस्थाएँ नहीं है। उदाहरण के लिए, जन सहायता की संस्थाओं के विषय में कहा जा सकता है कि वे समाज कार्य की संस्थाएँ हैं क्योंकि वे उन सब व्यक्तियों को एक विशेष स्तर की सेवाएँ प्रदान करती हैं जो कुछ योग्यताएँ या अर्हताएँ रखते हों। इनका यह कार्य नहीं है कि कठिनाई में पड़े व्यक्ति की आर्थिक क्षेत्र में पुनः स्थापना कर दें। यह ठीक है इन स्वतन्त्र संस्थाओं में समाज कार्य के लिए कुछ स्थान अवश्य है।

समाज कार्य में केस वर्क का स्थान केवल इसलिए महत्वपूर्ण नहीं है कि इससे सूचनाएँ एकत्र करने का काम किया जाता है वरन् इसलिए है कि यह समस्याग्रस्त व्यक्तियों (Clients) को संस्था में सहायता दिलाए तथा मूल्यों का उपयोग करने में सहायता प्रदान करता है। जो कार्य निःसन्देह समाज कार्य हैं वे कार्य मुख्य रूप से केस वर्क के क्षेत्र में तथा कुछ थोड़ा समूह कार्य क्षेत्र में हैं। इस सम्बन्ध में संगठन, अनुसन्धान और शासन में वे पक्ष भी आते है जो किसी-न-किसी रूप में वैयक्तिक और समूह कार्य में सहायता देते हैं। जो कार्य समाज कार्य के अन्तर्गत आते हैं वे सामाजिक या आर्थिक संकटग्रस्त व्यक्ति के साथ एक ही प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

बोध प्रश्न

1. श्रम कल्याण के लिए किये गये कार्यों का वर्णन करो?

....

....

....

2. समाज कार्य व समाजकल्याण में अन्तर स्पष्ट करो?

....

....

....

4.10 सारांश

अवधारणा का प्रयोग समस्या निर्माण तथा समाधान के लिए किया जाता है। अवधारणा घटना को समझने मे सहायक होती है समाजकल्याण निर्बल, पीड़ित, समस्याग्रस्त व्यक्तियों के लिए किये जाने वाले कार्य होते है, जिनसे वे व्यक्तित्व का विकास करने में सफल हो सके। समाज कल्याण का विषय क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। समाज कल्याण सामाजिक नीति के रूप में प्रयोग किया जाता है जबकि समाज कार्य का क्षेत्र निंदा व वाद-विवाद से दूर होता है। समाज कार्य में संगठन, प्रशासन तथा समूहों का साथ भी प्राप्त होता है।

NOTES

4.11 शब्दावली

अवधारणा - अवधारणा एक तार्किक रचना है जो किसी अवलोकित प्रघटना का भाववाचक अथवा व्यावहारिक रूप होती है अर्थात् अवधारणा स्वयं प्रघटना न होकर इसे (प्रघटना) समझने में सहायता देती है।

समाज कल्याण- वे सभी कार्य व्यक्तियों अथवा मानव समूह के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने तथा स्वास्थ्य को चढ़ाने में सहायक होते हैं, समाज कल्याण की परिभाषा में आते हैं।

समाज सेवा - वे संगठित कार्य जिनका सीधा सम्बन्ध प्रथाओं या रूढ़ियों से है और जो मानवीय साधनों की रक्षा और उन्नति का काम करते हैं समाज सेवा कहलाते हैं।

4.12 अभ्यास प्रश्न

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. समाज कल्याण किसे कहते हैं? समाज कल्याण तथा समाज कार्य में अन्तर बताइए।
2. भारतीय समाज के सन्दर्भ में समाज कल्याण की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।

लघुउत्तरीय प्रश्न

1. समाज सेवा किसे कहते हैं? इसमें तथा समाज कार्य में अन्तर बताइए।
2. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए-
   (अ) सामाजिक नियोजन तथा समाज कल्याण
   (ब) समाज कल्याण की प्राथमिकताएँ

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. श्रम कल्याण के लिए कार्य कितने है–
   (अ) दस (ब) नौ (स) आठ (द) सात

उत्तर 1. (ब)

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

Lingdren, H.C., An Introduction to Social Psychology, New Delhi:Wiley Eastern Limited, 1973.

Linton, R.,Readings in Social Psychology, Englewood Cliffs, NJ:Prentice-Hall, 1936.

MacIver, R.M. & Page., Society : An Introductory Analysis, New York:Holt Rinehart & Wintson

●●●

अध्याय–5 परानुभूति अहम्शक्ति तथा आध्यात्मिकता की अवधारणा (CONCET OF EMPATHY, EGO & SPIRITUALITY)

NOTES

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 परानुभूति का अर्थ
5.3 समाज कार्य में परानुभूति की भूमिका
5.4 अहम् शक्ति की अवधारणा
5.5 अहम् शक्ति का अर्थ
5.6 समाज कार्य में अहम् शक्ति की भूमिका
5.7 आध्यात्मिकता एवं समाज कार्य
5.8 समाज कार्य के लक्ष्य एवं प्रकार्य
5.9 शब्दावली
5.10 अभ्यास प्रश्न
सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

5.0 उद्देश्य

प्रत्येक विषय को समझने हेतु उसमें प्रयुक्त मूल अवधारणाओं का स्पष्ट ज्ञान होना आवश्यक है। इन अवधारणाओं का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया जाता है तथा यह अर्थ व्यक्तियों के सामान्य ज्ञान से भिन्न भी हो सकता है। समाज कार्य की भी अपनी कुछ विशिष्ट अवधारणाएँ है जिनका प्रयोग इस विषय में बहुधा किया जाता है। इन अवधारणाओं में परानुभूति, अहम् शक्ति, अध्यात्मिकता आदि प्रमुख है। इस इकाई में इन अवधारणाओं के स्पष्टीकरण के साथ-साथ समाज कार्य के लक्ष्य एवं प्रकार्य समझाने का प्रयास किया गया है।

5.1 प्रस्तावना

व्यक्ति के जीवन में इच्छाओं एवं आवश्यकताओं का विशेष महत्व होता है। वास्तव में, इच्छाओं से प्रेरित होकर आवश्यकताओ को अनुभव करना, आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समुचित प्रयास करना तथा आवश्यकताओं की यथार्थ में पूर्ति करना ही जीवन है। यदि व्यक्ति के जीवन में इच्छाएँ एवं आवश्यकताएँ न हों तो जीवन नीरस, उत्साह-रहित तथा निरर्थक बन जाता है। आवश्यकताओं की पूर्ति से व्यक्ति को एक विशेष प्रकार के सन्तोष एवं आनन्द की अनुभूति होती है। इसके विपरीत, यदि व्यक्ति की अधिकांश आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती तो व्यक्ति क्रमशः निराश, असन्तुष्ट तथा कुण्ठित हो जाता है जिसका परिणाम भग्नाशा के रूप में परिलक्षित होता है। समाज कार्य मानव आवश्यकताओं को समझने, इनकी प्राप्त के मार्ग मे आने वाली बाधाओं तथा इन्हें प्राप्त करने के ढंगों को समझने में सहायक है। समाज कार्य की मौलिक अवधारणाओं को समझकर इस विषय को और अधिक लोकप्रिय बनाया जा सकता है।

5.2 परानुभूति का अर्थ

NOTES

जैसा कि इस शब्द से ही स्पष्ट है कि यह किसी अन्य की अनुभूति करने से सम्बन्धित है। इस शब्द की उत्पत्ति कैसे हुई, यह पूरी तरह से स्पष्ट नहीं है। एक ओर, यह माना जाता है कि अंग्रेजी के 'इम्पैथी' (Empathy) शब्द की उत्पत्ति ग्रीक भाषा के 'इम्पैथिया' (Empatheia) शब्द से हुई है जिसका अर्थ भौतिक अनुराग या स्नेह (Physical affection) अथवा तरफदारी (Partiality) है, तो दूसरी ओर, साहित्य में इस बात का उल्लेख भी मिलता है कि जर्मन मनोवैज्ञानिक थिओडोर लिप्स (Theodore Lipps) ने 1880 के दशक में जर्मन शब्द 'Einfuhlung' का प्रयोग किया जिसका अर्थ किसी अन्य के अनुभवों को भावात्मक रूप में समझना है। 'इम्पैथी' शब्द इसी जर्मन शब्द का अंग्रेजी अनुवाद है।

समाज कार्य परिभाषा कोश में परानुभूति के दो अर्थ बताए गए हैं-प्रथम, किसी कलाकृति या प्राकृतिकपदार्थ में अपने अनुभवों, विचारों और भावों आदि का काल्पनिक या मानसिक प्रक्षेपण तथा द्वितीय, किसी दूसरे व्यक्ति की अनुभूतियों, दु:खों या स्थिति को बिना बताए ही समझना। यद्यपि इससे परानुभूति का अर्थ अधिक स्पष्ट नहीं होता, तथापि इसे हम किसी व्यक्ति की अन्य व्यक्ति के बारे में अपने अनुभवों का आरोपण भी कह सकते हैं। इसे अन्य व्यक्तियों के व्यक्तित्व में काल्पनिक रूप से प्रवेश करने तथा उसके अनुभवों को समझने की शक्ति माना जाता है (The power of entering into another's personality and imaginatively experiencing his feelings)। इस प्रकार, व्यक्ति द्वारा किसी अन्य व्यक्ति के व्यक्तित्व, भावनाओं तथा प्रेरणाओं को पहचानने एवं समझने की कला को परानुभूति कहा जाता है। यह एक प्रकार से 'अपने आपको किसी अन्य के जूतों में डालने' (Putting oneself in another's shoes) के समान है।

परानुभूति को बहुधा सहानुभूति समझ लिया जाता है, जबकि यह दोनों पृथक् अवधारणाएँ हैं। सहानुभूतिसे अभिप्राय किसी अन्य व्यक्ति के दु:खों को समझना अथवा अनुभव करना है, जबकि परानुभूति किसी अन्य व्यक्ति के दु:खों में भागीदार बनना है। यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि मुझे आपके प्रिय की मृत्यु पर बेहद दु:ख है तो यह सहानुभूति का उदाहरण है। इसके विपरीत, यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि मैं इस बात की अनुभूति कर सकता हूँ कि आपके प्रिय की मृत्यु से आपको कितना दु:ख हुआ है तो यह परानुभूति का उदाहरण है। सहानुभूति निर्धनों अथवा किसी अभागे व्यक्ति की सहायता में भी प्रतिफलित हो सकती है, जबकि परानुभूति का इस प्रकार की सहायता से कोई सम्बन्ध नहीं है।

'परानुभूति' काफी सीमा तक वेबर द्वारा प्रयुक्त 'वर्स्टहीन' (Verstehen) शब्द से मिलता-जुलता है। वर्स्टहीन एक जर्मन शब्द है जिसका अर्थ व्यक्त करने हेतु अंग्रेजी एवं हिन्दी भाषाओं में कोई उपयुक्त शब्द नहीं है। यह एक ऐसी पद्धति है जिसमें कोई व्यक्ति अपने आपको किसी अन्य के स्थान पर रखकर उसकी दृष्टि से यथार्थता को समझने का प्रयास करता है। इसमें अध्ययनकर्ता स्वयं को क्रिया करने वाले कर्ता की स्थिति में रखकर उसकी क्रियाओं का व्याख्यात्मक बोध करने का प्रयास करता है। सी. एच. कूले (C. H. Cooley) के शब्दों में, "वर्स्टहीन अध्ययन की वह पद्धति है जिसके द्वारा कोई अध्ययनकर्ता सम्पर्क और संचार के माध्यम से क्रिया करने वाले व्यक्ति (कर्ता) के विचारों और भावनाओं में सहभागिता करते हुए स्वयं को उसकी मानसिक स्थिति में इस तरह ले आता है जिससे उसी के विचारों और अर्थों के सम्बन्ध में किसी विशेष व्यवहार को समझा जा सके।" अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वर्स्टहीन वह पद्धति है जिसके द्वारा लोग अपने चारों ओर के सामाजिक जगत को अर्थ प्रदान करते हैं तथा 'प्रथम-व्यक्ति दृष्टिकोण' (First-person perspective) द्वारा इस विश्व को आँकने एवं मूल्यांकन करने का प्रयास करते हैं। यह यथार्थता को समझने की व्याख्यात्मक बोध की पद्धति है।

परानुभूति को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जाता है-संज्ञानात्मक परानुभूति (Cognitive empathy), प्रतिक्रियाशील परानुभूति (Reactive empathy), तथा समानान्तर परानुभूति (Parallel empathy)। संज्ञानात्मक परानुभूति बाह्य समूह के बारे में ज्ञान प्राप्त करने, उसके सदस्यों का विश्व-दृष्टिकोण समझने तथा उनकी सांस्कृतिक परम्पराओं, आदर्शों, मूल्यों, मनोवृत्तियों, प्रतिमानों आदि को सीखने में महत्वपूर्ण होती है। यह परानुभूति किसी समूह में पाए जाने वाले पूर्वाग्रहों को परिवर्तित करने में अधिक सहायक होती है। यह जो सुबोधगम्य नहीं है उसे

समझने में सहायता प्रदान करती है। प्रतिक्रियाशील परानुभूति दो प्रकार की भावात्मक प्रतिक्रियाओं से सम्बन्धित होती है- किसी अन्य की करूणा से सम्बन्धित भावनाओं को समझने से तथा दूसरे के दु:खों एवं कष्टों से नकारात्मक भावनाएँ विकसित होने से। ऐसी भावनाओं में उत्सुकता, खतरा एवं आकस्मिक परिवर्तन सम्मिलित होते हैं जो अन्त:समूह सम्बन्धों को सुधारने में सहायक हैं। इस प्रकार, प्रतिक्रियाशील परानुभूति सकारात्मक अथवा नकारात्मक भावात्मक क्रियाएँ विकसित करने में सक्षम होती है। समानान्तर परानुभूति बाह्य समूह के सदस्यों की ओर से अन्याय की भावना विकसित करती है जिसके परिणामस्वरूप अन्त:समूह के सदस्य सामाजिक क्रिया करने अथवा बाह्य समूह के सदस्यों के बारे में अपनी मनोवृत्तियों को परिवर्तित करने के लिए विवश हो जाते हैं।

5.3 समाज कार्य में परानुभूति की भूमिका

परानुभूति को संचार की क्षमता तथा समस्याओं को समझने एवं समाधान करने की कला के रूप में अपनाया जा सकता है। इसी दृष्टि से यह समाज कार्य की एक प्रमुख अवधारणा है। इसके द्वारा न केवल दूसरे व्यक्तियों के अनुभवों एवं परिस्थितियों को पहचाना जा सकता है, अपितु उनकी समस्याओं को समझकर उनका समाधान भी किया जा सकता है। परानुभूति अनुभव एवं विचार में अन्तराल को कम करने का एक सशक्त माध्यम है। अनेक अध्ययनों से यह भी पता चला है कि इससे अन्तर्समूह सम्बन्धों में सुधार होता है इसीलिए सभी बहु-सांस्कृतिक शैक्षिक कार्यक्रम कम या अधिक रूप में परानुभूति पर बल देते हैं। परानुभूति का प्राथमिक कार्य सम्बन्धों को बनाना तथा उन्हें बनाए रखने में सहायता प्रदान करना है। ऐसा माना जाता है कि परानुभूति एवं विश्वास प्रभावपूर्ण ढंग से समझने, संचार करने एवं सम्बन्ध बनाने के माध्यम हैं। समस्याओं का हल करने में भी परानुभूति अनिवार्य मानी जाती है। इससे लोगों की शिकायतों को अधिक अच्छी प्रकार से समझा जा सकता है।

समाज कार्य निर्धनों एवं वंचितों को सहायता देने से सम्बन्धित है। यदि समाज कार्यकर्ता में परानुभूति की क्षमता है तो वह निर्धनों एवं वंचितों की समस्याओं को ज्यादा अच्छी तरह से समझ सकता है तथा उनके समाधान हेतु उपयोगी उपाय भी बता सकता है। ऐसा माना जाता है कि यदि हमारे देश में सभी लोगों में परानुभूति का विकास हो जाए तो अनेक समस्याओं का समाधान स्वत: हो जाएगा। परानुभूति के माध्यम से हम निर्धनों, वंचितों, दलितों तथा अन्य ऐसे वर्गों के लोगों के दु:ख-दर्द को भली-भाँति समझ सकते हैं तथा उनसे केवल सहानुभूति ही प्रकट न कर उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति में सुधार करने में सहायता दे सकते हैं।

5.4 अहम् शक्ति की अवधारणा

अहम् मस्तिष्क का वह भाग है जिसके द्वारा व्यक्ति अपना मानसिक सन्तुलन बनाए रखता है। व्यक्ति में ऐसी अनेक मूलपवृत्तियाँ होती हैं जो सन्तुष्ट होने के लिए चेतन में आने का प्रयत्न करती हैं, परन्तु अहम् ऐसा करने से रोकता है क्योंकि उन्हें सामाजिक स्वीकृति प्राप्त नहीं होती है। फ्रायड द्वारा प्रतिपादित व्यक्तित्व के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार मस्तिष्क के मनोवैज्ञानिक उपकरण को कार्य करने, सोचने, अनुभव करने, याद रखने हेतु किसी मानसिक ऊर्जा की आवश्यकता होती है। यह मानसिक ऊर्जा किसी-न-किसी मूलप्रवृत्ति या प्रेरणा द्वारा उपलब्ध कराई जाती है। मस्तिष्क को मिलने वाली यह मानसिक ऊर्जा ही मानव क्रियाओं में प्रतिफलित होती है।

मानव में अनेक आधारभूत मूलप्रवृत्तियाँ होती हैं जो मानवीय व्यवहार को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इस प्रकार, मनोवैज्ञानिक निश्चयवाद में मानवीय व्यवहार के निर्धारण में अचेतन इच्छाओं की महत्ता को स्वीकार किया गया है। जो अनगिनत इच्छाएँ, अभिप्रेरणाएँ एवं संघर्ष अचेतन मन में होते हैं वे व्यक्ति के वास्तविक व्यवहार को प्रभावित करते हैं। फ्रायड ने मन को तीन भागों में बाँटा है-अचेतन, अवचेतन तथा चेतन। मानव मस्तिष्क का एक बड़ा भाग अचेतन अवस्था में होता है जिसमें अपूर्ण इच्छाएँ, जो चेतन मस्तिष्क के लिए दु:खदायी हो सकती हैं, दबी रहती हैं। इन दमित इच्छाओं का मानव व्यवहार के निर्धारण में महत्वपूर्ण स्थान होता है।

चेतन, अवचेतन तथा अचेतन में संघर्ष चलता रहता है। फ्रायड के सिद्धान्त की यह मान्यता है कि अचेतन सदैव गतिशील होता है तथा मानसिक ऊर्जा का प्रयोग कहीं-न-कहीं अवश्य होना है। यद्यपि अचेतन संघर्षों को

चेतन जागरूकता से अलग रखने का प्रयास किया जाता है, तथापि ये संघर्ष स्वप्नों, भूलवश वास्तविकता बता देने जैसे मनोकायिक लक्षणों द्वारा प्रतिलक्षित होते रहते हैं। अचेतन मन में अन्तर्दृष्टि ही एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा संघर्षों का समाधान हो सकता है तथा मनुष्य को चिकित्सीय राहत मिल सकती है। इसके लिए चेतन मन द्वारा उन मूल्यों का प्रयोग किया जा सकता है जिनसे अचेतन मन शान्त हो सके। इसी आधार पर मानवीय मनोविज्ञान (Humanistic psychology) की धारणा का भी विकास हुआ है।

NOTES

5.5 अहम् शक्ति का अर्थ

मस्तिष्क की संरचना इसके तीन भागों-इड, इगो एवं सुपर-इगो से होती है। इड व्यक्ति की सब इच्छाओं को जन्म देता है। इसका वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इगो अर्थात् अहम् की व्याख्या 'आत्म-चेतन बुद्धि' के रूप में की जाती है। यह चेतन होती है और इसी कारण वास्तविकता से निकट रूप से सम्बन्धित होती है। सुपर-इगो ही इड एवं इगो दोनों को ही नैतिकता, आदर्श एवं धर्म के बारे में अवगत कराता है। इड, इगो तथा सुपर-इगो तीनों में संघर्ष चलता रहता है। किसी परिस्थिति में मनुष्य किस प्रकार का व्यवहार करेगा, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि इस संघर्ष में कौन विजयी होगा।

फ्रायड द्वारा प्रतिपादित व्यक्तित्व के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार अहम् शक्ति व्यक्ति की वह क्षमता है जिसके द्वारा वह इड, सुपर-इगो तथा वास्तविकता से सम्बन्धित माँगों को प्रभावपूर्ण ढंग से निपटाता है। जिन व्यक्तियों में अहम् शक्ति कमजोर होती है वे इन माँगों के सामने घुटने टेक देते हैं, जबकि अहम् शक्ति वाले लोग इन माँगों के प्रति अधिक दृढ़ एवं अनम्य (Unyielding and rigid) होते हैं। अहम् शक्ति हमें भावात्मक स्थिरता बनाए रखने तथा आन्तरिक एवं बाहरी तनावों का सामना करने में सहायता प्रदान करती है। यह शक्ति हमारे नैतिक एवं आदर्शात्मक प्रतिमानों में सन्तुलन बनाए रखने में सहायक होती है।

बोध प्रश्न

1. परानुभूति का अर्थ स्पष्ट करो?

....

....

....

....

2. अहम शक्ति की अवधारणा को स्पष्ट करो?

....

....

....

....

5.6 समाज कार्य में अहम् शक्ति की भूमिका

व्यक्तित्व विकास तथा मनोचिकित्सा में बढ़ती रुचि के परिणामस्वरूप 'अहम् शक्ति' एवं 'अहम् दुर्बलता' की अवधारणाएँ अत्यन्त चर्चित हो गई हैं। अहम् शक्ति व्यक्ति की वह क्षमता है जिसके आधार पर वह आवेगों को नियन्त्रित करता है तथा अपने पर्यावरण पर नियन्त्रण रखने का प्रयास करता है। अन्य शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि अहम् शक्ति व्यक्ति की वह क्षमता है जिसके माध्यम से वह बाद में मिलने वाले पारितोषण को प्राप्त करने हेतु भावात्मक सन्तुलन बनाए रखता है। अहम् शक्ति के आधार पर व्यक्ति अच्छा मानसिक स्वास्थ्य बनाए रखने में सफल होता है। यह अहम् के अनेक गुणों द्वारा सम्भव हो पाता है। इन गुणों में दु:ख या नुकसान,

असन्तोष, शर्म अथवा अपराध-बोध को सहन करने की क्षमता; गुस्से के स्थान पर उन व्यक्तियों को भूल जाने की क्षमता जिन्होंने अहम् को नुकसान पहुँचाने का प्रयास किया है; विकल्पों को स्वीकार करने तथा पारितोषण को कुछ समय तक टालने की क्षमता; लक्ष्यों को प्राप्त करने की दृढ़ता; अनुकूलन हेतु खुलापन, लचीलापन एवं रचनात्मकता; जीवन की क्रियाओं में तेजस्विता एवं शक्ति आदि प्रमुख हैं। अहम् शक्ति की असफलता की अवस्था में व्यक्ति अपनी सुरक्षा के लिए अतार्किक एवं अचेतन सुरक्षात्मक उपायों का प्रयोग करने लगता है। इस प्रकार की युक्तियों द्वारा व्यक्ति अपने व्यवहार को तार्किक बनाने का प्रयास करता है और समाज द्वारा अस्वीकृत उत्प्रेरकों को सही मानता है। वह अहम् की रक्षा के लिए प्रक्षेपण, प्रतिगमन, अस्वीकृति, स्थानापन्न, प्रतिक्रिया निर्माण आदि युक्तियों का प्रयोग सर्वोत्तम रूप से करता है।

समाज कार्यकर्ता लोगों के समाज द्वारा स्वीकृत अनुकूलन के ढंगों तथा अतार्किक सुरक्षात्मक उपायों द्वारा अनुकूलन में अन्तर स्पष्ट करता है। वह उनकी अहम् शक्ति का मूल्यांकन करता है तथा वर्तमान स्थितियों का उनकी दृष्टि से मूल्यांकन करता है। कार्यकर्ता अहम् की कार्य प्रणाली तथा कार्यात्मकता के अध्ययन तथा निदान द्वारा लोगों की शक्ति, विचार-पद्धति, प्रत्यक्षीकरण, मनोवृत्ति आदि की जानकारी प्राप्त करता है। इस ज्ञान के आधार पर उसे चिकित्सा प्रक्रिया निश्चित करने में सुविधा होती है।

व्यक्तित्व में पाई जाने वाली शक्तियों के तीन कार्य होते हैं-जीवन शक्तियों की सन्तोषपूर्ण अभिव्यक्ति, ऐच्छिक अथवा स्वचालित प्रतिबन्ध व्यवस्था का कार्यान्वयन तथा संगठन एवं प्रशासन व्यवस्था (जो सन्तुलन स्थापित करने का कार्य करती है तथा वह क्या चाहता है और क्या कर सकता है) के बीच नियन्त्रण स्थापित करना। फ्रायड के मतानुसार अहम् व्यक्तित्व की उन शक्तियों का द्योतक है जिनके द्वारा व्यक्ति अपना मानसिक सन्तुलन बनाए रखता है, जबकि सुपर-इगो व्यक्तित्व की उन शक्तियों का परिचायक है जो सामाजिक मान्यताओं के अनुसार व्यवहार करने के लिए नियन्त्रण लागू करती है।

वास्तविकता की जानकारी करने तथा इड और सुपर-इगो के बीच सन्तुलन स्थापित करने के कारण अहम् की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। डेविसन के मत में, "अहम् व्यक्तित्व के चेतन रूप से कार्य करने वाले अंश को व्यक्त करता है और दूसरों के साथ सम्प्रेषण करता है।" फ्रीडलैण्डर के अनुसार, "अहम् की अवधारणा ऐसी अभ्यन्तर शक्तियों को सम्बोधित करती है जो व्यक्ति की विभिन्न तथा कभी-कभी एक-दूसरे के साथ एवं बाह्य संसार की माँगों के साथ संघर्षपूर्ण आवश्यकताओं एवं मूल्यों के साथ सन्तुलन बनाए रखने के लिए निरन्तर प्रयास करती है।"

अहम् परिणामों के विषय में सोचता है, उन स्थितियों का मूल्यांकन करता है जो घटित नहीं हुई होती तथा समाधान के उपाय निर्धारित करता है। अहम् के अग्रलिखित प्रमुख कार्य होते हैं-

1. प्रत्यक्षीकरण (सही/विघटित),
2. सोच समझ कर/जल्दबाजी में निर्णय (तार्किक/अतार्किक),
3. वास्तविकता परीक्षण (वास्तविक स्थिति पर ध्यान अथवा कल्पना का सहारा),
4. आत्मनिर्णय (वास्तविक/चढ़ा-चढ़ाकर/अव्यवस्थित),
5. मूलप्रवृत्तियों पर नियन्त्रण (बहुत कम/बहुत अधिक),
6. क्रिया संगठन (व्यवस्थिति/अव्यावहारिक),
7. विचार (तर्कपूर्ण/अतार्किक) तथा
8. सुरक्षात्मक उपायों का प्रयोग (सीमा तथा प्रकार)।

अहम् का ज्ञान तथा अहम् शक्ति का मूल्यांकन व्यक्ति को समझने तथा उसे सहायता प्रदान करने के लिए आवश्यक है। वैयक्तिक समाज कार्यकर्ता लोगों की समस्या के वास्तविक कारणों तथा इसके समाधान हेतु उनके द्वारा किए गए प्रयासों को जानने तथा विगत कार्यात्मकता का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करता है। यदि उसे यह पता चलता है कि लोगों के विगत जीवन में विघटित प्रत्यक्षीकरण के अनुभव प्राप्त हुए हैं, उसके द्वारा

ज्ञान का समुचित उपयोग नहीं किया गया है तथा वह सामान्य समस्याओं के समाधान में असफल रहा है तो वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि लोगों की अहम् शक्ति दुर्बल है और वह इसे सुदृढ़ बनाने का प्रयास करता है।

5.7 आध्यात्मिकता एवं समाज कार्य

NOTES

आध्यात्मिक शब्द 'अध्यात्म' शब्द का विशेषण है। अध्यात्मक का सामाजिक अर्थ है अधि आत्म अर्थात् जो आत्मा से घिरा हुआ हो। भारतीय दर्शन के अन्तर्गत आत्मा को अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द का पर्याय माना गया है। धार्मिक रचनाओं में चित्, आध्यात्मिक, आध्यात्मिकता शब्द सदा ही विद्यमान रहते हैं। ये शब्द धुँधली और भूत-प्रेत सम्बन्धी ऐसी वस्तुओं की ओर संकेत करते हैं, जिनकी सत्ता पर लोग सन्देह करने लगे हैं। किन्तु इन शब्दों का निश्चित अर्थ है। यह अर्थ न तो भूत-प्रेत से सम्बन्धित है और न ही रहस्यपूर्णता से। ये शब्द सर्वोच्च महत्व की वस्तुओं की ओर निर्देश करते है। चित् मनस् से कोई भिन्न वस्तु नहीं है, वरन् मनस् को मूल्य के दृष्टिकोण से देखना ही चित् है। सान्तयाना ने कहा है कि आदर्श को सामने रखकर जीना ही आध्यात्मिक होता है। आध्यात्मिकता का अर्थ और उसका धर्म-मीमांसा से जो सम्बन्ध है उसे ड्रेक (Drake) ने इन शब्दों में सबसे अच्छी तरह व्यक्त किया है-

हृदय और संकल्पशक्ति की उस वृत्ति को, जिसके द्वारा मनुष्य सर्वोच्च वस्तुओं की ओर ध्यान देता है

तथा दिखावटी पहलुओं और जीवन की आकस्मिक घटनाओं से ऊपर उठकर आन्तरिक शान्ति और सौम्यता से जीवन व्यतीत करने को उद्यत होता है, हम उसे उसके आन्तरिक स्वरूप में आध्यात्मिकता कहते हैं, जब वह बाह्य रूपों और संस्थाओं में व्याप्त हो सम्पूर्ण समाज में फैल जाती है तो उसे हम धर्म कहते हैं।

इस प्रकार, धर्म अपने रहस्यमय, सैद्धान्तिक और दिव्य कथन की विशेषता को खो देता है और वह जरूरतमन्द आत्मा की स्वाभाविक प्रतिक्रिया बन जाता है। यह कोई ऐसी बात नहीं है जिसकी 'सत्यता' पर हम संशय करें और उसके लिए तर्क और प्रमाण खोजें। यह उच्च मूल्यों की जगह और उनसे एक प्रकार का सहज सहानुभूति और उनकी कामना करने की मान्यता पर आधारित है। परम्परागत रूप से धर्म आध्यात्मिकता को धार्मिक अनुभव का अभिन्न पहलू के रूप में स्वीकार करता है इसीलिए अनेक विद्वान् आज भी आध्यात्मिकता को धर्म के समानार्थक रूप में प्रयोग करते हैं। विश्व में लौकिकीकरण की लहर ने आध्यात्मिकता को विस्तृत अर्थ प्रदान किया है। इसका सम्बन्ध अन्तिम अथवा अभौतिक यथार्थता से है जिसके द्वारा व्यक्ति उन मूल्यों एवं अर्थों को ढूँढने का प्रयास करता है जिनके द्वारा वह अपना जीवन व्यतीत करता है। इससे उसका आन्तरिक जीवन विकसित होता है तथा वह अपने आपको बृहत् वास्तविकता से जुड़ा हुआ महसूस करता है। आध्यात्मिकता को जीवन में प्रेरणा या अवस्थिति के स्रोत के रूप में अनुभव किया जाता है। इसमें सर्वव्यापी यथार्थताओं अथवा सर्वव्यापी या विश्व की मीमांसात्मक प्रकृति के बारे में अनुभव (Belief in immaterial realities or experiences of the immanent or transcendent nature of the world) सम्मिलित होते है। केनडा (Canda) के मतानुसार आधुनिक समाज में समाज कार्यकर्ताओं को सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक रूप में अतिसंवेदनशील होना आवश्यक है। उन्होंने समाज कार्य से सम्बन्धित सेवा हेतु आध्यात्मिक-संवेदनशील परिप्रेक्ष्य (Spiritually-sensitive approach) अपनाने पर बल दिया है। समाज कार्य में आध्यात्मिकता का प्रयोग अनेक प्रकार से समाज कार्यकर्ताओं, व्यक्तियों तथा समुदायों में आध्यात्मिक जागरूकता से ही सम्बन्धित है इसीलिए आज ऐसे कार्यकर्ताओं की माँग अधिक है जो आध्यात्मिकता एवं समाज कार्य दोनों मे ही प्रशिक्षित हों। आध्यात्मिकता पारस्परिक उत्तरदायित्व की भावना को प्रेरित करती है। आध्यात्मिक-संवेदनशील समाज कार्यकर्ता मानव अस्तित्व की अवस्थाओं तथा उनमें होने वाले परिवर्तनों को समझता है तथा इसीलिए वह परस्पर विरोधी विचारों से भ्रमित नहीं होता। वे पारस्परिक लाभ एवं सामाजिक न्याय की आचार-संहिता को बढ़ावा देने में अधिक सहायक होते है। वे सामाजिक रूप से न केवल सक्रिय होते हैं, अपितु सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं के साथ सामंजस्य रखकर कार्य करने में भी सक्षम होते है।

बोध प्रश्न

1. अहम के प्रमुख कार्य लिखो?

....

....

....

....

2. अध्यात्म शब्द का अर्थ स्पष्ट करो?

....

....

....

....

....

5.8 समाज कार्य के लक्ष्य एवं प्रकार्य

समाज कार्य समाज, जिस रूप में वह आज विद्यमान है, का अध्ययन है जिसमें यह समझने का प्रयास किया जाता है कि हम इस अवस्था तक कैसे पहुँचे है तथा भविष्य में समाज का क्या रूप होगा इसीलिए हमें समाज के सदस्य होने के नाते अपने आपको समझने के साथ-साथ विश्व परिदृश्य को समझना भी अनिवार्य हो जाता है। समाज कार्यकर्ता लोगों को अपने बारे में समझने तथा ऐसे समाज का निर्माण करने में सहायता प्रदान करते हैं जिसमें निर्धनता एवं लालच के स्थान पर समानता अधिक होगी। इससे इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि समाज कार्य के लक्ष्यों एवं प्रकार्यों में काफी व्यापकता पाई जाती है। इसके लक्ष्यों एवं प्रकार्यों को निम्न पांच श्रेणियों में विभाजित किया जाता है-

1. **उपचारात्मक प्रकार्य** - इन प्रकार्यों के अन्तर्गत समस्या की प्रकृति के अनुसार उपचारात्मक कार्यों को सम्मिलित किया जाता है ताकि समस्या से ग्रसित व्यक्ति या समूह का उपचार हो सके। उदाहरणार्थ, चिकित्सकीय सेवाएँ, स्वास्थ्य सेवाएँ, मनोचिकित्सकीय एवं मानसिक आरोग्यता से सम्बन्धित सेवाएँ तथा अपंग एवं निरोग व्यक्तियों के लिए सेवाएँ उपचारात्मक सेवाएँ ही हैं। समाज कार्य के उपचारात्मक प्रकार्यों का उद्देश्य सामाजिक समस्याओं को समाप्त करना तथा इनसे ग्रसित लोगों का सुधार करना है। इस प्रकार्य हेतु प्रशिक्षित समाज कार्यकर्ताओं की आवश्यकता होती है जो समस्या को समझकर अनुकूल उपचार कर सकें। सेवार्थी की समस्या का उपचार सामान्यतः दो प्रकार से होता है-प्रथम, वैयक्तिक समाज कार्यकर्ता द्वारा सेवार्थी के पर्यावरण आशोधन द्वारा तथा द्वितीय, वैयक्तिक समाज कार्य साक्षात्कार के माध्यम से स्वयं सेवार्थी में परिवर्तन लाकर। पहले में सेवार्थी के बाहरी प्रभावों को कम करने अथवा उन साधनों को उपलब्ध कराने का प्रयास किया जाता है जिससे उसकी जीवन पद्धति में परिवर्तन हो सके। दूसरे में सहायक उपचार सेवार्थी की चिन्ताओं एवं शक्तिहीनता को कम करने का प्रयास किया जाता है।

2. **सुधारात्मक एवं पुनर्वास प्रकार्य** - इन प्रकार्यों के अन्तर्गत समाज कार्य से सम्बन्धित सुधार एवं पुनर्वास सेवाओं एवं कार्यक्रमों को सम्मिलित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, कारागार सुधार सेवाएँ, परिवीक्षा एवं कारावकाश, बन्दियों को रोजगार प्रशिक्षण, बन्दियों का रिहाई के बाद पुनर्वास इत्यादि सेवाएँ इस श्रेणी में रखी जाती है। इसी भाँति, अधिकांश विद्वानों का अब यह मत है कि अपराध नहीं वरन् अपराधी महत्वपूर्ण है, इसलिए वे अपराधी के पुनर्वास में विश्वास रखते हैं। इस दृष्टि से निर्मित दण्ड का सुधारात्मक सिद्धान्त अधिक पुराना सिद्धान्त नहीं है। इसी सिद्धान्त के अनुसार जेल-सुधारों के कार्यक्रम बनाए गए है जिसमें अपराधी को प्रत्येक प्रकार से एक अच्छा नागरिक बनाने का प्रयास किया जाता है ताकि वह नष्ट न हो, बल्कि समाज में एक जिम्मेदार व्यक्ति के रूप में कार्य करता रहे। यही दण्ड की सच्ची अपील एवं नैतिक दृष्टिकोण है। सेथना (Sethna) का कहना है कि अपराधी को यह ज्ञात करा देना चाहिए कि दण्ड वास्तव में उसे उचित ही दिया गया है चूँकि सुधार तभी हो सकता है, जबकि अपराधी स्वयं दिल व दिमाग से इसे स्वीकार कर ले। व्यक्ति को अपराधी बनाने में सामाजिक परिस्थितियों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है और इसीलिए सुधारात्मक विद्वान् यह स्वीकार करते हैं कि अपराधी को सुधारने एवं उसका पुनर्वास करने का दायित्व भी समाज का ही है। सुधार सेवाओं के अन्तर्गत ही

परिवार कल्याण सेवाओं, विद्यालय समाज कार्यों एवं औद्योगिक समाज कार्यों का निरूपण किया जा सकता है। रोजगार सम्बन्धी सेवाएँ, वेश्यावृत्ति एवं मद्यपान (मादक द्रव्य व्यसन सहित) निवारण कार्यों, भिक्षावृत्ति निवारण कार्यों, दहेज उन्मूलन सम्बन्धी कार्यों तथा समाज के एकीकरण को प्रोत्साहित करने से सम्बन्धित सेवाओं को भी सुधार सेवाएँ ही कहा जाता है। विस्थापितों का पुनर्वास इसी श्रेणी का समाज कार्य है।

3. **समर्थन प्रकार्य** - समाज के पिछड़े वर्गों का कल्याण तथा उन्हें अन्य वर्गों के समान आने के लिए विशेष सुविधाएँ प्रदान करना कल्याणकारी राज्य का प्रमुख कार्य माना जाता है। समर्थन प्रकार्यों द्वारा समाज इन वर्गों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति में सुधार कर उन्हें अग्रणी वर्गों के बराबर लाने का प्रयास करता है इसीलिए समर्थन कार्यक्रमों में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए लोकसभा तथा राज्य विधानमण्डलों में आरक्षित स्थानों की व्यवस्था, सेवाओं में आरक्षण की सुविधाएँ, कल्याण व सलाहकार एजेन्सियों की स्थापना, संवैधानिक संरक्षणों के क्रियान्वयन की जाँच हेतु संसदीय समिति का गठन, अनुसूचित जनजातियों के बीच कार्य कर रहे गैर-सरकारी स्वैच्छिक संगठनों को अनुदान प्रदान करना, अनुसूचित जनजातियों को शिक्षण व प्रशिक्षण हेतु विशेष सुविधाएँ उपलब्ध कराना, पंचवर्षीय योजनाओं में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के विकास हेतु विशेष प्रावधान, अनुसूचित जाति और जनजाति की महिलाओं और बच्चों के बारे में केन्द्रीय कल्याण राज्यमन्त्री की अध्यक्षता में सलाहकार बोर्ड की स्थापना आदि कार्यों को प्रमुखता प्रदान की जा रही है।

4. **निरोधात्मक प्रकार्य-** सुप्रसिद्ध कहावत है कि 'उपचार या सुधार से निरोध श्रेष्ठतर है' (Prevention is better than cure) इसीलिए इन कार्यों के अन्तर्गत उन कार्यों को सम्मिलित किया जाता है जिनसे समस्यामूलक परिस्थितियाँ विकसित ही न हों। सामाजिक नीतियों, सामाजिक अधिनियमों, जनचेतना उत्पन्न करने से सम्बन्धित विभिन्न शैक्षिक कार्यक्रमों, विभिन्न प्रकार के कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रमों तथा नाना प्रकार की समाज सुधार सेवाओं को समाज कार्य के निरोधात्मक प्रकार्य माना जाता है। अपराध का निरोधार्थ दण्ड-सिद्धान्त दण्ड का सही उद्देश्य समाज से अपराध का निरोध करना मानता है। 'अपराध निरोध' एक व्यापक अवधारणा है जिसमें एक ओर अपराधी का सुधार व पुनर्वास सम्मिलित है तो दूसरी ओर नए अपराधों की रोकथाम निहित है। इस दृष्टिकोण के प्रतिपादकों का मत है कि दण्ड अपराध निरोध के व्यापक प्रोग्राम का एक अंग है। दण्ड इस प्रकार दिया जाना चाहिए कि अपराधी का उपचार व सुधार हो, वह अपने कुकृत्य का प्रायश्चित करे तथा समाज में उसका पुनर्वास हो सके; जिससे अन्य व्यक्तियों को भी अपराध न करने की प्रेरणा मिले।

5. **विकासात्मक एवं उन्नायक प्रकार्य** - इनके अन्तर्गत आर्थिक विकास के विविध प्रकार के कार्यक्रमों; यथा-उत्पादकता की दर में वृद्धि करने, राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय को चढ़ाने, आर्थिक लाभों का साम्यपूर्ण वितरण करने, उपभोक्ताओं के हितों का संरक्षण करने इत्यादि तथा सामाजिक उन्नयन के अनेक कार्यक्रमों में पेयजल, पौष्टिक आहार, स्वास्थ्य सेवाओं, शिक्षा एवं प्रशिक्षण सम्बन्धी सेवाओं, सेवायोजन सम्बन्धी सेवाओं, मनोरंजन सम्बन्धी सेवाओं को सम्मिलित किया जाता है। वस्तुत: एक व्यवहारात्मक विषय होने के नाते समाज कार्य का लक्ष्य समाज का विकास तथा लोगों का उन्नयन करना भी है।

परानुभूति का अर्थ है किसी अन्य व्यक्ति के व्यक्तित्व में काल्पनिक रूप से प्रवेश करके उसके अनुभव, समस्याओं तथा उसके सामाजिक स्तर को समझना। परानुभूति की तीन श्रेणियाँ संज्ञानात्मक परानुभूति, प्रतिक्रियाशील परानुभूति तथा समान्तर परानुभूति है। परानुभूति द्वारा समाज कार्य में दूसरे व्यक्तियों के अनुभवों व परिस्थितियों को पहचाना जा सकता है।

अहम व्यक्ति की सब इच्छाओं को जन्म देता है एवं उसका वास्तविकता से कोई संबंध नहीं होता। अहम शक्ति द्वारा व्यक्ति आवेगों पर नियंत्रण करता है। समाजकार्य के चार लक्ष्य होते हैं, उपचारात्मक, सुधारात्मक समर्थन व विकासात्मक लक्ष्य।

बोध प्रश्न

1. सुधारात्मक प्रकार्य को स्पष्ट करो?

....

....

....

....

....

2. विरोधात्मक प्रकार्य से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

....

5.9 शब्दावली

परानुभूति - व्यक्ति द्वारा किसी अन्य व्यक्ति के व्यक्तित्व, भावनाओं तथा प्रेरणाओं को पहचानने एवं समझने की कला को परानुभूति कहा जाता है।

अहम् शक्ति - अहम् शक्ति व्यक्ति की वह क्षमता है जिसके द्वारा वह इड, सुपर-इगो तथा वास्तविकता से सम्बन्धित माँगों को प्रभावपूर्ण ढंग से निपटाता है।

आध्यात्मिकता - हृदय और संकल्पशक्ति की उस वृत्ति को आध्यात्मिकता कहते हैं जिसके द्वारा मनुष्य सर्वोच्च वस्तुओं की ओर ध्यान देता है तथा दिखावटी पहलुओं और जीवन की आकस्मिक घटनाओं से ऊपर उठकर आन्तरिक शान्ति और सौम्यता से जीवन व्यतीत करने को उद्यत होता है।

समाज कार्य - समाज कार्य ऐसी व्यावसायिक सेवाओं का विधान है जिसके द्वारा व्यक्ति, समूह एवं समुदाय की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु विभिन्न प्रकार के साधनों को वैज्ञानिक पद्धतियों द्वारा इस प्रकार जुटाया जाता है कि व्यक्ति अपनी सहायता स्वयं कर सके।

5.10 अभ्यास प्रश्न

दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. परानुभूति का अर्थ स्पष्ट कीजिए तथा समाज कार्य में इसकी भूमिका बताइए।
2. अहम् शक्ति क्या है? समाज कार्य में इसकी क्या भूमिका है?
3. समाज कार्य के प्रमुख लक्ष्यों एवं प्रकार्यों की विवेचना कीजिए।

लघुउत्तरीय प्रश्न

1. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए-

    (अ) सामाजिक सम्बन्ध

    (ब) आध्यात्मिकता एवं सामाजिक कार्य

    (स) मानव जीवन में आवश्यकताओं का महत्व।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. समाज कार्य के प्रकार्य कितने हैं–

    (अ) पाँच (ब) छः (स) सात (द) आठ

उत्तर 1. (अ)

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

NOTES

Bierstedt, Robert, The Social Order, New York : McGraw-Hill, 1963.

Canda, E. R., Spirituality in Social Work : New Directions, Binghamton, New York : Haworth Press, 1998.

Canda, E. R. and L. E. Furman, Spiritual Diversity in Social Work Practice : The Heart of Helping, New York : Free Press, 1999.

Canda, E. R. and E. D. Smith (eds.), Transpersonal Perspectives on Spirituality in Social Work, Binghamton, New York : Haworth Press, 2001.

Derezotes, D. S., Spiritually Oriented Social Work Practice, Boston : Pearson Fducation Inc., 2006.

Drake, Durant, Problems of Religion : An Introductory Survey, Boston : The Riverside Press, 1916.

Goldstein, A. P., and Michaels, G. Y., Empathy : Development, Training, and Consequences, Hilldsale, NJ : Erlbaum, 1985.

Lindgren, H. C., An Introduction to Social Psychology, New Delhi: Wiley Eastern Limited, 1973.

Linton, R., Readings in Social Psychology, Englewood Cliffs, NJ : Prentice-Hall, 1936.

MacIver, R. M. and Page C. H., Society : An Introductory Analysis, New York: Holt Rinehart and Winston, 1949.

Maslow, Abraham H., Toward a Psychology of Being, New York : D. Van Nostrand Company, 1968.

●●●

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

अध्याय – 6 स्वयंसेवी संगठन (SELF HELP GROUP)

NOTES

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 संगठन की अवधारणा
6.3 संगठन के प्रकार
6.4 स्वयंसेवी संगठनों का अर्थ
6.5 स्वयंसेवी संगठनों की भूमिका
6.6 स्वयंसेवी संगठनों का मूल्यांकन
6.7 सारांश
6.8 शब्दावली
6.9 अभ्यास प्रश्न
सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

6.0 उद्देश्य

आधुनिक प्रजातान्त्रिक राज्यों का प्रमुख लक्ष्य केवल शासन करना ही नहीं है, अपितु जनता का कल्याण भी है। इसी से कल्याणकारी राज्य की अवधारणा का उदय हुआ है जिसने राज्य के विषय-क्षेत्र को अत्यन्त व्यापक कर दिया है। कल्याणकारी राज्य के सन्दर्भ में कल्याण से हमारा तात्पर्य राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से व्यक्तियों के अवसर की असमानता को समाप्त कर उसकी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति की व्यवस्था करना होता है। इस व्यवस्था का उद्देश्य किसी समुदाय विशेष, वर्ग विशेष अथवा समाज के किसी अंग विशेष का हित साधन करना नहीं, वरन् उसका उद्देश्य जनता के सभी अंगों के कुछ आवश्यक हितों की साधना करना होता है। फिर भी, प्रत्येक समाज में कुछ वर्ग अन्य वर्गों से पिछड़े हुए होते हैं जिनकी ओर विशेष ध्यान दिए जाने की आवश्यकता होती है। चूँकि राज्य को अनेक कार्य करने होते हैं, इसलिए केवल राज्य ही इन कमजोर वर्गों के उत्थान के लिए सब-कुछ नहीं कर सकता। राज्य इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु अनेक स्वयंसेवी एवं गैर-सरकारी संगठनों की सहायता लेता है। इस इकाई में स्वयंसेवा संगठन की अवधारणा, इसके विभिन्न पक्षों तथा समाज कार्य में इनकी भूमिका का विवेचन किया गया है।

6.1 प्रस्तावना

वर्तमान समय में विश्व के लगभग सभी राष्ट्रों का स्वरूप कल्याणकारी हो गया है। कल्याणकारी राष्ट्र की अवधारणा ने राज्य के कार्य-क्षेत्र को अत्यधिक विस्तृत कर दिया है। कानूनों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। इन कानूनों को समुचित रूप से लागू करने का दायित्व कार्यपालिका पर आ जाता है। इस परिप्रेक्ष्य में लोक सेवकों (नौकरशाहों) की प्रशासन में भूमिका और भी महत्वपूर्ण हो जाती है। वर्तमान में राज्य का यह दायित्व है कि वह समाज के गरीब एवं पिछड़े वर्गों, बच्चों, महिलाओं आदि के कल्याण तथा विकास के लिए नई-नई नीतियों, कार्यक्रमों तथा योजनाओं का निर्माण करे। इस उत्तरदायित्व की पूर्ति के लिए शासन को बहुत बड़ी संख्या में लोक सेवकों की आवश्यकता होती है।

6.2 संगठन की अवधारणा

संगठन शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है-गतिशील अर्थ व स्थैतिक अर्थ। गतिशील अर्थ में इसका तात्पर्य संगठन की प्रक्रिया से है और स्थैतिक अर्थ में इसका तात्पर्य संगठन के ढाँचे से लिया जाता है। संगठन एक ऐसा ढाँचा है, जिसमें उद्देश्यों की प्राप्ति के दो पदों को एक पदानुक्रम में इस प्रकार व्यवस्थित किया जाता है कि श्रम-विभाजन और विशिष्टीकरण का लाभ उठाया जा सके। 'संगठन' तथा 'सामाजिक संगठन' शब्द जितने सरल लगते है, उसकी परिभाषा देना उतना ही कठिन कार्य है क्योंकि इन शब्दों का प्रयोग विविध रूप में किया गया है। इसलिए इसका निश्चित शब्दों में अर्थ व्यक्त करना एक कठिन कार्य हो गया है। अनेक विश्लेषणकर्ता सामाजिक संगठन का अर्थ सामाजिक सम्बन्धों तथा सामान्य दृष्टिकोणों के ताने-बाने से लगा लेते हैं जिन्हें हम सामाजिक संरचना (सामाजिक सम्बन्धों के ताने-बाने को) तथा संस्कृति (सामान्य रूप से सीखा हुआ व्यवहार एवं समान दृष्टिकोण) कहते हैं। संगठन तथा सामाजिक संगठन का अर्थ निश्चित शब्दों में बताने में एक अन्य समस्या यह है कि विश्लेषणकर्ता ने इन शब्दों का प्रयोग वृहत् अर्थात् सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था का सूक्ष्म अर्थात् छोटे समूह के लिए किया है।

संगठन, सरल शब्दों में, एक संग्रह या समिष्टता है जो निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए बनाई गई है परन्तु यह एक समिति की तरह अस्थायी न होकर निरन्तरता कुछ-न-कुछ अंश में रखने के कारण समिति से भिन्न है। एक संगठन की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो इसे लक्ष्य प्राप्ति के लिए बनाए गए समूह के रूप में परिभाषित करें तो भी इसे समिति से भिन्न करती है। एक संगठन की निश्चित सीमाएँ होती हैं। इनमें मान्यताओं की एक व्यवस्था होती है तथा इनमें सत्ता, पद एवं संचार व्यवस्था विभिन्न लोगों को सामान्य लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कार्य करने के लिए प्रेरणा देते हैं। रिचार्ड एच. हाल (Richard H. Hall) के अनुसार, "एक संगठन अपेक्षाकृत निश्चित सीमाओं की व्यवस्था, सत्ता के पदों, संचार व्यवस्थाओं तथा सदस्यता समिष्टीकरण व्यवस्थाओं का संग्रह है, जोकि पर्यावरण में अपेक्षाकृत निरन्तरता के आधार पर अपना अस्तित्व बनाए हुए है तथा ऐसे कार्यों में लगा हुआ है जोकि किसी लक्ष्य अथवा लक्ष्यों के कुलक से सम्बन्धित है।" एटजियोनी (Amitai Etzioni) के अनुसार, "संगठन सामाजिक इकाइयाँ (अथवा मानवीय समूह) हैं जिनका निर्माण तथा पुनर्निर्माण जागरुक रूप से निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए किया जाता है।" रिचार्ड डब्ल्यू0 स्कोट (Richard W.Scott) के अनुसार, "संगठनों की परिभाषा उन समूहों के रूप में दी जा सकती है जिनका निर्माण अपेक्षाकृत निरन्तरता के आधार पर निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए किया गया है।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि संगठन एक सामाजिक इकाई, व्यक्तियों का समूह अथवा संग्रह है जिसका निर्माण किसी एक विशिष्ट लक्ष्य अथवा अनेक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए सोच-विचार करके किया जाता है। संगठन को लक्ष्य प्राप्ति के लिए निरन्तर आयोजित करना पड़ता है। एटजियोनी ने यह स्पष्ट किया है कि सामाजिक वर्ग, जनजातियाँ, धार्मिक समूह, मित्र-मण्डलियाँ तथा परिवार इत्यादि संगठन के उदाहरण नहीं हैं, अपितु निगम, सेना, स्कूल, अस्पताल, गिरजाघर तथा जेल इत्यादि संगठन के कुछ उदाहरण हैं। सामाजिक समूहों के विपरीत संगठन अपनी प्रकृति तथा भाग्य पर अधिक नियन्त्रण रखते हैं।

संगठन शब्द को कई बार 'अधिकारीतन्त्र', 'औपचारिक संगठन', 'जटिल संगठन', 'आधुनिक संगठन' तथा 'संस्था' शब्दों के लिए पर्यायवाची रूप में प्रयोग किया गया है तथा इसीलिए संगठन शब्दों को सरल अर्थों में परिभाषित करने का कार्य कठिन हो गया है। संगठन तथा अधिकारीतन्त्र को पर्यायवाची नहीं माना जा सकता क्योंकि एक तो सामान्य नागरिक के लिए अधिकारीतन्त्र शब्द नकारात्मक है एवं अधिक अर्थपूर्ण प्रतीत नहीं होता है, जबकि संगठन एक तटस्थ शब्द है तथा दूसरे यह कि अनेक संगठन अधिकारीतन्त्र के तकनीकी अर्थ में इससे भिन्न है। उदाहरण के लिए-अस्पताल में निर्णय लेने का कोई एक केन्द्र नहीं होता, जबकि अधिकारीतन्त्र की परिभाषानुसार ऐसा होना अनिवार्य है इसीलिए एटजियोनी ने संगठन को अधिक उपर्युक्त बताया है।

कुछ विद्वानों ने संगठन के आगे 'जटिल', 'बड़े पैमाने पर', 'औपचारिक' विशेषण को जोड़कर इसे और कठिन शब्द बना दिया है। पीटर एम. ब्लाउ तथा रिचर्ड स्कोट ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि क्योंकि औपचारिक संगठन सामान्यतया अधिक बड़े तथा जटिल हैं इसलिए इन्हें 'बड़े' अथवा 'जटिल' संगठनों की संज्ञा दे दी गई है। साथ ही क्योंकि कुछ संगठन अनौपचारिक हो सकते हैं इसीलिए औपचारिक विशेषण को भी सदैव संगठन के साथ लगाना उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त संगठनों के आकार तथा जटिलता में काफी भिन्नता होती

है इसलिए इनके साथ किसी भी प्रकार का विशेषण लगाना उचित नहीं लगता। हाँ, इतना सत्य है कि आधुनिक समाजों में पाए जाने वाले संगठन अर्थात् आधुनिक संगठन जटिल एवं बड़े संगठन हैं। संगठन क्योंकि औपचारिकता के अंश में भी एक दूसरे से भिन्न है इसलिए रिचार्ड हाल ने संगठन शब्द को ही अधिक उचित बताया है। अगर हम 'सामाजिक संगठन' शब्द का प्रयोग करें तो इसका कार्य अत्यधिक व्यापक हो जाता है।

कई बार 'संस्था' शब्द का प्रयोग संगठन के लिए किया जाता है। सामान्यतया कहा जाता है कि वह अमुक संस्था में अथवा संगठन में कार्य कर रहा है। एटजियोनी का कहना है कि संस्था पूर्णतया भिन्न शब्द है क्योंकि इसमें सांस्कृतिक रूप से परिभाषित मान्यता प्राप्त नियम एवं व्यवहार सम्मिलित होता है। उदाहरण के लिए-विवाह तथा सम्पत्ति संस्थाओं के उदाहरण हैं। इसलिए संस्था तथा संगठन को पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयोग नहीं किया जा सकता है।

संगठन की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जोकि इसे व्यक्तियों के अन्य समूहों; जैसे-वर्ग, मित्र-मण्डली तथा जनजाति से पृथक् करती है। संगठन की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

1. **लक्ष्य निर्देशित समूह** - यह व्यक्तियों का एक समूह अथवा संग्रह है जो किसी एक अथवा एक से अधिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए बनाया गया है।

2. **निरन्तरता** - लक्ष्य प्राप्ति का साधन होते हुए भी संगठन अस्थायी नहीं होता है, अपितु इसका आधार कुछ-न-कुछ निरन्तरता है इसीलिए संगठन समिति से भिन्न है।

3. **जागरुक रूप से नियोजित** - संगठन अपने लक्ष्य अथवा लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए जागरुक रूप से नियोजित करता है अर्थात् इसकी कार्य प्रणाली पूर्ण नियोजन पर आधारित होती है। एटजियोनी का कहना है कि, "श्रम-विभाजन, शक्ति संचार, उत्तरदायित्व तथा विभाजन आकस्मिक अथवा परम्परा द्वारा प्रतिमानित न होकर लक्ष्यों की प्राप्ति की सम्भावना को बढ़ाने के लिए इसे जानबूझकर नियोजित किया।"

4. **शक्ति केन्द्र** - प्रत्येक संगठन की भूमिका का निरन्तर मूल्यांकन करने के लिए तथा इसकी कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए एवं संगठन पर नियन्त्रण रखने के लिए एक अथवा एक से अधिक शक्ति के केन्द्रों पर कार्य संगठन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए संगठन को दिशा प्रदान करना है।

5. **कर्मचारियों का स्थानापन्न** - प्रत्येक संगठन में कर्मचारियों की स्थानापन्न की व्यवस्था पाई जाती है अर्थात् अयोग्य एवं अकुशल कर्मचारियों को हटाया जा सकता है, उनकी सेवाएँ समाप्त की जा सकती हैं अथवा उनका कार्य अन्य व्यक्तियों को सौंपा जा सकता है। संगठन में कर्मचारियों के स्थानान्तरण तथा पदोन्नति की व्यवस्था पाई जाती है।

6. **स्थायित्व का अंश** - प्रत्येक संगठन में निर्वाह संरचनाएँ पाई जाती है जिसका प्रमुख कार्य संगठन को बनाए रखने में सहायता देना है। निर्वाह उपसंरचनाओं द्वारा संगठन में स्थायित्व का कुछ अंश पाया जाता है।

7. **औपचारिक भूमिका प्रतिमान** - संगठन में औपचारिक भूमिका प्रतिमान पाया जाता है जिसमें श्रमविभाजन के कारण भूमिकाओं का विशिष्टीकरण हो जाता है। यह औपचारिक भूमिका प्रतिमान वास्तव में संगठन की परम्परा, व्यक्तिगत वफादारी तथा चमत्कार से छुटकारा दिलाने में सहायता देती है।

8. **विचारधारा** - प्रत्येक संगठन की अपनी विचारधारा होती है जो व्यवस्था अर्थात् संगठन की मान्यताओं के निर्धारण तथा सत्ता संरचना को नियमित करने में सहायता देती है।

9. **परिवर्तनशील प्रकृति** - संगठन में निरन्तरता तथा स्थायित्व का कुछ-न-कुछ अंश होने के बावजूद इसमें व्यवस्था को बनाए रखने वाले कुछ संयन्त्र होते हैं जो संगठन की क्रियाओं को परिवर्तनशीन पर्यावरण से समायोजन करवाते रहते हैं।

10. **निश्चित नाम** - प्रत्येक संगठन का केवल उद्देश्य ही निश्चित नहीं होता, अपितु उसका नाम भी निश्चित होता है तथा यह भी निश्चित होता है कि इसके कौन-कौन से सदस्य हैं। आधुनिक संगठनों में सदस्यों की लिखित सूची होती है।

संगठन की परिभाषाओं तथा विशेषताओं से यह पूर्णरूप में स्पष्ट हो जाता है कि संगठन एक सामाजिक समूह नहीं है क्योंकि प्रत्येक सामाजिक समूह अनिवार्य रूप से संगठित नहीं होता और साथ ही यह

भी जरूरी नहीं है कि सामाजिक समूह का निर्माण केवल औपचारिक रूप में किसी लक्ष्य प्राप्ति के लिए ही किया गया हो।

बोध प्रश्न

1. संगठन से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

2. संगठन की प्रमुख विशेषताएँ लिखो?

....

....

....

6.3 संगठनों के प्रकार

संगठन उद्देश्यपूर्ण सामाजिक व्यवस्थाएँ हैं जिसमें प्रकार्यात्मक श्रम-विभाजन पाया जाता है। प्रत्येक विषय अपनी विषय-वस्तु का सुव्यवस्थित ढंग से अध्ययन करने के लिए वर्गीकरण का सहारा लेता है। संगठनों के वर्गीकरण के अनेक प्रयास किए गए है तथा इनमें विभिन्न आधारों पर संगठनों की प्रमुख श्रेणियों में विभाजित किया गया है। संगठनों का वर्गीकरण विभिन्न विद्वानों ने प्रमुख रूप से निम्नलिखित आधारों को सामने रखकर किया है-

6.3.1 कैट्ज एवं कैहन का वर्गीकरण

कैट्ज एवं कैहन ने प्रकार्यों के आधार पर संगठनों का प्रकार्यात्मक वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। प्रकार्य का अर्थ है कि संगठन समाज की एक उपव्यवस्था के रूप में क्या क्रिया कर रहा है। प्रकार्यों के आधार पर इन्होंने संगठनों को चार श्रेणियों में विभाजित किया है-

1. **उत्पादन संगठन** - इस श्रेणी में वे संगठन सम्मिलित किए जाते हैं जिनका सम्बन्ध पूँजी के निर्माण, वस्तुओं के उत्पादन, जनसाधारण को सेवाएँ उपलब्ध करवाने इत्यादि से है।

2. **निर्वाह संगठन** - इन संगठनों का उद्देश्य अन्य संगठनों अथवा समाज के लिए विभिन्न भूमिकाएँ निभाने के लिए लोगों का समाजीकरण करना है। स्कूल तथा गिरजाघर इसी श्रेणी के संगठनों के उदाहरण हैं।

3. **अनुकूल संगठन** - इन संगठनों का उद्देश्य अन्य संगठनों अथवा समाज के लिए विभिन्न भूमिकाएँ निभाने हेतु लोगों में अनुकूल वातावरण विकसित करना है। परिवार, स्कूल तथा गिरजाघर इसी श्रेणी के संगठनों में सम्मिलित किए जाते हैं क्योंकि ये व्यवहार में अनुरूपता विकसित करते हैं।

4. **राजनीतिक संगठन** - इन संगठनों का उद्देश्य साधनों का वितरण करना, समन्वय रखना तथा इन पर नियन्त्रण रखना है। राज्य एक राजनीतिक संगठन है।

6.3.2 ब्लाउ एवं स्कोट का वर्गीकरण

ब्लाउ एवं स्कोट ने संगठन के अस्तित्व के लाभ को सामने रखकर संगठनों को चार श्रेणियों में विभाजित किया है-

1. **पारस्परिक लाभ समितियँ** - इस श्रेणी में उन संगठनों को रखा जाता है जिनमें संगठन की क्रियाओं का मुख्य लाभ सदस्यों को ही होता है जैसे श्रमिक समितियाँ, राज्य, गिरजाघर तथा कोपरेटिव इत्यादि।

2. **व्यापार संस्थान** - इन संगठनों का मुख्य लाभ संगठन के मालिक को होता है। व्यापारी संगठन, जलपान गृह, बैंक इत्यादि इस प्रकार के संगठन के कुछ उदाहरण हैं।

3. **सेवा संगठन** - इन संगठनों का उद्देश्य आसामियों को लाभ पहुँचाना है। निजी व सार्वजनिक अस्पताल, सरकारी स्कूल तथा विश्वविद्यालय इत्यादि इस श्रेणी के संगठनों के उदाहरण हैं।

4. **सार्वजनिक कल्याण संगठन** - इन संगठनों से लाभ सामान्य जनता को होता है। डाकघर, म्यूनिसिपलिटी, हवाई अड्डा, शिक्षा, टेलीविजन, स्टेशन इत्यादि इस श्रेणी के संगठन के उदाहरण हैं।

6.3.3 एटजियोनी का वर्गीकरण

एटजियोनी ने अनुपालन संरचना के आधार पर संगठनों का वर्गीकरण किया है अर्थात् यह आधार माना है कि शक्ति के केन्द्र द्वारा अधीनस्थ कार्यकर्ताओं से अनुपालन कैसे करवाया जाता है। इन्होंने अनुपालन के तीन प्रकारों के आधार पर संगठनों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है-

1. **अवपीड़िक संगठन** - ऐसे संगठन जिनमें अनुपालन का आधार बल अथवा शक्ति है अर्थात् जिसमें शारीरिक या भौतिक शक्ति अथवा क्रियाओं पर प्रतिबन्ध लगा देने के आधार पर या इसकी धमकी देकर कार्य करवाया जाता है। बालाचार केन्द्र इस प्रकार के संगठन के उदाहरण हैं।

2. **पुरस्कार वितरण पर आधारित उपयोगितावादी संगठन** - इन संगठनों में अनुपालन भौतिक साधनों तथा पुरस्कारों पर नियन्त्रण तथा इनके वितरण द्वारा करवाया जाता है। डाकघर तथा स्वास्थ्य समिति इस प्रकार के संगठन के उदाहरण हैं।

3. **आदर्शात्मक संगठन** - इन संगठनों में अनुपालन का आधार प्रतीकात्मक पुरस्कारों के वितरण द्वारा होता है। चर्च तथा विश्वविद्यालय इस प्रकार के संगठन के उदाहरण हैं।

6.3.4 एकॉफ का वर्गीकरण

एकॉफ ने व्यवस्था अथवा संगठन के तथा इसके भागों के सम्बन्धों के आधार पर संगठनों को चार श्रेणियों में विभाजित किया है-

1. **सजातीय संगठन** - इन संगठनों के सदस्यों के व्यवहार में अनुरूपता पाई जाती है। सेना की टुकड़ियाँ तथा जेल इस प्रकार के संगठन हैं।

2. **विजातीय संगठन** - इस श्रेणी में उन संगठनों को सम्मिलित किया जाता है जिनके सदस्यों में विजातीयता पाई जाती है। विभिन्न राजनीतिक दल, व्यावसायिक संगठन इस श्रेणी के उदाहरण हैं।

3. **एक केन्द्रीय संगठन** - इसमें सत्ता का केन्द्र केवल एक ही होता है। निगम तथा सेना की टुकड़ियाँ इसका उदाहरण है।

4. **बहु-केन्द्रीय संगठन** - इन संगठनों का आधार सत्ता के अनेक केन्द्र होते हैं। बहुराष्ट्रीय निगम तथा गठबन्धन सरकारें इस श्रेणी के संगठनों के उदाहरण हैं।

रोथलिसबर्ग एवं डिक्सन ने औपचारिकता के आधार पर संगठनों को दो श्रेणियों-औपचारिक संगठन तथा अनौपचारिक संगठन में विभाजित किया है। औपचारिक संगठन वे संगठन हैं जिनमें श्रम-विभाजन का आधार संगठन के नियम हैं जबकि अनौपचारिक संगठनों में प्राथमिक सम्बन्ध महत्वपूर्ण होते हैं तथा व्यक्तिगत सम्बन्धों के आधार पर ही व्यक्ति निश्चित स्थिति प्राप्त करता है। एटजियोनी ने भी अपनी पुस्तक 'आधुनिक संगठन' में औपचारिक संगठनों का उल्लेख किया है। एटजियोनी के अनुसार, "तकनीकी रूप से औपचारिक संगठन को ऐसे संगठन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिनमें संगठनात्मक पदों में कार्यों तथा शक्ति का विभाजन सदस्यों के व्यवहार को निर्देशित करने के लिए प्रबन्धों द्वारा परिभाषित नियमों द्वारा होता है।" औपचारिक संगठन लिखित नियमों द्वारा निर्देशित न होकर सामाजिक मूल्यों, परम्पराओं अथवा भावनाओं द्वारा संगठित होते हैं तथा व्यक्तिगत सम्बन्ध अनौपचारिक रूप से विभेदीकृत होते हैं। वास्तव में औपचारिक तथा अनौपचारिक संगठन

के तथा अनौपचारिक में औपचारिक संगठन के कुछ अंश पाए जाते है। संगठनों के मानवीय सम्बन्धों के सिद्धान्त में भी अनौपचारिक संगठनों के संगठनात्मक व्यवहार में भावात्मक, अनियोजित, अ-तार्किक तत्वों को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। नेतृत्व का अधिक महत्व तथा संचार एवं सहभागिता का आधार भी भावनाएँ ही होती हैं। आधुनिक युग में सर्वाधिक चर्चित संगठनों में स्वयंसेवी संगठन तथा गैर-सरकारी संगठन प्रमुख माने जाते हैं।

NOTES

6.4 स्वयंसेवी संगठन का अर्थ

स्वयंसेवी संगठन (संस्था) से अभिप्राय स्वयंसेवियों के उस संगठन से है जो किसी लक्ष्य की पूर्ति हेतु निर्मित किया जाता है। इसमें प्रत्येक स्वयंसेवी अपनी स्वेच्छा से सदस्यता ग्रहण करता है तथा लक्ष्य प्राप्ति हेतु अपने कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों का निर्वहन करता है। स्वयंसेवी संगठन वह है जिसका मुख्य केन्द्र-बिन्दु विविध रूपों में सामाजिक लाभ हेतु अपनी गतिविधियों को केन्द्रित करना है न कि किसी प्रकार का लाभ कमाकर अपने सदस्यों में उसका वितरण करना। संगठन में सम्मिलित स्वयंसेवी अपनी उपलब्ध आवश्यकताओं एवं साधनों द्वारा स्वेच्छा से जरूरतमन्द व्यक्तियों की सहायता करते हैं। यह मुख्य रूप से सरकारी नियन्त्रण के बिना स्वयंसेवियों द्वारा ही नियन्त्रित होता है। ऐसे संगठनों में अधिकतर वेतनभोगी कर्मचारी नहीं होते हैं।

डेविड एल. सिल्स (David. L. Sills) के शब्दों में, "स्वंसेवी संगठन व्यक्तियों का समूह है जो बिना राज्य के नियन्त्रण के स्वैच्छिक सदस्यता के आधार पर अपने सदस्यों के सामान्य हितों को प्रोत्साहन देने हेतु संगठित होता है "Voluntary organisation is a group of persons organized on the basis of voluntary membership without state control for the furtherance of some common interest of its members.") स्वयंसेवी संगठनों का भी अपना औपचारिक संगठन होता है तथा स्वयंसेवक जानते हैं कि इसके पदाधिकारी कौन हैं तथा इसमें धन का व्यय किस रूप में किया जाना है। यद्यपि दो से अधिक व्यक्ति कभी भी स्वयंसेवी संगठन का निर्माण कर सकते हैं, तथापि इन संगठनों के निर्माण के भी कुछ औपचारिक नियम भी होते हैं।

स्वयंसेवी संस्थाओं के संचालकों के लिए सर्वप्रथम संस्था का नाम प्रस्तुत करना आवश्यक है। इस संस्था के नाम पर ही उनको अपनी संस्था का एक विधान (by-laws) बनाना भी आवश्यक है। इस विधान में संस्था के संगठन, उद्देश्यों, सेवा-क्षेत्र, कार्यक्रमों तथा वित्तीय स्थिति के सम्बन्ध में विस्तृत ब्यौरा प्रस्तुत किया जाता है। उसके पश्चात् इस विधान को प्रत्येक जिले में कार्यरत सब-रजिस्ट्रार (चिट्स एण्ड फण्ड) के कार्यालय में पंजीकृत करा दिया जाता है। संस्था का निर्माण एवं पंजीकरण करने के लिए कम-से-कम 11 (ग्यारह) सदस्यों का होना आवश्यक है जिनमें से 7 सदस्यों की कार्यकारिणी समिति होती है जो संस्था के समस्त कार्यों को पूर्ण करने के लिए उत्तरदायी होती है।

स्वयंसेवी संगठनों की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ होती हैं-

1. राज्य से स्वायत्तता (Autonomy from the State),
2. अवैतनिक न्यासियों के बोर्ड द्वारा स्वशासित (self-governance through a board of unpaid trustees),
3. पंजीकृत अथवा गैर-पंजीकृत (Registered or un-registered),
4. सदस्यता जो न तो उत्तराधिकार में मिलती है और न ही निर्धारित होती है (Membership that is neither inherited nor prescribed),
5. परोपकार से सहायता (Aid from philanthropy),
6. सदस्य स्वयंसेवियों में सहयोग (Cooperation among volunteers who are members),
7. विविध क्षेत्रों में कार्य (Work in multiple fields),
8. समाज कल्याण से सम्बन्धित कार्यक्रमों में संलग्न (Engaged in programmes based on social welfare),
9. स्वयं योजनाओं एवं कार्यक्रमों को बनाने में सक्षम (Capable of making plans and programmes by their own),
10. सामान्य जनता के अधिक नजदीक (More closer to common people),

11. गैर-सदस्यों का लाभ या उनकी सेवा (Benefit for or service to non-members), तथा
12. लाभ के लिए पूर्वाभिमुखीकरण न होना (Not-for-profit orientation)

स्वयंसेवी संस्थाओं को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है-

1. कुछ ऐसे स्वयंसेवी संगठन होते हैं जो अपने संसाधनों से अपनी योजनाओं तथा कार्यक्रमों को पूर्ण करते हैं।
2. कुछ ऐसे स्वयंसेवी संगठन होते है जो अपने संसाधनों के अतिरिक्त विभिन्न विभागों तथा मन्त्रालयों से अनुदान प्राप्त करते हैं।

भारत में इन स्वयंसेवी संस्थाओं को केन्द्रीय सामाजिक कल्याण बोर्ड तथा अन्य मन्त्रालयों; जैसे- समाज कल्याण, स्वास्थ्य, मानव संसाधन विकास तथा श्रम आदि मन्त्रालयों से अनुदान प्राप्त होता है। इस अनुदान के द्वारा ये स्वयंसेवी संगठन अपने कार्यक्रमों को क्रियान्वित करते हैं। जो संगठन सरकार से अनुदान प्राप्त करना चाहते है, उनके लिए यह आवश्यक है कि वे प्रथम तीन वर्षों में विभिन्न विकासात्मक तथा जन-कल्याण से सम्बन्धित विभिन्न कार्यक्रमों को अपने संसाधनों के माध्यम से पूर्ण करें तथा विगत तीन वर्षों की बैलेन्स शीट सम्बन्धित विभाग के समक्ष प्रस्तुत करें। इसके साथ संस्था को तीन वर्षों की अपनी प्रगति रिपोर्ट भी सम्बन्धित विभाग के समक्ष प्रस्तुत करनी पड़ती है।

बोध प्रश्न

1. एकॉफ का संगठन का वर्गीकरण समझाइये।

....

....

....

2. स्वयं सेवी संगठनों की विशेषताएँ बताइये?

....

....

....

6.4.1 स्वयंसेवी संगठनों को सेवाओं के संचालन सम्बन्धी उत्तरदायित्व प्रदान करने के कारण

भारत में सामान्य अच्छाई हेतु स्वैच्छिक कार्य की लम्बी परम्परा रही है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् सरकार ने विकास कार्यक्रमों को स्वयं लागू करने का प्रयास किया। बाद के वर्षों में सरकार ने इनको लागू करने हेतु स्वैच्छिक संगठनों को माध्यम बनाना प्रारम्भ किया। पंचवर्षीय योजनाओं में भी स्वैच्छिक संगठनों को विकास कार्यक्रमों में सम्मिलित करने पर बल दिया गया। इसी का परिणाम है कि भारत में काफी संख्या में स्वैच्छिक संगठनों का विकास हुआ। वर्तमान समय में शासन ने स्वयंसेवी संगठनों को समाज कल्याण सम्बन्धी दायित्वों की पूर्ति करने की व्यवस्था की है। इन कार्यों को पूर्ण करने के लिए शासन के द्वारा स्वयंसेवी संगठनों को अनुदान भी दिया जाता है।

स्वयंसेवी संगठनों को समाज सेवा से सम्बन्धित दायित्वों को प्रदान करने के निम्नलिखित प्रमुख कारण हैं-

1. **अनौपचारिक संगठन** - स्वयंसेवी संगठनों का सामान्यतया अनौपचारिक संगठन होता है, इसमें सरकारी विभागों के समान औपचारिकताएँ नहीं निभानी पड़ती हैं। इनके कार्य करने की शैली सरकारी विभागों से भिन्न होती है।

2. **जन साधारण से निकट का सम्पर्क** - स्वयंसेवी संगठनों का जन साधारण से बहुत नजदीकी सम्बन्ध तथा सम्पर्क होता है। वे स्थानीय समस्याओं को अच्छी प्रकार से जानते हैं। ये इस बात का पता आसानी से लगा लेते है कि किस क्षेत्र मे कौन-सा कार्यक्रम सफलतापूर्वक संचालित किया जा सकता है।

3. **स्थानीय लोगों का सहयोग** - स्वयंसेवी संगठनों के कार्यकर्त्ता उसी क्षेत्र से सम्बन्धित होते है जहाँ विकास सम्बन्धी कार्यों को पूर्ण करना है। अत: इन व्यक्तियों को स्थानीय लोगों का सहयोग अधिक मात्रा में प्राप्त हो जाता है जिससे कार्यक्रम की सफलता की सम्भावनाएँ अधिक बढ़ जाती हैं।

4. **धन एकत्रित करने में सुविधा** - स्वयंसेवी संगठन स्थानीय लोगों से कार्यक्रम के लिए धन भी एकत्र कर सकते हैं क्योंकि इनका सम्पर्क क्षेत्र-विशेष के कार्यक्रमों से निरन्तर बना रहता है।

5. **नागरिकों में सद्‌गुणों का विकास** - सतही स्तर (Grass-root Level) पर स्वयंसेवी संगठनों के प्रशासनिक दायित्वों की पूर्ति करने से वहाँ के लोगों में अच्छा नागरिक बनने के गुण विकसित होते है, उनमें राष्ट्र तथा समाज के प्रति अपने दायित्वों को पूर्ण करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है जो सभ्य समाज में लोकतान्त्रिक प्रक्रिया को सुदृढ़ करने का कार्य करता है।

6.5 स्वयंसेवी संगठनों की भूमिका

स्वयंसेवी संगठन समुदाय द्वारा वांछित सेवाओं को सुधारने तथा उनमें वृद्धि करने में सहायक होते हैं। ऐसे संगठन समूह या समुदाय को अपनी क्षमताएँ विकसित करने में भी सहायता प्रदान करते है। साथ ही, स्वैच्छिक संगठनों के सदस्य व्यावसायिक नैतिकता के आधार पर काम करते हैं तथा लोगों को स्वयं अपनी सहायता करने में सक्षम बनाते है। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु स्वयंसेवी संगठन अपने कार्यक्रमों में जनसहभागिता पर भी बल देते हैं। इनके महत्व को देखते हुए सरकार इन्हें समाज सेवा से सम्बन्धित कार्यक्रमों में सम्मिलित करते हैं।

स्वयंसेवी संगठनों को उन सेवाओं को पूर्ण करने का दायित्व अपने कन्धों पर लेने के लिए तैयार रहना पड़ता है जिनको पूर्व में प्रशासनिक विभागों के द्वारा सम्पन्न किया जाता था। अत: इस दायित्व की पूर्ति के लिए अधिक कार्यकुशलता, ज्ञान तथा बौद्धिक क्षमता की आवश्यकता होती है। स्वयंसेवी संगठनों को सरकारी विभागों से भिन्न प्रकार की भूमिका निभाने की आवश्यकता पड़ती है। अत: वर्तमान परिस्थितियों के अनुरूप इनको नौकरशाही के द्वारा कार्य करने के तौर-तरीकों को बदलना होगा तथा सेवाओं के संचालन में पुन: नवीन पद्धतियों तथा प्रयोगों को प्रारम्भ करना होगा जिससे वे जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। इन संगठनों को लाभान्वित व्यक्तियों की संख्या पर अधिक ध्यान देने के स्थान पर यह देखना है कि कितने व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति समुचित रूप से की जा सकती है। शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा का प्रशिक्षण, पौष्टिक आहार, स्वास्थ्य तथा मनोरंजन आदि से सम्बन्धित सेवाओं को व्यक्तियों की सक्रिय भागीदारी के आधार पर इस प्रकार से पूर्ण किया जाना चाहिए जिससे भविष्य में वे स्वयं ही इन सेवाओं को पूर्ण करने में सक्षम हो सकें तथा अन्य व्यक्तियों को प्रशिक्षण प्रदान करके उनको भी लाभान्वित किया जा सके। इस प्रकार से छोटी-छोटी कड़ियों से बड़ी शृंखला का निर्माण किया जा सकता है।

वर्तमान समय में स्वयंसेवी संगठनों की भूमिका समाज से असामाजिक प्रवृत्तियों को समाप्त करने में भी हो सकती है। यह माना जाता है कि बच्चा बचपन से असामाजिक नहीं होता है, वरन् विकृत पारिवारिक वातावरण, पड़ोस तथा समाज में कार्य करने का स्थान आदि, युवाओं को सिद्धान्तों तथा मूल्यों के रास्ते से हटाकर असामाजिक मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित कर देता है। अत: इन परिस्थितियों में गैर-सरकारी संगठनों का यह दायित्व है कि वे युवाओं के मन तथा मस्तिष्क में सामाजिक मूल्यों तथा मान्यताओं को भरें जिससे वे राष्ट्र के सभ्य तथा सुसंस्कृत नागरिक बन सकें तथा राष्ट्र के उत्थान व कल्याण में अपना सक्रिय एवं रचनात्मक सहयोग प्रदान कर सकें। स्वयंसेवी संगठनों के द्वारा की गई यह सेवा उत्कृष्ट प्रकार की होगी क्योंकि इसके द्वारा समाज का नवीन प्रकार से कल्याण तथा विकास होगा।

वर्तमान समय में विश्व की सभी सरकारें सद्-शासन पर बल दे रही हैं। इसके अन्तर्गत नौकरशाही की जवाबदेही तथा प्रशासन में पारदर्शिता लाने पर बहुत महत्व दिया जा रहा है। इस प्रकार के शासन को पूर्ण करने में भी स्वयंसेवी संगठनों की महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। ये संगठन सूचनाओं को प्राप्त करके जन साधारण तक पहुँचा सकते हैं तथा सरकारी कार्यक्रमों की मॉनीटरिंग भी कर सकते हैं। स्वयंसेवी संगठन जनजागृति के कार्यक्रमों को सफलतापूर्वक संचालित कर सकते हैं। भारत में बहुत-से स्वयंसेवी संगठनों ने पर्यावरण विकास, प्रदूषण नियन्त्रण, स्वास्थ्य, महिला तथा बाल विकास, प्रौढ़ तथा अनौपचारिक शिक्षा आदि के कार्यक्रमों में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

6.6 स्वयंसेवी संगठनों का मूल्यांकन

स्वयंसेवी संगठनों का मूल्यांकन इनके गुण-दोषों के आधार पर किया जा सकता है। इनके प्रमुख गुणों को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है-

1. **कानूनी औपचारिकता का अभाव** - स्वयंसेवी संगठनों के द्वारा समाज सेवा अच्छी प्रकार से की जा सकती है क्योंकि इनके समक्ष कानूनी औपचारिकता बहुत कम होती है।

2. **संसाधनों तथा जनशक्ति की उपलब्धता** - स्वयंसेवी संगठनों के पास संसाधन होते हैं, कार्यकर्त्ताओं का समूह होता है जिससे वे परियोजनाओं का अच्छी प्रकार से संचालन कर सकते हैं।

3. **सेवा-क्षेत्रों का समुचित ज्ञान** -स्वयंसेवी संगठनों के द्वारा जिन व्यक्तियों की सेवा की जाती है, वे वास्तव में सेवा के पात्र होते हैं, उनको इन संगठनों के सहयोग की बहुत आवश्यकता होती है। ये इनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के सशक्त माध्यम हैं।

4. **जन-सहयोग प्राप्त होना** - स्वयंसेवी संगठनों को जनता का सक्रिय सहयोग सरलता से प्राप्त हो जाता है क्योंकि ये साधारण जनता के निकट सम्पर्क में रहते हैं।

5. **लोक-कल्याणकारी कार्यक्रमों में अभिरूचि होना** - अनेक स्वयंसेवी संगठनों के द्वारा ऐसे अनेक कार्य पूर्ण किए गए हैं जिनको सरकारी संस्थाओं (विभागों) के द्वारा सम्पन्न करना बहुत कठिन था। पर्यावरण की सुरक्षा, बच्चों तथा महिलाओं के विकास, जन चेतना को जाग्रत करने में स्वयंसेवी संगठनों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। अनेक स्वयंसेवी संगठनों द्वारा छात्रों को छात्रवृत्तियाँ प्रदान की जाती हैं। गरीब तथा बेसहारा महिलाओं को प्रशिक्षण के साथ-साथ आर्थिक सहायता भी प्रदान की जाती है।

स्वयंसेवी संगठनों में सेवा के भाव को ध्यान में रखकर ही, वर्तमान समय में सरकारें अनेक प्रकार के कार्यक्रमों को स्वयंसेवी संगठनों को सौंपने के लिए तत्पर हैं। समाज को स्वयंसेवी संगठनों के द्वारा की गई सेवाओं से बहुत लाभ प्राप्त हुआ है। फिर भी, स्वयंसेवी संगठनों में अनेक दोष भी निहित होते हैं

जिन्हें निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है-

1. **विभागों जैसी बुराइयाँ उत्पन्न होना** - वर्तमान समय में स्वयंसेवी संगठनों को सरकारी विभागों अथवा मन्त्रालयों से अनुदान प्राप्त होने लगा है। इस स्थिति में वे सरकारी विभागों के नियन्त्रण में कार्य करने लगे हैं जिससे उनकी स्वतन्त्र रूप से कार्य करने की भूमिका धीरे-धीरे सीमित होती जा रही है तथा उनमें भी उसी प्रकार की बुराइयाँ उत्पन्न होने लगी है, जैसी सरकारी विभागों के कर्मचारियों की होती हैं।

2. **अनैतिक साधनों का प्रयोग** - अनुदान प्राप्त करने में विभिन्न स्वयंसेवी संगठनों में भी प्रतिस्पर्द्धा होने लगी है तथा वे अनुदान प्राप्त करने के लिए अनैतिक साधनों का भी प्रयोग करने लगे हैं। स्वयंसेवी संगठनों की इस प्रकार की भूमिका ने भ्रष्टाचार को जन्म दिया है। अब स्वयंसेवी संगठन भी सेवा-भाव को भूलकर धन-संचय में व्यस्त हो गए हैं।

3. **अनुदान राशि का दुरुपयोग** - प्रशासनिक अधिकारी स्वयंसेवी संगठनों को अनुदान देते समय अनुगृहीत करने का प्रयास करते हैं तथा उसके बदले में वे उनसे अपनी स्वार्थ सिद्धि करवाने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार सार्वजनिक धन का अपव्यय तथा दुरुपयोग होता है। प्रशासनिक अधिकारियों तथा स्वयंसेवी संगठनों की मिलीभगत से अनेक परियोजनाएँ तथा कार्यक्रम केवल कागजों पर ही पूर्ण कर लिए जाते हैं तथा जन साधारण को इसका कोई लाभ नहीं मिल पाता है।

4. **गतिरोध की स्थिति** - यह भी देखा गया है कि नौकरशाही के अधिनायकतन्त्री व्यवहार तथा स्वयंसेवी संगठनों के मानवतावादी दृष्टिकोण में विरोध उत्पन्न हो जाता है जो व्यक्तियों के लिए की जाने वाली सेवा को नकारात्मक रूप से प्रभावित करता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वर्तमान में सामाजिक कल्याण तथा विकास के कार्यों को पूर्ण करने में स्वयंसेवी संगठनों की महत्वपूर्ण भूमिका है, परन्तु साथ-साथ इस प्रकार की व्यवस्था भी होनी चाहिए कि शासन

NOTES

का इन पर सीमित नियन्त्रण भी बना रहे। यह नियन्त्रण इसलिए आवश्यक है कि संगठन अपने कार्यों को मानवता के दृष्टिकोण को सामने रखकर कुशलतापूर्वक तथा मितव्ययितापूर्वक पूर्ण करें। संगठन के कार्यों में पारदर्शिता तथा उत्तरदायित्व को बनाए रखने के लिए भी नियन्त्रण की आवश्यकता है। एक ऐसे बोर्ड का भी गठन किया जाए जो स्वयंसेवी संगठनों द्वारा निष्पादित कार्यों का मूल्यांकन करे और उत्तम सेवा प्रदान करने वाले संगठनों को प्रोत्साहित करे तथा भ्रष्टाचार एवं अनैतिकता में संलग्न संगठनों को काली सूची में डालकर उनके अनुदान को समाप्त कर दे।

वर्तमान समय में स्वयंसेवी संगठनों को अनेक प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। उन्हें पहले तो प्रोजेक्ट की फाइल तैयार करने में समय तथा धन व्यय करना पड़ता है और उसके पश्चात् अनुदान के लिए जिस विभाग के पास फाइल भेजी जाती है उस विभाग के चक्कर काटने पड़ते हैं, इसके पहले भी उसे अनेक चरणों से गुजरना पड़ता है। इन चरणों को पार करना स्वयंसेवी संगठनों की क्षमता से बाहर होता है तथा किसी-न-किसी चरण में फाइल लालफीताशाही का शिकार हो जाती है तथा अपना दम तोड़ देती है। अत: स्वयंसेवी संगठनों के द्वारा किया गया प्रयास व्यर्थ हो जाता है। इसके अतिरिक्त, संगठनों को रजिस्ट्रेशनों का नवीनीकरण कराने के लिए भी सम्बन्धित कार्यालयों का निरन्तर चक्कर काटना पड़ता है तथा नवीनीकरण कराने के लिए रिश्वत भी देनी पड़ती है।

बोध प्रश्न

1. स्वयं सेवी संगठनों को समाज सेवा का दायित्व क्यों दिया जाता है?

....

....

....

....

2. स्वयं सेवी संगठनों का मूल्यांकन करो?

....

....

....

....

6.7 सारांश

संगठन एक ऐसा संग्रह है जो निश्चित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए बनता है। संगठन के लक्ष्य निश्चित होते हैं। इनमें निरंतरता बनी रहती है। संगठन का अपना निश्चित नाम होता है। संगठन के कई प्रकार होते हैं। जैसे कार्य के आधार पर, लाभ के आधारर पर, अनुपालन के आधार पर, संबंधों के आधार पर।

स्वयं सेवी संगठन वे होते हैं जो लक्ष्य प्राप्ति के लिए निर्मित होते हैं। कई ऐसे संगठन औपचारिक भी होते हैं। समाज में स्वयं सेवी संगठनों की महत्वपूर्ण भूमिका है। इस प्रकार के संगठनों में पारदर्शिता होना अनिवार्य है।

6.8 शब्दावली

संगठन - संगठन एक संग्रह या समिष्टता है जो निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए बनाई गई है

स्वयंसेवी संगठन (संस्था) - स्वयंसेवी संगठन से अभिप्राय स्वयंसेवियों के उस संगठन से है जो किसी लक्ष्य की पूर्ति हेतु निर्मित किया जाता है।

6.9 अभ्यास प्रश्न

दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. स्वयंसेवी संगठन की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
2. स्वयंसेवी संगठन का अर्थ बताइए तथा आधुनिक युग में इन संगठनों को महत्व देने के कारणों की विवेचना कीजिए।

लघुउत्तरीय प्रश्न

1. स्वयंसेवी संगठनों की भूमिका की विवेचना कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. एकॉफ का वर्गीकरण को कितने भागों में बाँटा गया है—

   (अ) चार (ब) पाँच (स) छः (द) सात

उत्तर 1. (अ)

NOTES

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

Clark, John, Democratizing Development : The Role of Voluntary Organizations,

London : Earthscan Publications, 1991.

Devi, Rameshwari, Voluntary Organizations in India, New Delhi : Mangal Deep Publishers, 2006.

Etzioni, Amitai, Modern Organizations, Englewood Cliffs, N.J. : Prentice-Hall, 1964.

●●●

अध्याय–7 गैर सरकारी संगठन
(NON GOVERNMENT ORGANIZATION (NGO)

NOTES

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य
7.1 प्रस्तावना
7.2 गैर-सरकारी संगठन का अर्थ
7.3 गैर-सरकारी संगठनों के निर्माण की प्रक्रिया
7.4 गैर-सरकारी संगठनों के प्रकार
7.5 गैर-सरकारी संगठन एवं समाज कार्य
7.6 गैर-सरकारी संगठनों का मूल्यांकन
7.7 पंचवर्षीय योजनाएँ एवं गैर-सरकारी संगठन
7.8 प्रजातन्त्र एवं गैर-सरकारी संगठन
7.9 सारांश
7.10 शब्दावली
7.11 अभ्यास प्रश्न
सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

7.0 उद्देश्य

आधुनिक प्रजातान्त्रिक राज्यों को अनेक कार्य करने होते हैं, इसलिए केवल राज्य ही इन कमजोर वर्गों के उत्थान के लिए सब-कुछ नहीं कर सकता। राज्य इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु अनेक स्वयंसेवी एवं गैरसरकारी संगठनों की सहायता लेता है। राज्य उन्हें इन कमजोर वर्गों के प्रति अपनी दायित्वों को पूरा करने हेतु वित्तीय अनुदान प्रदान करता है ताकि वे अपनी पूरी क्षमता के साथ सरकारी नीतियों के अनुरूप इनका सामाजिक-आर्थिक उत्थान कर सकें। कुछ स्वयंसेवा एवं गैर-सरकारी संगठन ऐसे भी है जो सरकार से वित्तीय सहायता न लेकर स्वयं अपने संसाधनों से समाज के कमजोर वर्गों के हितों के संरक्षण तथा उनके कल्याण हेतु उल्लेखनीय कार्य करते हैं। इस इकाई में गैर-सरकारी संगठन की अवधारणा, इसके विभिन्न पक्षों तथा समाज कार्य में इनकी भूमिका का विवेचन किया गया है।

7.1 प्रस्तावना

सामाजिक कल्याण तथा विकास के कार्यों को सम्पादित करने के लिए शासन के द्वारा विभिन्न मन्त्रालयों तथा विभागों का निर्माण किया जाता है। ये विभाग सरकारी संगठन होते हैं जो औपचारिक नियमों तथा कानूनों के आधार पर अपने कार्यों का सम्पादन करते हैं। ये विभाग विभिन्न माध्यमों से अपनी योजनाओं तथा कार्यक्रमों को साधारण जनता तक पहुँचाने का प्रयास करते हैं, परन्तु सतही स्तर (Gras-root level) तक इन कार्यक्रमों का क्रियान्वयन समुचित रूप से नहीं हो पाता है। समस्त कार्यवाही मात्र कागजी कार्यवाही बनकर फाइलों में बन्द हो जाती है। अत: ऐसी स्थिति में सामाजिक कल्याण तथा विकास के कार्य पूर्ण नहीं हो सकते हैं। सरकारी बजट का बहुत बड़ा भाग नौकरशाही की व्यवस्था करने में ही व्यय हो जाता है तथा विकास कार्यों के लिए धन की कमी उत्पन्न हो जाती है। अत: वर्तमान समय में सभी विकासशील राष्ट्र नौकरशाही के आकार को कम करने का प्रयास कर रहे हैं तथा सामाजिक कल्याण एवं विकास के कार्यों में जनता की सक्रिय सहभागिता को चढ़ाने

पर विचार करने लगे हैं। इसी विचार ने स्वयंसेवा एवं गैर-सरकारी संगठनों के निर्माण की प्रक्रिया को तीव्र कर दिया है। साथ-ही-साथ बाजार अर्थव्यवस्था के वैश्वीकरण तथा उदारीकरण एवं प्रतिस्पर्द्धात्मक औद्योगिक विकास ने सरकारों को यह विचार करने के लिए विवश कर दिया कि वे अपनी भूमिका को सीमित करें।

NOTES

7.2 गैर-सरकारी संगठन का अर्थ

गैर-सरकारी संगठनों से तात्पर्य उन संगठनों से है जो समाज सेवा के भाव से प्रेरित होकर समाज सेवियों तथा बुद्धिजीवियों के द्वारा निर्मित किए जाते हैं तथा जिनका उद्देश्य समाज के पिछड़े वर्गों के कल्याण तथा विकास के लिए कार्यक्रमों का निर्माण करके तथा स्थानीय जनता की पूर्ण सहभागिता प्राप्त करके कार्यक्रमो को क्रियान्वित करना है। भारत में स्वैच्छिक संस्थाओं की संख्या निरन्तर बढ़ती ही जा रही है। ऐसा अनुमान है कि भारत में इनकी संख्या लगभग 20 लाख है। रूस में यह संख्या लगभग 30 लाख है। अन्तर्राष्ट्रीय गैर-सरकारी संगठनों की संख्या 40,000 है। ये संगठन सामाजिक कल्याण के क्षेत्र में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन कर रहे है। गैर-सरकारी संगठन, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, सरकार द्वारा निर्मित नहीं किया जाता है। अधिकतर गैर-सरकारी संगठन समाज के पिछड़े वर्गों के उत्थान एवं कल्याण कार्यों में सरकार को सहायता देने हेतु निर्मित किए जाते हैं। सरकारी न होने के बावजूद, अनेक ऐसे संगठनों को सरकार अनुदान प्रदान करती है ताकि वे अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सरकार को सहायता प्रदान कर सकें। ऐसा भी माना जाता है कि गैर-सरकारी संगठन किसी भी प्रजातान्त्रिक समाज को मजबूत आधार प्रदान करते हैं। विभिन्न राष्ट्रों में गैर-सरकारी संगठनों की संख्या के आधार पर विकास का आकलन करने का प्रयास किया जाता है।

औद्योगिक विकास ने सरकारों को यह विचार करने के लिए विवश कर दिया कि वे अपनी भूमिका को सीमित करें तथा विकास कार्यों में गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका को बढ़ावा दें। गैर-सरकारी संगठन कानूनी रूप से निर्मित एक ऐसा संगठन है जो सरकार से जुड़ा न होकर स्वावलम्बी होता है। यदि गैरसरकारी संगठन पूरी तरह से अथवा आंशिक रूप से सरकार द्वारा दिए गए अनुदान पर निर्भर करता है, तो भी यह अपनी 'गैर-सरकारी' स्थिति को इस दृष्टि से बनाए रखता है कि कोई भी सरकारी प्रतिनिधि इसका सदस्य नहीं हो सकता। गैर-सरकारी संगठन शब्द का प्रयोग सामान्यत: उन संगठनों के लिए ही प्रयोग किया जाता है जो वृहत सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु प्रयासरत् होते हैं। इस अर्थ में गैरसरकारी संगठन राजनीतिक संगठन नहीं है। उदाहरणार्थ, राजनीतिक दल गैर-सरकारी संगठन नहीं है। गैर-सरकारी संगठनों को 'नागरिक समाज संगठन' (Civil society organizations) तथा अनेक अन्य नामों से भी जाना जाता है। इन नामों में स्वायत्त क्षेत्र (Independent sector), जमीनी संगठन (Grassroots organizations), पार-राष्ट्रीय सामाजिक आन्दोलन संगठन (Trans national social movement organizations), निजी स्वैच्छिक संगठन (Private voluntary organizations), स्वयं-समूह संगठन (Self-help organizations), गैर-राज्यीय कर्ता (Non-state actors) आदि प्रमुख हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि गैर-सरकारी संगठनों का उद्देश्य समाज के पिछड़े वर्गों के कल्याण तथा विकास के लिए कार्यक्रमों का निर्माण करके तथा स्थानीय जनता की पूर्ण सहभागिता प्राप्त करके सरकारी अथवा गैर-सरकारी कार्यक्रमों को क्रियान्वित करना है।

7.3 गैर-सरकारी संगठनों के निर्माण की प्रक्रिया

गैर-सरकारी संगठनों का भी अपना औपचारिक संगठन होता है। इन संगठनों के निर्माण के भी कुछ औपचारिक नियम होते हैं। गैर-सरकारी संगठनों के संचालकों के लिए सर्वप्रथम उनकी संस्था का नाम प्रस्तुत करना आवश्यक है। इस संस्था के नाम पर ही उनको अपनी संस्था का अपना एक विधान (By-laws) बनाना भी आवश्यक है। इस विधान में संस्था के संगठन, उद्देश्यों, सेवा-क्षेत्र, कार्यक्रमों तथा वित्तीय स्थिति के सम्बन्ध में विस्तृत ब्यौरा प्रस्तुत किया जाता है। उसके पश्चात् इस विधान को प्रत्येक जिले में कार्यरत सब-रजिस्ट्रार के कार्यालय में पंजीकृत करा दिया जाता है। संस्था का निर्माण करने के लिए कम-से-कम 11 (ग्यारह) सदस्यों का होना आवश्यक है जिनमें से 7 सदस्यों की कार्यकारिणी समिति होती है जो संस्था के समस्त कार्यों को पूर्ण करने के लिए उत्तरदायी होती है। यह सदस्य नागरिक समाज का प्रतिनिधित्व करने वाले होते हैं जो लोगों की विशिष्ट समस्याओं के समाधान हेतु सामान्य हितों द्वारा जुड़े होते है। सामान्यत: किसी गैर-सरकारी संगठन के निम्नलिखित पाँच मौलिक अंग होते हैं-

NOTES

1. साधारण सभा (General body),
2. प्रबन्ध/कार्यकारी समिति (Managing/executive committee),
3. पदाधिकारी (Office bearers),
4. वैधानिक परामर्शदाता (Legal advisor), तथा
5. क्रय समिति (Purchasing committee)

साधारण सभा में वे सभी सदस्य सम्मिलित होते हैं जिन्हें उस गैर-सरकारी संगठन में अपने विधान के अनुसार पंजीकृत किया है। यह गैर-सरकारी संगठन का महत्वपूर्ण अंग है जो नीतियों के निर्माण, वित्तीय संसाधनों का प्रबन्ध, पदाधिकारियों तथा कार्यकारिणी के सदस्यों का चुनाव, वार्षिक बजट का अनुमोदन, ऑडीटर की नियुक्ति, कार्य करने की वार्षिक योजना को निर्मित करने का कार्य करता है। प्रबन्ध समिति का चयन सामान्य सभा द्वारा गैर-सरकारी संगठन के विधान के प्रावधानों के अनुरूप होता है। यह समिति गैर-सरकारी संगठन के दैनिक कार्यों का निष्पादन करती है। इसके कार्यकाल की अवधि निश्चित होती है तथा यह अपने कार्यों हेतु सामान्य सभा के सम्मुख उत्तरदायी होती है। गैरसरकारी संगठन के क्रियाओं के संचालन तथा लक्ष्य की प्राप्ति हेतु पदाधिकारियों का चयन किया जाता है क्योंकि सामान्य सभा को बार-बार बुलाना सम्भव नहीं होता। इन पदाधिकारियों में अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, सचिव/सामान्य सचिव, संयुक्त/सहायक सचिव, कोषाध्यक्ष (खजान्ची) तथा ऑडीटर प्रमुख होते हैं। अधिकांश गैर-सरकारी संगठनों में किसी वैधानिक परामर्शदाता की नियुक्ति भी की जाती है जो या तो इसी संगठन का सदस्य होता है या बाहरी व्यक्ति भी हो सकता है। उस पर संगठन के सभी कानूनी पहलुओं एवं पक्षों की देखरेख का उत्तरदायित्व होता है। क्रय समिति का कार्य नियमानुसार उन वस्तुओं की खरीददारी करना है जो संगठन को अपना लक्ष्य पूरा करने के लिए अनिवार्य मानी जाती हैं। गैर-सरकारी संगठनों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है-

1. कुछ ऐसे गैर-सरकारी संगठन होते हैं जो अपने संसाधनों से अपनी योजनाओं तथा कार्यक्रमों को पूर्ण करते हैं।
2. कुछ ऐसे गैर-सरकारी संगठन होते हैं जो अपने संसाधनों के अतिरिक्त विभिन्न विभागों तथा मन्त्रालयों से अनुदान प्राप्त करते हैं। भारत में इन गैर-सरकारी संगठनों को केन्द्रीय सामाजिक कल्याण बोर्ड तथा अन्य मन्त्रालयों; जैसे-समाज कल्याण, स्वास्थ्य, मानव संसाधन विकास तथा श्रम आदि मन्त्रालयों से अनुदान प्राप्त होता है। इस अनुदान के द्वारा ये गैर-सरकारी संगठन अपने कार्यक्रमों को क्रियान्वित करते हैं। जो संगठन सरकार से अनुदान प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिए यह आवश्यक है कि वे प्रथम तीन वर्षों में विभिन्न विकासात्मक तथा जन-कल्याण से सम्बन्धित विभिन्न कार्यक्रमों को अपने संसाधनों के माध्यम से पूर्ण करें तथा विगत तीन वर्षों की बैलेन्स शीट सम्बन्धित विभाग के समक्ष प्रस्तुत करें। इसके साथ संगठन को तीन वर्षों की अपनी प्रगति रिपोर्ट भी सम्बन्धित विभाग के समक्ष प्रस्तुत करनी पड़ती है।

बोध प्रश्न

1. गैर सरकारी संगठन से आप क्या समझते हैं?

   ....

   ....

   ....

2. गैर सरकारी संगठनों की निर्माण प्रक्रिया लिखो?

   ....

   ....

   ....

   ....

7.4 गैर-सरकारी संगठनों के प्रकार

दिशा-निर्धारण एवं सहयोग के स्तर के आधार पर गैर-सरकारी संगठनों का वर्गीकरण करने का प्रयास किया गया है। दिशा-निर्धारण की दृष्टि गैर-सरकारी संगठनों को अग्रलिखित श्रेणियों में विभाजित किया जाता है-

1. परोपकारी या धर्मार्थ संगठन (Charitable organizations),
2. सेवा संगठन (Service organizations),
3. सहभागिता संगठन (Participatory organizations), तथा
4. सशक्तिकरण करने वाले संगठन (Empowering organizations)

परोपकारी या धर्मार्थ संगठन मुख्य रूप से धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत होते है तथा इन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर परोपकारी कार्य करने का प्रयास करते हैं। सेवा संगठन स्वयं अथवा सरकारी अनुदान से कमजोर वर्गों को सेवाएँ प्रदान करते है, जबकि सहभागिता संगठन समस्याओं के विरुद्ध अथवा किसी मुद्दे के पक्ष या विपक्ष में लोगों की सहभागिता में वृद्धि का प्रयास करते हैं। सशक्तिकरण करने वाले संगठन लोगों को ऐसी सुविधाएँ प्रदान करने का प्रयास करते है जिनसे वे आत्मनिर्भरता की ओर बढ़ सकें जो उनके सशक्तिकरण के लिए एक पूर्व दशा है।

सहयोग के स्तर पर गैर-सरकारी संगठन निम्नलिखित चार प्रकार के हो सकते हैं-

1. समुदाय-आधारित संगठन (Community-based organizations),
2. नगर-प्रशस्त संगठन (City-wide organizations),
3. राष्ट्रीय संगठन (National organizations), तथा
4. अन्तर्राष्ट्रीय संगठन (International organizations)।

समुदाय-आधारित संगठन का केन्द्र-बिन्दु समुदाय, मुख्य रूप से ग्रामीण समुदाय, होता है तथा इसमें सम्बन्धित समुदाय के व्यक्ति ही सहयोग प्रदान करते हैं। नगर-प्रशस्त संगठनों का फैलाव नगरों में, राष्ट्रीय संगठनों का पूरे राष्ट्र में तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का पूरे विश्व में होता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के अनेक ऐसे गैर-सरकारी संगठन हैं जो सम्पूर्ण विश्व में संयुक्त राष्ट्र की नीतियों को कार्यान्वित करने में सहायता प्रदान करते हैं।

विश्व बैंक की शब्दावली में गैर-सरकारी संगठनों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जाता है- परिचालन संगठन (Operational organizations) तथा समर्थन संगठन (Advocacy organizations)। परिचालन संगठनों का प्रमुख कार्य विकासोन्मुख योजनाओं को बनाना तथा उन्हें कार्यान्वित करना है। यह योजनाएँ सहायतोन्मुख बनाम विकासोन्मुख हो सकती हैं अथवा ऐसे संगठन सेवा या सहभागिता पर केन्द्रित होते हैं। इनका वर्गीकरण धार्मिक एवं धर्मनिरपेक्ष अथवा सार्वजनिक एवं निजी संगठनों के रूप में भी किया जाता है। परिचालन संगठन समुदाय-आधारित भी हो सकते हैं अथवा राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय भी। समर्थन संगठनों का मुख्य उद्देश्य किसी मुद्दे का समर्थन करना अथवा उसे प्रोत्साहित करना होता है। परिचालन संगठन के योजना प्रबन्धन के विपरीत समर्थन संगठन जागरूकता एवं ज्ञान बढ़ाने हेतु संचार साधनों का प्रयोग करते हैं अथवा सक्रिय प्रघटनाओं का भी आयोजन करते हैं।

विभिन्न देशों के कानूनों एवं प्रथाओं के अनुरूप गैर-सरकारी संगठनों का कानूनी स्वरूप भिन्न होता है। फिर भी, गैर-सरकारी संगठनों के निम्नलिखित चार प्रमुख पारिवारिक समूह है-

1. अनिर्मित एवं स्वयंसेवी संगठन (Unincorporated and voluntary association),
2. न्यास, धर्मार्थ एवं संस्थाएँ (Trusts, charities and foundations),
3. ऐसी कम्पनियाँ जो केवल लाभ के लिए नहीं होती (Companies not just for profit), तथा
4. ऐसी इकाइयाँ जो विशिष्ट गैर-सरकारी संगठन अथवा अलाभकारी कानूनों द्वारा निर्मित होती हैं (Entities formed or registered under special NGO or Non-profit laws)

7.4.1 गैर-सरकारी संगठनों को महत्व प्रदान करने के कारण

NOTES

वर्तमान समय में शासन ने गैर-सरकारी संगठनों को समाज कल्याण सम्बन्धी दायित्वों की पूर्ति करने की व्यवस्था की है। इन कार्यों को पूर्ण करने के लिए शासन तथा गैर-सरकारी संगठनों को अनुदान भी दिया जाता है। इन दायित्वों को प्रदान करने के निम्नलिखित प्रमुख कारण हैं-

1. गैर-सरकारी संगठन सामान्यतया अनौपचारिक संगठन होते हैं, इसमें सरकारी विभागों के समान औपचारिकताएँ नहीं निभानी पड़ती हैं। इनके कार्य करने की शैली सरकारी विभागों से भिन्न होती है।
2. गैर-सरकारी संगठनों का साधारण जनता से बहुत नजदीकी सम्बन्ध तथा सम्पर्क होता है। वे स्थानीय समस्याओं को अच्छी प्रकार से जानते हैं। ये इस बात का पता आसानी से लगा लेते हैं कि किस क्षेत्र में कौन-सा कार्यक्रम सफलतापूर्वक संचालित किया जा सकता है।
3. गैर-सरकारी संगठनों के कार्यकर्ता उसी क्षेत्र से सम्बन्धित होते हैं जहाँ विकास सम्बन्धी कार्यों को पूर्ण करना है। अत: इन व्यक्तियों को वहाँ के लोगों का सहयोग अधिक मात्रा में प्राप्त हो जाता है जिससे कार्यक्रम की सफलता की सम्भावनाएँ अधिक बढ़ जाती हैं।
4. गैर-सरकारी संगठन स्थानीय लोगों से कार्यक्रम के लिए धन भी एकत्र कर सकते हैं क्योंकि इनका सम्पर्क क्षेत्र-विशेष के कार्यक्रमों से निरन्तर बना रहता है।
5. सतही स्तर पर गैर-सरकारी संगठनों के प्रशासनिक दायित्वों की पूर्ति करने से वहाँ के लोगों में अच्छा नागरिक बनने के गुण विकसित होते हैं, उनमें राष्ट्र तथा समाज़ के प्रति अपने दायित्वों को पूर्ण करने का आभास उत्पन्न होता है जो सभ्य समाज में प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया को मजबूत करने का कार्य करता है।

7.5 गैर-सरकारी संगठन एवं समाज कार्य

गैर-सरकारी संगठनों को उन सेवाओं को पूर्ण करने का उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर लेने के लिए तैयार रहना पड़ता है जिनको पूर्व में प्रशासनिक विभागों के द्वारा सम्पन्न किया जाता था। अत: इस उत्तरदायित्व की पूर्ति के लिए अधिक कार्यकुशलता, ज्ञान तथा बौद्धिक क्षमता की आवश्यकता होती है। गैर-सरकारी संगठनों को सरकारी विभागों से भिन्न प्रकार की भूमिका निभाने की आवश्यकता पड़ती है। अत: वर्तमान समय के अनुसार इनको नौकरशाही के द्वारा कार्य करने के तौर-तरीकों को बदलना होगा तथा सेवाओं के संचालन में पुन: नवीन पद्धतियों तथा प्रयोगों को प्रारम्भ करना होगा जिससे वे जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। इन संगठनों को लाभान्वित व्यक्तियों की संख्या पर अधिक ध्यान देने के स्थान पर यह देखना है कि कितने व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सकती है। शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा का प्रशिक्षण, पौष्टिक आहार, स्वास्थ्य तथा मनोरंजन आदि से सम्बन्धित सेवाओं को व्यक्तियों की सक्रिय भागीदारी के आधार पर इस प्रकार से पूर्ण किया जाना चाहिए जिससे भविष्य में वे स्वयं ही इन सेवाओं को पूर्ण करने में सक्षम हो सकें तथा अन्य व्यक्तियों को प्रशिक्षण प्रदान करके उनको भी लाभान्वित किया जा सके। इस प्रकार से छोटी-छोटी कड़ियों से बड़ी शृंखला का निर्माण किया जा सकता है।

वर्तमान समय में गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका समाज से असामाजिक प्रवृत्तियों को समाप्त करने में भी हो सकती है। यह माना जाता है कि बच्चा बचपन से असामाजिक नहीं होता है, वरन् विकृत पारिवारिक वातावरण, पड़ोस तथा समाज में कार्य करने का स्थान, युवाओं को सिद्धान्तों तथा मूल्यों के रास्ते से हटाकर असामाजिक मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित कर देता है। अत: इन परिस्थितियों में गैरसरकारी संगठनों का यह दायित्व है कि वे युवाओं के मन तथा मस्तिष्क में सामाजिक मूल्यों तथा मान्यताओं को भरें जिससे वे राष्ट्र के सभ्य तथा सुसंस्कृत नागरिक बन सकें तथा राष्ट्र के उत्थान व कल्याण में अपना सक्रिय एवं रचनात्मक सहयोग प्रदान कर सकें। गैर-सरकारी संगठनों के द्वारा की गई यह सेवा उत्कृष्ट प्रकार की सेवा होगी क्योंकि इसके द्वारा समाज का नवीन प्रकार से कल्याण तथा विकास होगा।

वर्तमान समय में विश्व की सभी सरकारें सद्-शासन पर बल दे रही हैं। इसके अन्तर्गत नौकरशाही की जवाबदेही तथा प्रशासन में पारदर्शिता लाने पर बहुत महत्व दिया जा रहा है। इस प्रकार के शासन को पूर्ण करने

में भी गैर-सरकारी संगठनों की महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। ये संगठन सूचनाओं को प्राप्त करके जनसाधारण तक पहुँचा सकते हैं तथा सरकारी कार्यक्रमों की मॉनीटरिंग भी कर सकते हैं। गैर-सरकारी संगठन जनजागृति के कार्यक्रमों को सफलतापूर्वक संचालित कर सकते हैं। भारत में बहुत से गैर-सरकारी संगठनों ने पर्यावरण विकास, प्रदूषण नियन्त्रण, स्वास्थ्य, महिला तथा बाल विकास, प्रौढ़ तथा अनौपचारिक शिक्षा आदि के कार्यक्रमों में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसी कारण सरकार आज इन संगठनों को अत्यन्त महत्वपूर्ण मानती है।

NOTES

7.6 गैर-सरकारी संगठनों का मूल्यांकन

यद्यपि गैर-सरकारी संगठन समाज कार्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, तथापि इनके कुछ ऐसे दोष भी हैं जो इन्हें अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने से रोकते हैं इसीलिए गैर-सरकारी संगठनों का मूल्यांकन इनके गुण-दोषों के आधार पर किया जाता है। गैर-सरकारी संगठनों के गुणों को निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है-

1. गैर-सरकारी संगठनों के द्वारा समाज सेवा अच्छी प्रकार से की जा सकती है क्योंकि इनके समक्ष कानूनी औपचारिकता बहुत कम होती है।
2. गैर-सरकारी संगठनों के पास संसाधन होते हैं, कार्यकर्ताओं का समूह होता है जिससे वे परियोजनाओं का अच्छी प्रकार से संचालन कर सकते हैं।
3. गैर-सरकारी संगठनों के द्वारा जिन व्यक्तियों की सेवा की जाती है, वे वास्तव में सेवा के पात्र होते हैं, उनको इन संगठनों के सहयोग की बहुत आवश्यकता होती है। ये इनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के सशक्त माध्यम हैं।
4. गैर-सरकारी संगठनों को जनता का सक्रिय सहयोग सरलता से प्राप्त हो जाता है क्योंकि ये साधारण जनता के निकट सम्पर्क में रहते हैं।
5. अनेक गैर-सरकारी संगठनों के द्वारा ऐसे अनेक कार्य पूर्ण किए गए हैं जिनको सरकारी संस्थाओं (विभागों) के द्वारा सम्पन्न करना बहुत कठिन था। पर्यावरण की सुरक्षा, बच्चों तथा महिलाओं के विकास, जन चेतना को जाग्रत करने में गैर-सरकारी संगठनों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। अनेक गैरसरकारी संगठनों द्वारा छात्रों को छात्रवृत्तियाँ प्रदान की जाती हैं। गरीब तथा बेसहारा महिलाओं को प्रशिक्षण के साथ-साथ आर्थिक सहायता भी प्रदान की जाती है।

गैर-सरकारी संगठनों में सेवा के भाव को ध्यान में रखकर ही, वर्तमान समय में सरकारें अनेक प्रकार के कार्यक्रमों को गैर-सरकारी संगठनों को सौंपने के लिए तत्पर हैं। समाज को गैर-सरकारी संगठनों के द्वारा की गई सेवाओं से बहुत लाभ प्राप्त हुआ है।

गैर-सरकारी संगठनों में निहित दोषों को निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है-

1 वर्तमान समय में गैर-सरकारी संगठनों को सरकारी विभागों अथवा मन्त्रालयों से अनुदान प्राप्त होने लगा है। इस स्थिति में वे सरकारी विभागों के नियन्त्रण में कार्य करने लगे हैं जिससे उनकी स्वतन्त्र रूप से कार्य करने की भूमिका धीरे-धीरे सीमित होती जा रही है तथा उनमें भी उसी प्रकार की बुराइयाँ उत्पन्न होने लगी हैं, जैसी सरकारी विभागों के कर्मचारियों की होती हैं।

2 अनुदान प्राप्त करने में विभिन्न गैर-सरकारी संगठनों में भी प्रतिस्पर्द्धा होने लगी है तथा वे अनुदान प्राप्त करने के लिए अनैतिक साधनों का भी प्रयोग करने लगे हैं। गैर-सरकारी संगठनों की इस प्रकार की भूमिका ने भ्रष्टाचार को जन्म दिया है। अब गैर-सरकारी संगठन भी सेवा-भाव को भूलकर धनसंचय में व्यस्त हो गए हैं।

3. प्रशासनिक अधिकारी गैर-सरकारी संगठनों को अनुदान देते समय अनुगृहीत करने का प्रयास करते हैं तथा उसके बदले में वे उनसे अपनी स्वार्थ सिद्धि करवाने का प्रयास करते है। इस प्रकार सार्वजनिक धन का अपव्यय तथा दुरुपयोग होता है। प्रशासनिक अधिकारियों तथा गैर-सरकारी संगठनों की मिली भगत से अनेक परियोजनाएँ तथा कार्यक्रम केवल कागजों पर ही पूर्ण कर लिए जाते हैं तथा साधारण जनता को इसका कोई लाभ नहीं मिल पाता है।

4. यह भी देखा गया है कि नौकरशाहों के अधिनायकतन्त्री व्यवहार तथा गैर-सरकारी संगठनों के मानवतावादी दृष्टिकोण में विरोध उत्पन्न हो जाता है जो व्यक्तियों के लिए की जाने वाली सेवा को नकारात्मक रूप से प्रभावित करता है।

NOTES

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वर्तमान में सामाजिक कल्याण तथा विकास के कार्यों को पूर्ण करने में गैर-सरकारी संगठनों की महत्वपूर्ण भूमिका है, परन्तु साथ-ही-साथ इस प्रकार की व्यवस्था भी होनी चाहिए कि शासन का इन पर सीमित नियन्त्रण भी बना रहे। यह नियन्त्रण इसलिए आवश्यक है कि संगठन अपने कार्यों को मानवता के दृष्टिकोण को सामने रखकर कुशलतापूर्वक तथा मितव्ययितापूर्वक पूर्ण करें। संगठन के कार्यों में पारदर्शिता तथा उत्तरदायित्व को बनाए रखने के लिए भी नियन्त्रण की आवश्यकता है। एक ऐसे बोर्ड का भी गठन किया जाए जो गैर-सरकारी संगठनों द्वारा निष्पादित कार्यों का मूल्यांकन करे और उत्तम सेवा प्रदान करने वाले संगठनों को प्रोत्साहित करे तथा भ्रष्टाचार एवं अनैतिकता में डूबे संगठनों को काली सूची में डालकर उनके अनुदान को समाप्त कर दिया जाए।

वर्तमान समय में गैर-सरकारी संगठनों को अनेक प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। उन्हें पहले तो प्रोजेक्ट की फाइल तैयार करने में समय तथा धन खर्च करना पड़ता है और उसके पश्चात् अनुदान के लिए जिस विभाग के पास फाइल भेजी जाती है उस विभाग के चक्कर काटने पड़ते हैं, इसके पहले भी उसे अनेक चरणों से गुजरना पड़ता है। इन चरणों को पार करना गैर-सरकारी संगठनों की क्षमता से बाहर होता है तथा किसी-न-किसी चरण में फाइल लाल-फीताशाही का शिकार हो जाती है तथा अपना दम तोड़ देती है। अत: गैर-सरकारी संगठनों के द्वारा किया गया प्रयास व्यर्थ हो जाता है। इसके अतिरिक्त, संगठनों को रजिस्ट्रेशनों का नवीनीकरण कराने के लिए भी सम्बन्धित कार्यालयों का निरन्तर चक्कर काटना पड़ता है तथा नवीनीकरण कराने के लिए रिश्वत भी देनी पड़ती है।

बोध प्रश्न

1. गैर सरकारी संगठनों को महत्त्व प्रदान करने के कारण लिखो?

....

....

....

2. गैर सरकारी संगठनों का मूल्यांकन कीजिए?

....

....

....

....

7.7 पंचवर्षीय योजनाएँ एवं गैर-सरकारी संगठन

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के द्वारा वर्ष 1938 ई. में स्थापित योजना आयोग ने गैर-सरकारी संगठनों द्वारा विकास के कार्यों की भूमिका को सर्वप्रथम मान्यता प्रदान की थी। कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष सुभाषचन्द्र बोस ने यह स्वीकार किया कि यदि भारत में सोवियत संघ जैसी नियोजित अर्थव्यवस्था को अपनाना है तो भारत में सुदृढ़ अर्थव्यवस्था की प्राप्ति के लिए गैर-सरकारी संगठनों के विकास की बहुत आवश्यकता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त इस दिशा में प्रगति भी की गई, परन्तु प्रथम पंचवर्षीय योजना से लेकर पाँचवीं पंचवर्षीय योजना तक इस कार्य में धीमी गति से प्रगति हुई। छठी एवं सातवीं योजना के द्वारा गैर-सरकारी संगठनों को संस्थागत स्वरूप प्रदान किया गया तथा विकास में उनकी भागीदारी को सुनिश्चित किया गया।

सर्वप्रथम 1957 ई. में गठित बलवन्त राय मेहता समिति ने जब पंचायती राज व्यवस्था के लिए त्रिस्तरीय संगठन का फार्मूला दिया, तब इस बात को स्वीकार किया कि वर्तमान समय में विभिन्न प्रकार की सामुदायिक

विकास योजनाओं को लागू करने में गैर-सरकारी संगठनों की महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है और यह भी स्वीकार किया कि यदि व्यक्ति अपने स्थानीय संगठनों के माध्यम से विकास के समस्त कार्यों का उत्तरदायित्व स्वयं ले लेता है, तो इससे विकास की गति तीव्र हो जाएगी। इस प्रकार से समिति ने राज्य द्वारा सम्पादित किए जाने वाले विकास के कार्यों की वैकल्पिक व्यवस्था इन संगठनों के माध्यम से की।

1966 ई. में ग्रामीण-शहरी सम्बन्धों की समिति ने भी गैर-सरकारी संगठनों की स्थानीय विकास की गतिविधियों में सामुदायिक सहभागिता तथा समर्थन की भावना को प्रेरित करने की भूमिका पर बल दिया। इन संगठनों के माध्यम से स्थानीय व्यक्तियों से सम्पर्क करना तथा उनका समर्थन जुटाने में काफी सुगमता रहती है। इन समितियों के सुझावों के परिणामस्वरूप 1960 के दशक के अन्तिम दिनों में विकासात्मक प्रक्रिया में गैर-सरकारी संगठनों का महत्वपूर्ण प्रभाव स्थापित हो गया, जिसकी अपेक्षा प्रारम्भ में भारतीय राजनीतिज्ञों से की गई थी। इस प्रकार से गैर-सरकारी संगठनों को राज्य द्वारा पोषित विकासात्मक कार्यक्रम को पूर्ण करने के माध्यम के रूप में इनकी भूमिका को निश्चित किया गया। 1978 ई. में गठित अशोक मेहता समिति की रिपोर्ट ने यह स्पष्ट कर दिया कि ग्रामीण विकास में गैरसरकारी संगठनों का महत्वपूर्ण योगदान है। गैर-सरकारी संगठनों के सम्बन्ध में अशोक मेहता कमेटी ने उन सभी विचारों को समाप्त कर दिया, जो यह प्रतिपादित करते थे कि गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका केवल कल्याणकारी गतिविधियों तथा परमार्थ के कार्यों तक ही सीमित है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में गैर-सरकारी संगठनों की उन क्षेत्रों में किए गए कार्यों के लिए सराहना की गई जिनमें राज्य की सहायता प्राप्त नहीं की गई थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त जिन राष्ट्रीय नेताओं ने ब्रिटिश शासन से सत्ता प्राप्त की, उन्होंने यह अनुभव किया कि ग्रामीण क्षेत्रों के विकास में गैर-सरकारी संगठनों की महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। गैर-सरकारी संगठनों के द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी- उन्मूलन के सम्बन्ध में अनेक योजनाओं अथवा कार्यक्रमों का निर्माण किया गया। उनके प्रयासों के द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में गैर-सरकारी संगठनों के सम्बन्ध में कुछ परिवर्तन किए गए। इस योजना में बल दिया गया कि उचित प्रकार से संगठित गैर-सरकारी संगठनों के प्रयासों के द्वारा ही उन व्यक्तियों की सहायता की जा सकती है, जो अभी तक उपेक्षित रहे हैं। इस योजना में प्रथम बार नीतिगत उद्देश्यों के लिए गैर-सरकारी संगठनों के महत्व का आकलन किया गया। तृतीय योजना के द्वारा इस बात को महसूस किया गया कि भारत के सामाजिक एवं आर्थिक विकास में राज्य द्वारा किए गए विकास से सम्बन्धित कार्य अपूर्ण हैं, राज्य के साथ-साथ गैर-सरकारी संगठनों की सकारात्मक भूमिका को भी स्वीकारना चाहिए। इस योजना के द्वारा, योजना में संकल्पना के रूप में विकास को स्वीकार किया गया तथा विकास के कार्यों में व्यक्तियों की सहभागिता को अधिक महत्व प्रदान किया गया। सामाजिक एवं आर्थिक उद्देश्य की प्राप्ति के निम्नलिखित उपाय सुझाए गए-

1. राज्य को उन कठिनाइयों के सम्बन्ध में सूचनाएँ उपलब्ध कराना जो विभिन्न सरकारी कार्यक्रमों के द्वारा दिए जाने वाले लाभों में बाधा उत्पन्न कर रही है।
2. सरकारी कार्यक्रमों को लागू किए जाने के सम्बन्ध में उत्पन्न अनियमितताओं के विषय में सूचनाएँ प्रदान करना।
3. शासन द्वारा निर्धारित कार्यक्रमों के अतिरिक्त समुदाय विशेष की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्थानीय समुदाय के व्यक्तियों को प्रेरित करना जिससे कि वे स्थानीय स्रोतों से ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें।

छठी योजना में यह स्वीकार किया गया कि गैर-सरकारी संगठन विकासात्मक कार्यक्रमों के अभिन्न अंग हैं तथा इनके द्वारा निम्नलिखित क्षेत्रों में महत्वपूर्ण कार्य सम्पादित किए जा सकते हैं-

1. ब्लॉक स्तर पर ऊर्जा संगठनों का निर्माण करके जिससे ऊर्जा के स्थायी स्रोतों का विकास किया जा सके।
2. परिवार कल्याण, स्वास्थ्य एवं पोषण, शिक्षा तथा अन्य सामुदायिक विकास के कार्यक्रमों में गैरसरकारी संगठनों की महत्वपूर्ण भूमिका।
3. जलीय प्रबन्ध तथा भूमि संरक्षण।
4. कमजोर वर्गों के लिए सामाजिक कल्याणकारी कार्यक्रमों का निर्माण।

5. न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रमों को लागू करना।

6. बाढ़, चक्रवात आदि विनाशकारी घटनाओं की रोकथाम के प्रयास करना।

7. पारिस्थितिकी के विकास एवं जनजाति विकास के कार्यक्रमों का निर्माण करना।

8. पर्यावरण संरक्षण से सम्बन्धित पहलुओं की जानकारी प्रदान करना।

NOTES

इस प्रकार, छठी पंचवर्षीय योजना ने विकास से सम्बन्धित कार्यक्रमों को पूरा करने में राज्य की भूमिका को कम कर दिया तथा उसे परिधि पर लाकर खड़ा कर दिया। इस योजना में उन सभी क्षेत्रों को सुनिश्चित कर दिया गया जिनमें गैर-सरकारी संगठनों की सक्रिय एवं सकारात्मक भूमिका हो सकती है। जहाँ छठी योजना ने गैर-सरकारी संगठनों के लिए क्षेत्रों का निर्धारण किया, वहाँ सातवीं पंचवर्षीय योजना ने इसको वैधानिक मान्यताएँ प्रदान की तथा इनके निर्माण के लिए कुछ नियमों का निर्माण किया। इस योजना में गैर-सरकारी संगठनों को 'लाभ पाने वाले व्यक्तियों की आँखें तथा कानों' की संज्ञा प्रदान की गई। सातवीं पंचवर्षीय योजना के द्वारा ग्रामीण गैर-सरकारी संगठनों के गठन के लिए निम्नलिखित नियमों का निर्माण किया गया-

1. संगठन का कानूनी स्वरूप हो।

2. इसकी स्थापना ग्रामीण क्षेत्रों में की जाए तथा इनको कम-से-कम तीन वर्षों का अनुभव हो।

3. इसके विस्तृत उद्देश्यों पर आधारित सामाजिक तथा आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने से सम्बन्धित कार्यक्रम होने चाहिए जिसमें कमजोर वर्गों के हितों का विशेष ध्यान रखा जाए। इसका उद्देश्य लाभ प्राप्त करना नहीं होना चाहिए।

4. इसकी गतिविधियों में भाग लेने का अधिकार भारत के सभी नागरिकों के लिए बिना किसी जाति, धर्म, नस्ल आदि के भेदभाव के होना चाहिए।

5. इन संगठनों में कार्यक्रमों के निर्माण तथा क्रियान्वयन के लिए अपेक्षित योग्यता, ज्ञान, व्यावसायिक दक्षता तथा संगठनात्मक प्रबुद्धि होनी चाहिए।

6. इसके पदाधिकारी राजनीतिक दलों से सम्बन्धित नहीं होने चाहिए।

7. गैर-सरकारी संगठनों को यह भी घोषित करना चाहिए कि वे ग्रामीण विकास के कार्यक्रमों के सम्पादन के लिए संवैधानिक अथवा अहिंसात्मक साधनों का ही प्रयोग करेंगे।

8. ये संगठन धर्म-निरपेक्ष एवं प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तों के आधार पर कार्य करेंगे।

इस प्रकार, सातवीं पंचवर्षीय योजना ने गैर-सरकारी संगठनों को आधिकारिक तौर पर मान्य ठहराने का प्रयास किया तथा यह भी स्वीकार किया कि ग्रामीण विकास के कार्यों को पूरा करने के लिए गैरसरकारी संगठनों को शासन के द्वारा पर्याप्त धनराशि प्रदान करनी चाहिए। परन्तु इस योजना के द्वारा गैर-सरकारी संगठनों के कार्य-क्षेत्र को सीमित कर दिया गया क्योंकि इन संगठनों को केवल उन्हीं क्षेत्रों में वित्तीय सहायता प्रदान की जाएगी जिनको शासन के द्वारा निर्धारित किया जाएगा। अत: इस स्थिति ने उन आधारों पर ही कुठाराघात कर दिया जिन पर गैर-सरकारी संगठनों के विकास में गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका सुनिश्चित करने तथा पहले से कार्य कर रहे संगठनों के कार्य-क्षेत्र के विस्तार हेतु आठवीं, नवीं एवं दसवीं पंचवर्षीय योजनाओं में अनेक कदम उठाए गए। समाज के कमजोर वर्गों के लिए काम कर रहे गैर-सरकारी संगठनों को वित्तीय अनुदान की राशि बढ़ा दी गई। दसवीं योजना में उन गैर-सरकारी संगठनों को विशेष रूप से आर्थिक सहायता उपलब्ध कराई गई जो अनुसूचित जातियों के लिए आवासीय विद्यालयों, छात्रावासों, चिकित्सा इकाइयों, कम्प्यूटर प्रशिक्षण इकाइयों तथा आशुलिपी एवं टंकण प्रशिक्षण इकाइयों, बालबाड़ियों/ शिशु सदनों, पुस्तकालयों, श्रव्य दृश्य इकाइयों जैसी परियोजनाओं के लिए काम करते हैं। यह अनुदान सामान्यत: परियोजना की कुल अनुमोदित लागत का 90 प्रतिशत तक होता है और शेष 10 प्रतिशत राशि का वहन आर्थिक सहायता लेने वाले संगठनों द्वारा किया जाता है। विकलांगों के पुनर्वास तथा बेसहारा बच्चों के लिए कार्य कर रहे गैर-सरकारी संगठनों को भी अनुदान में प्राथमिकता दी गई है। इस समय चल रही ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना में भी गैरसरकारी संगठनों को समाज कार्य हेतु सरकार द्वारा काफी अनुदान प्रदान किया जा रहा है।

7.8 प्रजातन्त्र एवं गैर-सरकारी संगठन

गैर-सरकारी संगठनों का प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया के माध्यम से उदय होता है तथा ये प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया को सुदृढ़ता प्रदान करने तथा सुविधाजनक बनाने के प्रभावशाली साधन हैं। वर्तमान समय में गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण होती जा रही है। अत: गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका में परिवर्तन हो जाने के कारण उनके स्वरूप में भी पर्याप्त परिवर्तन हुए हैं। गैर-सरकारी संगठनों में से अधिकांश का सम्बन्ध उन समस्त गतिविधियों तथा कार्यक्रमों से होता है जो समाज के निम्नतम स्तर पर रहने वाले कमजोर वर्गों के उत्थान तथा कल्याण के लिए निर्मित किए जाते हैं। वर्तमान समय में ऐसे संगठनों की संख्या मे निरन्तर वृद्धि का कारण यह है कि सरकार के द्वारा बगैर किसी जाति, धर्म, सम्प्रदाय, लिंग तथा नस्ल के भेदभाव के समाज के सभी वर्गों को सेवाएँ प्रदान करना सम्भव नहीं हो पा रहा है। सरकार इन सेवाओं में अपनी भूमिका को सीमित करना चाहती है। राज्य के द्वारा प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया के माध्यम से समाज के सतही स्तर के व्यक्तियों के सामाजिक-आर्थिक विकास में असफल हो जाने के कारण विकास के कार्यों को सम्पादित करने के उद्देश्य से गैर-सरकारी संगठनों का महत्व निरन्तर बढ़ रहा है।

विकास में गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका का मूल्यांकन करने के सम्बन्ध में दो प्रकार के विचार प्रतिपादित किए जाते हैं। प्रथम प्रकार के विचारों का सम्बन्ध राज्य के द्वारा निर्देशित विकास का प्रतिकार करने से है, जिसके परिणामस्वरूप कार्य का गुरूत्तर भारत सरकार द्वारा पोषित संस्थाओं से हटकर उन विभिन्न सामाजिक-राजनीतिक संस्थाओं पर स्थापित हो गया है जो शासन की औपचारिक संरचनाओं से बाहर रहकर कार्य करती है। दूसरे प्रकार के विचारों का सम्बन्ध सतही स्तर पर कार्य करने वाली उन पंचायती राज संस्थाओं की भूमिका में परिवर्तन से है जिनका विभिन्न राजनीतिक कारणों से महत्व निरन्तर कम होता जा रहा था।.पंचायती संस्थाओं के प्रति जनता का आकर्षण कम हो गया है जिसके परिणामस्वरूप प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया को सुदृढ़ एवं शक्तिशाली बनाने में इनकी भूमिका कमजोर होनी प्रारम्भ हो चुकी है। आठवीं पंचवर्षीय योजना में स्थिति पर गम्भीर रूप से विचार किया गया तथा यह निष्कर्ष निकाला गया कि, "विकास को जन आन्दोलन का रूप प्रदान करने की आवश्यकता है। विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया में जनता की सहभागिता तथा पहल करने की क्षमता की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। शिक्षा एवं साक्षरता, स्वास्थ्य, परिवार नियोजन, भूमि संरक्षण तथा सुधार, लघु सिंचाई, जल प्रबन्धन, वृक्षारोपण, पशुपालन, डेयरी तथा मत्स्य पालन के विभिन्न क्षेत्रों में उपलब्धियाँ गैर-सरकारी संगठनों को समुदाय के प्रति उत्तरदायी बनाकर ही प्राप्त की जा सकती है।"

आठवीं पंचवर्षीय योजना के विचार को मूर्त रूप प्रदान करने के उद्देश्य से पंचायती राज संस्थाओं को और भी अधिक शक्तिशाली, कार्यकुशल तथा उत्तरदायी बनाने के उद्देश्य से 1993 ई. में संविधान में 73वाँ संशोधन किया गया। इस संशोधन विधेयक में स्थानीय स्वशासन की इकाइयों में जन सहभागिता को बढ़ाने का प्रयास किया गया। सतही स्तर के सामयिक तथा आर्थिक विकास के लिए पंचायतों को विकास के कार्यक्रमों को निर्मित करने तथा उनको लागू करने के अधिकार प्रदान किए गए। इन बदलते संदर्भों में गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका पर भी विचार किया गया। यह महसूस किया गया कि पंचायती संस्थाओं के कार्यों में सहयोग प्रदान करने के लिए गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका भी महत्वपूर्ण हो सकती है। स्थिति में इस प्रकार के परिवर्तन का कारण राजनीतिक तथा प्रशासनिक निर्देशन की प्रक्रिया को कम करना था जिससे पंचायती संस्थाओं को जन सहभागिता के माध्यम से शक्तिशाली बनाया जा सके। पंचायती राज संस्थाओं में मजबूती के लिए यह आवश्यक है कि वे स्थानीय जनता के विश्वास तथा सहयोग को जीतने में सफल हो सकें। इस कार्य को सम्पन्न करने में गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण हो जाती है। इस व्यवस्था को लागू करने के सम्बन्ध में उठाए गए सभी कदम आज कागजी कार्यवाही तक ही सीमित होकर रह जाएँगे जब तक कि गैर-सरकारी संगठनों के सहयोग एवं क्षमता का प्रयोग नहीं किया जाएगा। अत: गैर-सरकारी संगठन निम्नलिखित दो प्रकार के कार्यों का सम्पादन कर सकते है-

1. ये संगठन सतही स्तर पर जनता की उन माँगों को विशेष नीतिगत निर्देशों के रूप में परिणत कर देते है जिनको राज्य के द्वारा सतही स्तर पर गैर-सरकारी संगठनों के माध्यम से क्रियान्वित किया जाता है।
2. ये संगठन जनता की निरन्तर प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप उत्पन्न वातावरण बनाए रखने में सहयोग प्रदान करता है।

इस प्रकार से स्थानीय स्तर पर विकासात्मक नियोजन की प्रक्रिया को मजबूत बनाने में गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण हो सकती है। इन संगठनों के माध्यम से उन कल्याणकारी योजनाओं को निर्मित तथा क्रियान्वित किया जा सकता है जिनको पूरा करने में राज्य असफल हो चुका है। अत: प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया के लिए आवश्यक जन सहभागिता में वृद्धि करने में इन संगठनों की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण हो सकती है। गैर-सरकारी संगठनों (NGOs) को अपने कार्यक्रमों को निश्चित करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है, क्योंकि वे वित्तीय सहायता प्रदान करने वाली संस्थाओं के द्वारा सुनिश्चित किए गए कार्यक्रमों के आधार पर ही अपने कार्यक्रमों का निर्धारण करते हैं। फिर भी प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया में विकास के कार्यक्रमों को मूर्त रूप प्रदान करने में शासन तथा गैर-सरकारी संगठनों की समान भूमिका तथा समान उत्तरदायित्व है।

बोध प्रश्न

1. छठी पंचवर्षीय योजना में किन नियमों का निर्माण किया गया?

....

....

....

....

....

2. गैर सरकारी संगठन किन दो प्रकार के कार्यों का संपादन कर सकते हैं?

....

....

....

....

....

7.9 सारांश

गैर सरकारी संगठन वे होते हैं जो समाज सेवा के लिए बुद्धिजीवियों द्वारा बनाए जाते हैं। ये संगठन सरकार से जुड़े नहीं होते। गैर सरकारी संगठन को प्रत्येक जिले में अपने को पंजीकृत करना होता है। गैर सरकारी संगठन चार प्रकार के होते हैं- परोपकारी, सेवा, सहभागिता, सशक्तिकरण करने वाले होते हैं। इन संगठनों में लाभ प्राप्त करने के स्थान पर समाज की आवश्यकता पूर्ति पर बल देना होता है। इन संगठनों को जन सहयोग सरलता से प्राप्त होता है। गैर सरकारी प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था में अपनी सक्रिय भूमिका निभाते हैं।

7.10 शब्दावली

गैर -सरकारी संगठन - गैर-सरकारी संगठन शब्द का प्रयोग सामान्यत: उन संगठनों के लिए ही प्रयोग किया जाता है जो बृहत् सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु प्रयासरत् होते हैं। यह प्रयास वे अपने संसाधनों अथवा सरकारी सहायता द्वारा करते हैं।

प्रजातन्त्र - प्रजातन्त्र का अर्थ शासन प्रणाली का वह स्वरूप है जिसमें शासन की सम्पूर्ण शक्ति जनता में निहित होती है।

कल्याणकारी राज्य - कल्याणकारी राज्य वह राज्य है जो अपनी शक्ति का प्रयोग अर्थव्यवस्था को इस प्रकार परिवर्तित करने के लिए करता है कि सम्पत्ति का अधिक-से-अधिक उचित एवं न्यायपूर्ण वितरण तथा जनता के सभी अंगों के हितों की रक्षा हो सके।

7.11 अभ्यास प्रश्न

दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. गैर-सरकारी संगठन किसे कहते हैं? इसके प्रमुख प्रकार बताइए।
2. गैर-सरकारी संगठन का अर्थ बताइए तथा इसके निर्माण की प्रक्रिया को संक्षेप में समझाइए।
3. आधुनिक समाजों में सरकार द्वारा गैर-सरकारी संगठनों को महत्व प्रदान करने के कारण बताइए।
4. गैर-सरकारी संगठनों के गुण-दोषों की विवेचना कीजिए।

लघुउत्तरीय प्रश्न

1. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए-
   (अ) गैर-सरकारी संगठन एवं समाज कार्य
   (ब) प्रजातन्त्र एवं गैर-सरकारी संगठन
   (स) पंचवर्षीय योजनाएँ एवं गैर-सरकारी संगठन

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. गैर-सरकारी संगठनों के प्रकार हैं–
   (अ) चार (ब) पाँच (स) छः (द) सात

उत्तर 1. (अ)

NOTES

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

Clark, John, Democratizing Development : The Role of Voluntary Organizations, London : Earthscan Publications, 1991.

Devi, Rameshwari, Voluntary Organizations in India, New Delhi : Mangal Deep Publishers, 2006.

Etzioni, Amitai, Modern Organizations, Englewood Cliffs, N.J. : Prentice-Hall, 1964.

Farrington, John et. al. (eds.), Nongovernmental Organizations and the State in Asia, London : Routledge, 1993.

Hall, Richard H , Organizations : Structure and Processes, Englewood Cliffs, N.J. : Prentice-Hall, Inc., 1972.

Scott, W. Richard, "Theory of Organizations" in Robert E. Faris (ed.), Handbook of Modern Sociology,

Stillman, Grant B., Global Standard NGOs, Geneva : Lulu, 2007.

World Bank, How the World Bank Works with Nongovernmental Organizations,

Washington : World Bank, 1990.

●●●

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

अध्याय-8 मानवाधिकार (HUMAN RIGHT)

इकाई की रूपरेखा

NOTES

8.0 उद्देश्य
8.1 प्रस्तावना
8.2 मानवाधिकार क्या हैं?
8.3 मानवाधिकारों का आख्यान
8.4 मानवाधिकारों का प्रवचन : पश्चिम बनाम तृतीय विश्व
8.5 मानवाधिकारों की अविभाज्यता एवं अन्योन्याश्रितता
8.6 सारांश
8.7 शब्दावली
8.8 अभ्यास प्रश्न
सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

8-0 उद्देश्य

भारत के संविधान के पारित होने के समय मानवाधिकार की बात न केवल प्रारम्भ हो चुकी थी, अपितु विश्वभर में मानवाधिकार को लेकर काफी हलचल प्रारम्भ हो गई थी। मानवीय या मानवाधिकारों की भावना का प्रादुर्भाव द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद हुआ। इस भावना का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक राष्ट्र को ऐसे अधिकार प्रदान करना, जिनके माध्यम से वह अपना समुचित विकास करने में सफल हो सके। अत: एक प्रकार से मानवाधिकारों की भावना, विश्वबन्धुत्व की भावना पर आधारित है। इस भावना के आधार पर यह माना जाता है कि विश्व के सभी मनुष्य एक-दूसरे के भाई हैं और सभी को अपने विकास के लिए समान अवसर मिलने चाहिए। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में वर्णित भारत की 'पूर्ण सत्ताधारी प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य' की अवधारणा सामाजिक न्याय, स्वतन्त्रता, समानता एवं बन्धुत्व की भावना पर आधारित है। यह सभी मूल्य उदारवाद के आधार-स्तम्भ हैं। भारतीय संविधान के भाग तीन में मौलिक अधिकारों की व्यवस्था की गई है। यह मौलिक अधिकार इसलिए कहे जाते हैं क्योंकि इन्हें मानव व्यक्तित्व के विकास हेतु आवश्यक माना जाता है।

8.1 प्रस्तावना

सम्पूर्ण मानव जाति आज शोषण, अत्याचार, उत्पीड़न एवं आतंकवाद से पीड़ित है इसीलिए मानवाधिकारों का संरक्षण आज सभी देशों में एक महत्वपूर्ण चुनौती बन गया है। ऐसा माना जाता है कि मानवाधिकारों का उदय मानव विकास के साथ ही हुआ क्योंकि इनके बिना न तो वह गरिमा के साथ जीवनयापन कर सकता था और न सभ्यता और संस्कृति का विकास कर सकता था। लेकिन इसके साथ ही, मानवाधिकारों के दमन का सिलसिला शुरू हो गया तथा शक्तिशाली लोगों एवं समूहों ने दूसरों का शोषण करके अपना वर्चस्व बनाए रखा। पिछले 5,000 वर्षों में इस प्रकार के वर्चस्व का स्वरूप बदलता रहा है। इसी का यह परिणाम है कि मानवाधिकारों की आवश्यकता महसूस की गई।

8.2 मानवाधिकार क्या हैं?

अधिकार, मानव के सामाजिक जीवन की ऐसी आवश्यकताएँ हैं जिनके अभाव में मानव न तो अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है और न समाज के लिए उपयोगी कार्य ही कर सकता है। बिना अधिकारों के

मानव का जीवन पशुतुल्य है। अत: अधिकार मानव जीवन की वे परिस्थितियाँ हैं जो उनके व्यक्तित्व के विकास के लिए नितान्त आवश्यक है। राज्य का भी यह प्रयास रहता है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो अत: वह व्यक्तियों को विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करता है। राज्य द्वारा व्यक्तियों को दी जाने वाली सुविधाओं का नाम ही अधिकार है।

NOTES

मानवाधिकारों की घोषणा सर्वप्रथम अमेरिकी तथा फ्रांसीसी क्रान्तियों के पश्चात् हुई। उसके पश्चात् मानव के महत्वपूर्ण अधिकारों को विश्व समुदाय के द्वारा स्वीकार किया गया। 1941 ई. में अमेरिकी कांग्रेस में अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने मानव को चार स्वतन्त्र अधिकारों को प्रदान करने का समर्थन किया-

1. भाषण तथा विचार अभिव्यक्ति का अधिकार,
2. धर्म तथा विश्वास का अधिकार,
3. अभाव से स्वतन्त्रता का अधिकार, तथा
4. भय से स्वतन्त्रता का अधिकार।

ये चारों अधिकार मानव के व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विकास के लिए आवश्यक है तथा विश्व के सभी व्यक्तियों को प्रत्येक दशा में प्राप्त होने चाहिए। अटलाण्टिक चार्टर से लेकर द्वितीय महायुद्ध समाप्त होने के पूर्व अनेक सम्मेलनों में मित्र राष्ट्रों के द्वारा मानव के विभिन्न अधिकारों तथा आधारभूत स्वतन्त्रताओं पर बल दिया गया। विश्व-शान्ति तथा सुरक्षा को बनाए रखने के लिए 1944 ई. में अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना के साथ-साथ यह भी कहा गया था कि मानव अधिकारों को प्रोत्साहित करने के लिए कुछ बुनियादी उद्देश्य स्वीकार किए जाएँ। जब दूसरे विश्व-युद्ध के पश्चात् 1945 ई. में संयुक्त राष्ट्र संघ का घोषणा-पत्र तैयार हुआ तो मानवाधिकारों तथा मूलभूत स्वतन्त्रताओं की आवश्यकताओं को भी विस्तृत रूप से स्वीकार किया गया।

मानवाधिकार वे निश्चित अधिकार हैं जो किसी पुरुष अथवा महिला को मानव होने के नाते प्रदत्त होते हैं (Human rights are certain rights that are vested in every person by virtue of his/her being a human)। यह अधिकार सभी मानवों को एक समान प्राप्त होते हैं। क्या सभी व्यक्तियों को समान मानवाधिकार प्राप्त है? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसके उत्तर में तीन बातों को ध्यान में रखा जाना अनिवार्य है-प्रथम, कुछ अधिकार इतने मौलिक हैं कि उन्हें प्रदत्त करना सम्भव नहीं है। उदाहरणार्थ, दासता। कोई भी राष्ट्र आज दासता का अधिकार नहीं दे सकता या इसे उचित ठहरा सकता है। द्वितीय, विभिन्न राष्ट्र कुछ अधिकारों को मान्यता प्रदान कर सकते हैं बशर्ते कि उन्होंने किसी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि पर इसके लिए हस्ताक्षर किए हैं। यदि नहीं किए हैं तो वे अधिकारों को प्रदत्त करने के लिए बाध्य नहीं किए जा सकते। तृतीय, मानवाधिकार एक स्थिर अथवा निश्चित अवधारणा (Static or fixed concept) नहीं है। यह निरन्तर विकसित अथवा परिवर्तित होती रहती है। यह एक उस बीज की भाँति है जो बोए जाने के पश्चात् धीरे-धीरे विकसित होता है।

मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम के प्रयोजनार्थ शब्द 'मानवाधिकार' अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वस्तुत: यही शब्द इस सम्पूर्ण अधिनियम का केन्द्र-बिन्दु है। मानव अधिकारों के अर्थ को निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है-

"मानवाधिकार में व्यक्ति के जीवन (प्राण), स्वतन्त्रता, समानता एवं गरिमा से सम्बन्धित ऐसे अधिकार अभिप्रेरित है जो संविधान द्वारा प्रत्याभूत अथवा अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदाओं में सन्निहित हैं तथा भारत के न्यायालयों द्वारा प्रवर्तनीय हैं।"

मानवाधिकारों की यह परिभाषा अत्यन्त व्यापक एवं विस्तृत है। इसमें अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदाओं एवं अभिसमयों में समाहित तथा भारतीय संविधान द्वारा प्रत्याभूत जीवन, स्वतन्त्रता, समानता तथा वैयक्तिक गरिमा से सम्बद्ध अधिकारों को सम्मिलित किया गया है। इसका मूल लक्ष्य मानव जीवन तथा उसकी गरिमा को अक्षुण्ण बनाए रखना है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में मानवाधिकार सम्बन्धी निम्न व्यवस्था की गई-

1. संयुक्त राष्ट्र के चार्टर की प्रस्तावना में कहा गया है, "मानव के मौलिक अधिकारों, मानव के व्यक्तित्व के गौरव तथा महत्व में तथा पुरुषों और स्त्रियों के समान अधिकारों में आस्था प्रकट की जाती है।"
2. चार्टर की धारा 1 के अनुसार, "संयुक्त राष्ट्र का उद्देश्य मानवाधिकारों के प्रति सम्मान को प्रोत्साहन देना तथा जाति, लिंग, भाषा या धर्म के बिना किसी भेदभाव के मौलिक अधिकारों को बढ़ावा देना तथा प्रोत्साहित करना।"

NOTES

3. चार्टर की धारा 13 में कहा गया है, "महासभा के द्वारा जाति, लिंग, भाषा या धर्म के भेदभाव के बिना सभी को मानवाधिकार तथा मूलभूत स्वतन्त्रताओं की प्राप्ति में सहायता दी जाएगी।"
4. चार्टर की धारा 55 में यह व्यवस्था है, "संयुक्त राष्ट्र संघ जाति, लिंग, भाषा या धर्म के भेदभाव के बिना सभी के लिए मानवाधिकारों तथा मूलभूत स्वतन्त्रताओं को प्रोत्साहन देगा।"
5. चार्टर की धारा 56 के अनुसार, "सभी सदस्य राष्ट्र मानवाधिकारों तथा मानवीय स्वतन्त्रताओं की प्राप्ति के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ को अपना सहयोग प्रदान करेंगे।"
6. चार्टर की धारा 62 में यह उपबन्ध किया गया है, "आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् सभी के लिए मानवाधिकारों तथा मूलभूत स्वतन्त्रताओं के प्रति सम्मान की भावना बढ़ाने तथा उनके पालन के सम्बन्ध में सिफारिश करेगी।"

इस प्रकार, संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुच्छेद 55, 56 तथा 62 में मानवाधिकारों तथा स्वतन्त्रताओं की सुरक्षा पर विशेष बल दिया गया है। चार्टर के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्र को मानवाधिकारों के सम्बन्ध में केवल प्रोत्साहन देने का ही अधिकार है, कोई कार्यवाही करने का अधिकार नहीं है। इस दृष्टि से व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा उसके व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए राज्य नागरिकों को जो सुविधाएँ प्रदान करता है उनका नाम अधिकार है। विश्व-शान्ति तथा सुरक्षा को बनाए रखने के लिए इन अधिकारों का अत्यधिक महत्व है।

8.3 मानवाधिकारों का आख्यान

मानवाधिकारों की प्राप्ति को सुनिश्चित करने तथा पालन के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ ने 'मानवाधिकार आयोग' (Commission of Human Rights) की नियुक्ति की और उसे मानवाधिकारों के मूलभूत सिद्धान्तों का प्रारूप तैयार करने का दायित्व सौंप दिया। लगभग तीन वर्षों के अथक् परिश्रम के उपरान्त 'मानवाधिकार आयोग' ने 'मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा' का प्रारूप बनाकर तैयार कर दिया। 10 दिसम्बर, 1948 को संयुक्त राष्ट्र महासभा ने कुछ संशोधनों के साथ इस प्रारूप को स्वीकृत कर दिया और इसी दिन मानवाधिकारों का सार्वभौम घोषणा-पत्र जारी कर दिया गया। इस घोषणा पत्र में 30 धाराएँ हैं। इन धाराओं के अन्तर्गत मानवाधिकारों के सम्बन्ध में निम्नांकित उपबन्ध दिए गए हैं-

1. **धारा 1 के अनुसार-** "सभी मनुष्य जन्म से स्वतन्त्र हैं और अधिकार एवं प्रतिष्ठा में एक समान हैं। उनमें विवेक और बुद्धि है, इसलिए प्रत्येक मनुष्य को दूसरों के प्रति भ्रातृत्व का व्यवहार करना चाहिए।"
2. **धारा 2 के अनुसार-** "प्रत्येक मनुष्य बिना जाति, वर्ण, लिंग, भाषा, धर्म, राजनीतिक अथवा सामाजिक उद्‌गम, जन्म या किसी दूसरे भेदभाव के, इस घोषणा में व्यक्त किए हुए सभी अधिकारों और स्वतन्त्रताओं के उपयोग का अधिकारी है। इसके अतिरिक्त किसी स्थान या देश के साथ, जिसका वह व्यक्ति नागरिक है, राजनीतिक स्तर के आधार पर भेद नहीं किया जाएगा, चाहे वह देश स्वतन्त्र हो, संरक्षित हो या शासनाधिकार से हीन हो अथवा किसी अन्य प्रकार से सीमित सम्प्रभु हो।"
3. **धारा 3 के अनुसार-** "प्रत्येक मनुष्य को जीवन, स्वतन्त्रता और सुरक्षा का अधिकार है।"
4. **धारा 4 के अनुसार-** "कोई भी व्यक्ति दासता अथवा गुलामी में नहीं रखा जा सकेगा। दासता और दास व्यवस्था सभी क्षेत्रों में सर्वथा निषिद्ध होगी।"
5. **धारा 5 के अनुसार-** "किसी भी व्यक्ति को अमानुषिक दण्ड नहीं दिया जाएगा और न ही उसके प्रति क्रूरतापूर्ण व अपमानजनक व्यवहार ही किया जाएगा।"
6. **धारा 6 के अनुसार-** "प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार होगा कि वह प्रत्येक स्थान पर कानून के अधीन व्यक्ति माना जाए।"
7. **धारा 7 के अनुसार-** "कानून के समक्ष सभी व्यक्ति समान होंगे और सभी बिना किसी भेदभाव के कानून की सुरक्षा प्राप्ति के अधिकारी हैं।"
8. **धारा 8 के अनुसार-** "प्रत्येक व्यक्ति को संविधान या कानून द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों को भंग करने वाले कार्यों के विरुद्ध, राष्ट्रीय न्यायालयों से संरक्षण पाने का अधिकार होगा।"

9. **धारा 9 के अनुसार-** ''किसी व्यक्ति को अवैधानिक ढंग से न तो बन्दी बनाया जाएगा, न कैद किया जाएगा और न ही निष्कासित किया जाएगा।''

10. **धारा 10 के अनुसार-** ''प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायालय द्वारा अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों तथा अपने विरुद्ध लगाए गए किसी अपराध के निर्णय के लिए उचित तथा खुले रूप में सुनवाई करवाने का समान रूप से अधिकार है।''

11. **धारा 11 के अनुसार-** ''प्रत्येक व्यक्ति, जिस पर दण्डनीय अपराध का आरोप है, उस समय तक निर्दोष माना जाएगा जब तक कि उसे एक खुले मुकदमे की सुनवाई के पश्चात् अपराधी सिद्ध न कर दिया जाए। उसे अपनी निर्दोषता प्रमाणित करने का पूर्ण अवसर दिया जाएगा।''

12. **धारा 12 के अनुसार-** ''किसी की भी पारिवारिक, गृहस्थी मूलक और पत्र-व्यवहार की गोपनीयता में मनमाना हस्तक्षेप नहीं किया जाएगा और न उसके सम्मान व प्रतिष्ठा को ही क्षति पहुँचाई जा सकेगी।''

13. **धारा 13 के अनुसार-** ''प्रत्येक व्यक्ति को अपने राज्य की सीमा के भीतर आवागमन और निवास की स्वतन्त्रता का अधिकार होगा।''

14. **धारा 14 के अनुसार-** '' प्रत्येक व्यक्ति को आवश्यक कष्ट व अपमान से बचने के लिए किसी भी देश मे शरण लेने और सुखपूर्वक रहने का अधिकार है।''

15. **धारा 15 के अनुसार-** ''प्रत्येक व्यक्ति को राष्ट्रीयता का अधिकार प्राप्त होगा।''

16. **धारा 16 के अनुसार-** ''वयस्क स्त्री और पुरुष को जाति, राष्ट्रीयता अथवा धर्म की सीमा के बगैर; विवाह करने तथा परिवार बसाने का अधिकार है। उन्हें विवाह करने का, वैवाहिक जीवन में और वैवाहिक सम्बन्ध विच्छेद के समान अधिकार प्राप्त हैं।''

17. **धारा 17 के अनुसार-** ''प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं अथवा दूसरों के साथ सम्पत्ति रखने का अधिकार है।''

18. **धारा 18 के अनुसार-** ''प्रत्येक व्यक्ति को विचार, अनुभूति तथा धर्म की स्वतन्त्रता का अधिकार प्राप्त है।''

19. **धारा 19 के अनुसार-** ''प्रत्येक व्यक्ति को मत और विचार अभिव्यक्त करने की स्वतन्त्रता प्राप्त है।''

20. **धारा 20 के अनुसार-** ''प्रत्येक व्यक्ति को शान्तिपूर्ण ढंग से सभा करने की स्वतन्त्रता है।''

21. **धारा 21 के अनुसार-** ''प्रत्येक व्यक्ति को अपने देश के प्रशासन में स्वतन्त्रतापूर्वक निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा भाग लेने का अधिकार है।''

22. **धारा 22 के अनुसार-** ''प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक सुरक्षा का अधिकार प्राप्त होगा।''

23. **धारा 23 के अनुसार-** ''प्रत्येक व्यक्ति को काम करने, इच्छानुसार अपनी जीविका हेतु व्यवसाय चुनने, काम की उचित परिस्थितियाँ प्राप्त करने तथा बेकारी से बचने का अधिकार है।''

24. **धारा 24 के अनुसार-** ''प्रत्येक व्यक्ति को विश्राम और अवकाश का अधिकार है।''

25. **धारा 25 के अनुसार-** ''प्रत्येक व्यक्ति को अपना समुचित जीवन स्तर बनाए रखने का अधिकार है।''

26. **धारा 26 के अनुसार-** ''प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा पाने का अधिकार है। शिक्षा का लक्ष्य मानव व्यक्तित्त्व का पूर्ण विकास और मानव अधिकारों एवं मौलिक स्वतन्त्रताओं की प्रतिष्ठा को बढ़ाना होगा।''

27. **धारा 27 के अनुसार-** ''प्रत्येक व्यक्ति को सांस्कृतिक अधिकार प्राप्त है। प्रत्येक व्यक्ति सांस्कृतिक क्रिया-कलापों में बिना किसी भेदभाव के भाग ले सकता है और अपनी प्रतिभा से लाभान्वित हो सकता है।''

28. **धारा 28 के अनुसार-** ''प्रत्येक व्यक्ति ऐसी सामाजिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का अधिकारी है जिससे इस घोषणा में उल्लेखित अधिकारों और स्वतन्त्रताओं की पूर्ण प्राप्ति हो सके।''

29. **धारा 29 के अनुसार-** ''समाज के प्रति प्रत्येक व्यक्ति के कुछ ऐसे कर्त्तव्य हैं जिनके पालन से ही उसके व्यक्तित्व का स्वतन्त्र एवं पूर्ण विकास सम्भव है।''

30. **धारा 30 के अनुसार-**"इस घोषणा-पत्र में उल्लिखित किसी भी आदेश के ऐसे अर्थ न लगाए जाएँ जिनसे किन्हीं राज्यों के समूह या व्यक्ति को किसी भी ऐसे कार्य में लगाने या करने का अधिकार मिले जिसका इस घोषणा-पत्र में वर्णित अधिकारों और स्वतन्त्रताओं में से किसी एक को नष्ट करने का लक्ष्य हो।"

बोध प्रश्न

NOTES

1. मानव अधिकार से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

2. संयुक्त राष्ट्र संघ की मानव अधिकार संबंधी व्यवस्था बताओ?

....

....

....

मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा का विश्व भर में व्यापक स्वागत किया गया। श्रीमती रूजवेल्ट ने इसे 'सम्पूर्ण मानव समाज के मैग्नाकार्टा' की संज्ञा दी और कुछ विद्वानों ने इसे 'मानवतावाद का दमकल' कहकर पुकारा। चार्ल्स मलिक ने लिखा है, "यह घोषणा-पत्र केवल प्रस्ताव-मात्र न होकर संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर का ही एक अंग है।" परन्तु दूसरी ओर अनेक विद्वान् ऐसे भी हैं जो मानवाधिकारों की घोषणा को कोई ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय मसविदा स्वीकार नहीं करते जो विभिन्न राष्ट्रों में चढ़ते हुए शोषण, अत्याचार, उत्पीड़न एवं आतंकवाद से बाध्यकारी रूप में राहत दिला सकें। उदाहरण के लिए-पाल्मर व परकिन्स ने इस सम्बन्ध में कहा है, "यह घोषणा केवल आदर्शों का प्रतिपादन है, कानूनी रूप से बाध्य करने वाला कोई समझौता नहीं है, परन्तु यह एक महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय मसविदा निश्चय ही है।"

घोषणा-पत्र में वर्णित मानवाधिकारों को व्यावहारिक बनाने हेतु संयुक्त राष्ट्र संघ ने निम्नलिखित परम्पराएँ भी स्थापित की हैं-

1. जाति, धर्म और संस्कृति सम्बन्धी परम्पराएँ।
2. महिलाओं को राजनीतिक अधिकार देने की परम्परा (1950)
3. दास प्रथा का उन्मूलन (1955)
4. बलपूर्वक श्रम का निषेध (1957)

संयुक्त राष्ट्र संघ के 'मानवाधिकार आयोग' ने मानवीय अधिकारों के लिए तीन प्रारूप व संविदाओं का भी निर्माण किया है-

1. आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों की प्रारूप संविदा (1952)
2. नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों की प्रारूप संविदा (1952)
3. राजनीतिक अधिकारों सम्बन्धी संविदा की वैकल्पिक व्यवस्था (1966)

इन संविदाओं का उद्देश्य मानवाधिकारों की सुरक्षा करना है।

संयुक्त राष्ट्र संघ देश-विदेश के प्रतिवेदनों के आधार पर मानवाधिकार उल्लंघन को रोकने का प्रयास करता है। प्रत्येक वर्ष यह मानवाधिकार आयोग अल्पसंख्यकों के संरक्षण तथा भेदभाव को रोकने से सम्बन्धित विषयों पर विचार-विमर्श करता है तथा उन्हें रोकने के लिए उपाय बताता है। जब कभी किसी देश में मानवाधिकारों की स्थिति अत्यन्त गम्भीर समझी जाती है तो आयोग उसे जाँच के आधार पर दूर करने का प्रयास करता है। प्राय: देखा गया है कि परिस्थितियों के बनने-बिगड़ने के कारण जाँच के कार्यों में वर्षों लग जाते हैं। ऐसी स्थिति में मानवाधिकार आयोग उल्लंघनों पर तुरन्त नियन्त्रण का निर्देश देता है। वैसे अनेक ऐसे मामले हैं जिनकी जाँच

होने के पश्चात् भी उन पर कोई कार्यवाही नहीं हो सकी है। उदाहरण के लिए-फिलिस्तीन का मामला। इजराइल के कब्जे वाले फिलिस्तीनी क्षेत्र का प्रश्न आयोग के समक्ष सन् 1968 से विचाराधीन है। इसी प्रकार के अन्य मामले भी हैं। इस दृष्टि से यह विडम्बना ही कही जाएगी कि मानवाधिकार का कार्य-क्षेत्र उसकी आयु बढ़ने के साथ ही छोटा होता जा रहा है। प्राय: वह अपने उद्देश्य को प्राप्त करने में विफल रहा है। यह सत्य है कि आज सम्पूर्ण विश्व में मानवाधिकारों का व्यापक स्तर पर हनन हो रहा है। परन्तु मानवाधिकार आयोग पक्षपातपूर्ण निर्णय देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सका है। 53 सदस्यीय आयोग का मत है कि इजराइल तथा दक्षिण अफ्रीका ऐसे देश हैं जो यातना देने, विरोधियों को कुचलने तथा राजनीतिक बन्दियों को मारने की नीति पर लगातार चल रहे हैं। इसी प्रकार पाकिस्तान कश्मीर में निरन्तर आतंकवादी गतिविधियों को बढ़ाता जा रहा है। पाकिस्तान के सहयोग से कश्मीर में अब तक हजारों निरपराधी स्त्री, पुरुष और बच्चे आतंकवादियों द्वारा मारे जा चुके हैं।

मानवाधिकार आयोग ने अब तक हजारों शिकायतों को अनदेखा किया है। ईरान, चीन तथा इण्डोनेशिया में राजनीतिक विद्वेष के कारण हजारों लोगों की हत्याएँ हो चुकी हैं। इन देशों की सरकारें किसी-नकिसी रूप में मानवाधिकारों का हनन कर रही हैं। इस सन्दर्भ में 'एमनेस्टी इण्टरनेशनल' की मानवाधिकार सम्बन्धी रिपोर्ट महत्वपूर्ण है। इस रिपोर्ट में कहा गया है कि बड़ी सरकारें तथा विभिन्न राजनीतिक विचारधारा से सम्बन्धित देश मानवाधिकारों का हनन करते रहते हैं। सन् 1995 की वार्षिक रिपोर्ट में विश्व के 150 देशों में मानवाधिकार की स्थिति की समीक्षा की गई है। इसमें सभी दक्षिण एशियायी देशों सहित विश्व के कुल 141 देशों पर मानवाधिकारों के उल्लंघन का आरोप लगाया गया है। एमनेस्टी की रिपोर्ट में भारत के राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की प्रशंसा की गई है। एमनेस्टी की वर्ष 1994-95 की रिपोर्ट मे अमेरिका में मानवाधिकार के हनन की जो तस्वीर प्रस्तुत की गई है, वह बहुत निराशाजनक है। अमेरिका विश्व के अन्य देशों को मानव अधिकारों की सुरक्षा का उपदेश देता है, परन्तु स्वयं वह अपने देश में न तो पुलिस को अत्याचार करने से रोक पाया है और न ही अपने कानूनों से मानव अधिकार का हनन करने वाले प्रावधानों को निकाल पाया है। अमेरिकी जेलों में बन्दियों की दशा को दयनीय बताते हुए उसे सुधारने के लिए कहा गया है। एमनेस्टी का कथन है कि अमेरिका में अनेक राज्यों में अपराधों की एक बहुत बड़ी संख्या के लिए मृत्युदण्ड का विधान है, जबकि अन्य देशों में उन अपराधों के लिए इतनी कड़ी सजा नहीं दी जाती है। नस्लवादी भेदभाव आज भी वहाँ समाप्त नहीं हुआ है।

मई 2004 में इराकी कैदियों का मनोबल तोड़ने के लिए उन्हें पूर्णत: निर्वस्त्र कर अपमानित तथा प्रताड़ित करने की मीडिया द्वारा तस्वीरें जारी की गईं तथा सम्पूर्ण विश्व में मानवाधिकारों का झंडा उठाने वाले अमेरिकी शासन का इस घोर अमानवीय कृत्य द्वारा, जिसमें इन कैदियों पर शिकारी कुत्ते भी छोड़े गए थे, असली चेहरा पूरी तरह बेनकाब हो गया है। इन समाचारों से सम्पूर्ण विश्व, विशेष रूप से अमेरिका में रोष की लहर फैल गई। एक सभ्य, शिष्ट, सुसंस्कृत देश जिसे अपनी लोकतान्त्रिक परम्पराओं पर गर्व है तथा जो सम्पूर्ण विश्व में मानवाधिकारों का ध्वजवाहक है, वहाँ के नियमित सैनिकों ने ऐसा जघन्य अपराध किया जिसने स्वयं अमेरिकी जनता को उद्वेलित कर दिया और जिसने राष्ट्रपति बुश को इस बात के लिए बाध्य कर दिया कि वह विश्व के सम्मुख इस पूरे प्रकरण के लिए क्षमा माँगे।

अमेरिकी नेतृत्व वाली गठबन्धन सेना का एक बड़ा भागीदार ब्रिटेन भी पहले तो इस पूरे प्रकरण के प्रति अनजान बना रहा परन्तु यह राज खुल जाने पर कि ब्रिटिश सैनिक भी इराकी कैदियों के उत्पीड़न में पीछे न थे, प्रधानमन्त्री टोनी ब्लेयर भी माफी माँगने पर मजबूर हुए। ब्रिटेन ने यह भी स्वीकार किया कि उसे इराकी कैदियों के साथ दुर्व्यवहार की जानकारी मई माह से भी पहले से ही थी। इधर एमनेस्टी इण्टरनेशनल ने भी ब्रिटेन द्वारा इराकी कैदियों तथा सभ्य नागरिकों पर ढाए जा रहे कहर का कच्चा चिट्ठा खोलकर उसके 'भद्र' देश होने के दावे को तार-तार कर दिया। जेनेवा की अन्तर्राष्ट्रीय रेडक्रॉस समिति की एक रिपोर्ट ने इराकी कैदियों के प्रति किए गए व्यवहार को प्रताड़ना की पराकाष्ठा माना है। रिपोर्ट के अनुसार इराक की दस जेलों में दस हजार से अधिक इराकी कैद थे जिन पर अबू गरीब जेल जैसा ही दुर्व्यवहार किया गया।

8.4 मानवाधिकारों का प्रवचन : पश्चिम बनाम तृतीय विश्व

मानवाधिकारों की अवधारणा इतिहास की लम्बी अवधि में विकसित हुई। यह अवधारणा सत्ता के स्वेच्छाचारी प्रयोग को रोकने के उपकरण के रूप में विकसित हुई। प्रारम्भ में यह राज्यों की सीमाओं के अन्तर्गत ही लागू होती थी, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इसे लागू करने की व्यवस्था नहीं थी। राज्यों के अन्दर भी यह उच्च वर्गों के अधिकारों

तक सीमित प्रतीत होती थी। वर्ग तथा नस्ल का ध्यान किए बिना सभी व्यक्तियों में अधिकारों के रूप में इस अवधारणा के विकसित होने में लम्बा समय लगा। 13वीं सदी का प्रसिद्ध मैग्नाकार्टा, राजा तथा सामन्तशाही के बीच का एक समझौता था परन्तु इसमें कुछ ऐसी धाराएँ भी थीं जो सामान्य लोगों के लिए भी लागू होती थीं। मानवाधिकारों की इससे अधिक विस्तृत अवधारणा ब्रिटिश क्रान्तिकारियों ने प्रस्तुत की, जब 1689 ई. में राजा को पदच्युत करने तथा उसे मौत के घाट उतारने के पश्चात् बिल ऑफ राइट्स (अधिकार-पत्र) में उन्होंने सभी नागरिकों के न्यूनतम अधिकारों का वर्णन किया।

लगभग एक सदी के उपरान्त 1776 ई. में अमेरिकी क्रान्तिकारियों ने ब्रिटिश राज्य की दासता में 'अहरणीय' मानवाधिकारों को सम्मिलित किया। इसके कुछ समय उपरान्त ही फ्रांसीसी क्रान्तिकारियों ने राजा को हटाने और उसे मौत के घाट उतारने के पश्चात् मानव के अधिकारों का घोषणा-पत्र तैयार किया। इसमें उन्होंने घोषित किया कि मनुष्य स्वतन्त्र जन्म लेते हैं तथा रहते हैं। उनके अधिकार समान हैं तथा किसी राजनीतिक संघ का उद्देश्य 'स्वतन्त्रता, सम्पत्ति, सुरक्षा तथा दमन के विरोध' आदि मानवाधिकारों की पुष्टि है। इस प्रकार, मानवाधिकारों की अवधारणा हमेशा ही क्रान्तिकारी अवधारणा रही है।

मानवाधिकारों की सुरक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय प्रयास का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण सम्भवत: दास प्रथा की समाप्ति के लिए आन्दोलन है। दास व्यापार की समाप्ति (यह दास प्रथा की समाप्ति से पृथक् है) के उपाय अनेक देशों ने किए। इसका प्रारम्भ 19वीं सदी में ब्रिटेन, डेनमार्क तथा फ्रांस ने किया। बाद में 1833 ई. में सभी ब्रिटिश उपनिवेशों में दास प्रथा की समाप्ति के लिए ब्रिटिश संसद ने एक विधेयक पारित किया। इसके पश्चात् ऐसे ही उपाय अन्य देशों में किए गए तथा दास प्रथा एवं दास व्यापार की समाप्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समझौते हुए।

मानवाधिकारों का संरक्षण राज्य द्वारा किया जाता है। अमेरिका एवं पश्चिमी यूरोप के राज्य अत्यन्त शक्तिशाली हैं। अत: वे नागरिकों को उपलब्ध मानवाधिकारों की रक्षा करने में पूरी तरह से सक्षम हैं। वस्तुत: मानवाधिकार राज्य द्वारा ही प्रदत्त किए जाते हैं तथा राज्य ही इनकी गारण्टी देता है। तृतीय विश्व के देशों (Third World Countries) में राज्य पश्चिमी देशों की भाँति अधिक शक्तिशाली नहीं है इसीलिए वह न तो पूरी तरह से मानवाधिकारों की रक्षा कर पाता है और न ही उनके प्रभावशाली संरक्षण का उपकरण बन पाता है। अनेक विद्वानों का तो यह मत है कि भारत जैसे देश में सरकार का सम्पूर्ण राज्य पर नियन्त्रण न होना इसकी कमजोरी का प्रमुख कारण है। उदाहरणार्थ, नक्सलवाद से प्रभावित क्षेत्रों में ऐसा लगता है कि राज्य सरकार के साथ-साथ कोई दूसरी समानान्तर सरकार है जो इन क्षेत्रों में अधिक प्रभावी है।

भारत में मानवाधिकारों के सम्मान की संस्कृति अभी पूरी तरह से विकसित नहीं हो पाई है। वस्तुत: यहाँ मानवाधिकारों के लिए उपयुक्त सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि ही नहीं है इसीलिए विभिन्न स्तरों पर मानवाधिकारों का उल्लंघन हो रहा है। यह सही है कि भारत में व्यक्ति की गरिमा की संवैधानिक गारण्टी तथा लोगों को न्याय दिलाने के अनेक कानूनी प्रावधान उपलब्ध हैं, तथापि भारत का शक्तिशाली वर्ग कागज पर अथवा भाषणों में मानवाधिकारों के प्रति चाहे जितनी प्रतिबद्धता व्यक्त करे, वास्तविक जीवन में यह प्रतिबद्धता बहुत कम दिखाई देती है। सत्ताधारी वर्ग तथा राज्य की मशीनरी द्वारा लगभग निर्भय होकर सामान्य जनता के अधिकारों के हनन के समाचार दैनिक समाचार-पत्रों में अक्सर पढ़ने को मिलते हैं। एड्स जैसे रोग से प्रभावित व्यक्ति, अपराधी या अभियुक्त को भी सहानुभूति की दृष्टि से देखा जा सकता है अथवा देखा जाना चाहिए, यह विचार तृतीय विश्व के देशों में अभी लोकप्रिय नहीं हो पाया है। परन्तु, आन्दोलनकारियों के साथ की जाने वाली हिंसा के प्रति असन्तोष अवश्य बना हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि तृतीय विश्व में मानवाधिकारों का आन्दोलन तभी व्यापक हो सकेगा जब मानवाधिकारों की वकालत करने वाले व्यक्ति मात्र दमन तथा अत्याचार के विरुद्ध ही आवाज नहीं उठाएँ, वरन् उपेक्षित व्यक्तियों के आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक अधिकारों की भी लड़ाई लड़ें।

बोध प्रश्न

1. संयुक्त राष्ट्र संघ मानव अधिकारों के प्रारूप व संविदाओं का वर्णन करो?

   ....

   ....

   ....

2. तृतीय विश्व युद्ध के दौरान मानव अधिकारों का वर्णन करो?

....

....

....

NOTES

8.5 मानवाधिकारों की अविभाज्यता एवं अन्योन्याश्रितता

सभी मानवाधिकार अविभाज्य एवं अन्तर्निर्भर या अन्योन्याश्रित हैं। उदाहरणार्थ, समानता एवं स्वतन्त्रता के अधिकार अविभाज्य एवं अन्तर्निर्भर हैं। मानवाधिकारों की मूल मान्यता ही यह है कि सभी मानव प्राणी जन्म से ही स्वतन्त्र एवं गरिमा व अधिकारों में बराबर हैं। उनमें नस्ल, रंग, लिंग, भाषा, धर्म, राजनीतिक या अन्य मत, राष्ट्रीय या सामाजिक मूल्य, सम्पत्ति, जन्म या हैसियत या किसी अन्य आधार पर भेदभाव नहीं किया जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति को जीने का, स्वतन्त्रता का और व्यक्तिगत सुरक्षा का अधिकार है। कानून के सम्मुख सभी बराबर हैं तथा सभी को बिना किसी भेदभाव के कानून द्वारा समान संरक्षण का अधिकार प्राप्त है। प्रत्येक व्यक्ति को राज्य की सीमाओं के भीतर निवास करने का और घूमने-फिरने की स्वतन्त्रता का अधिकार है।

समानता एवं स्वतन्त्रता के यह मानवाधिकार व्यक्ति के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक आधारों से भी जुड़े हुए हैं। सभी लोगों को आत्म निर्णय का अधिकार है जिसके माध्यम से वे स्वतन्त्र रूप से अपनी राजनीतिक स्थिति निर्धारित करते हैं तथा अपना आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास सम्पन्न करते हैं। सभी को सांस्कृतिक जीवन में हिस्सा लेने, वैज्ञानिक प्रगति एवं उसके प्रयोगों का लाभ उठाने, अपने द्वारा सृजित किसी भी वैज्ञानिक, साहित्यिक या कलात्मकता से उत्पन्न नैतिक एवं भौतिक हितों के संरक्षण से लाभान्वित होने का अधिकार है। प्रत्येक व्यक्ति को पर्याप्त भोजन, वस्त्र और आवास सहित उसके और परिवार के पर्याप्त स्तर तथा रहन-सहन की स्थिति में सतत सुधार करने का अधिकार है। राज्य द्वारा इस अधिकार का कार्यान्वयन सुनिश्चित करने के लिए उचित कदम उठाने की आशा की जाती है।

इसी भाँति, नागरिक एवं राजनीतिक अधिकार अन्य मानवाधिकारों से जुड़े हुए हैं। उदाहरणार्थ, प्रत्येक मानव प्राणी को जीवन का नैसर्गिक अधिकार है। इस अधिकार की रक्षा कानून के माध्यम से की जाएगी। 18 वर्ष से कम आयु के बच्चों द्वारा किए गए अपराधों पर मृत्यु-दण्ड नहीं दिया जाएगा और न ही गर्भवती महिलाओं पर यह सजा कार्यान्वित की जाएगी। किसी भी नागरिक को यन्त्रणा नहीं दी जाएगी, उसके साथ क्रूर या अमानवीय व्यवहार नहीं किया जाएगा। किसी को भी बलात् या अनिवार्य श्रम के लिए मजबूर नहीं किया जाएगा। इस प्रकार के सभी नागरिक अधिकार स्वतन्त्रता से जुड़े हुए हैं। यदि कोई व्यक्ति अपने मौलिक अधिकारों और स्वतन्त्रताओं के सन्दर्भ में नस्ल, रंग या जातीय मूल के आधार पर किसी भी तरह के भेदभाव का शिकार होता है तो उसे प्रभावी उपचार और संरक्षण उपलब्ध कराया जाएगा।

महिलाओं के साथ भेदभाव के विरुद्ध अधिकार भी स्वतन्त्रता एवं समानता के अधिकारों का अभिन्न एवं अविभाज्य अंग है। महिलाओं के साथ भेदभाव करना अथवा उन्हें पुरुषों के समान अधिकार देने से इनकार करना मौलिक रूप से अन्यायपूर्ण एवं मानव गरिमा के विरुद्ध अपराध है इसीलिए उन सभी कानूनों, रीति-रिवाजों, नियमों एवं व्यवहारों को समाप्त करने हेतु उचित कदम उठाए जाएँगे जो महिलाओं के साथ भेदभाव से सम्बन्धित हैं। महिलाओं को हीन मानने के विचार पर आधारित सभी प्रकार की प्रथाओं एवं प्रचलनों को मिटाने तथा पूर्वाग्रहों को समाप्त करने की दिशा में जनमत निर्माण करने तथा राष्ट्रीय भावनाओं को इस दिशा में मोड़ने के लिए सभी उचित उपाय किए जाएँगे। विवाह के दौरान तथा विवाह-विच्छेद के समय महिलाओं के अधिकार पुरुषों की भाँति ही होंगे। बच्चों के मामले में माता-पिता के अधिकार और कर्त्तव्य बराबर होंगे। सभी मामलों में बच्चों का हित सर्वोपरि होगा। महिलाओं एवं लड़कियों की खरीद-फरोख्त के सभी रूपों तथा वेश्यावृत्ति को रोकने हेतु कानून बनाने सहित उचित उपाय किए जाएँगे।

जाति संहार के विरुद्ध अधिकार, अल्पसंख्यकों के अधिकार, विदेशियों और शरणार्थियों के अधिकार भी समानता, स्वतन्त्रता एवं भाईचारे के अधिकारों से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं। रोजगार की नीति, बच्चों के अधिकार तथा सामाजिक विकास के अधिकार भी अन्य अधिकारों से जुड़े हुए हैं। उदाहरणार्थ, सामाजिक विकास के लिए

यह स्वीकार किया गया है कि राष्ट्रीय आय एवं सम्पत्ति का समाज के सभी सदस्यों के बीच उनका न्यायपूर्ण वितरण सम्पूर्ण सामाजिक प्रगति का मूल है तथा इसीलिए यह प्रत्येक राज्य और सरकार की प्रथम प्राथमिकता होनी चाहिए।

NOTES

8.6 शब्दावली

मानवाधिकार - मानवाधिकार वे निश्चित अधिकार हैं जो किसी पुरुष अथवा महिला को मानव होने के नाते प्रदत्त होते है। यह अधिकार सभी मानवों को बिना किसी भेदभाव के एक समान प्राप्त होते हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ - संयुक्त राष्ट्र संघ अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा को बनाए रखने वाला एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है।

8.7 सारांश

मानव अधिकार मनुष्य की वे आवश्यकताएँ हैं जिनके अभाव में मानव अपना संपूर्ण विकास नहीं कर पाता ये वे अधिकार हैं जो किसी महिला या पुरुष को मानव होने के नाते प्राप्त होते हैं। मानव अधिकारों को सुनिश्चित करने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ ने मानव अधिकार आयोग की नियुक्ति की जिसके द्वारा मानव अधिकारों के कुछ नियम बनाए गए। मानव अधिकारों का संरक्षण राज्य द्वारा किया जाता है।

भारत में अभी मानव अधिकारों के लिए उपयुक्त सामाजिक, आर्थिक पृष्ठभूमि नहीं है। देश के सभी नागरिकों महिला, पुरुष, बच्चे सभी को अपने सर्वांगीण विकास के लिए ये अधिकार प्रदत्त किये जाते हैं।

8.8 अभ्यास प्रश्न

दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. मानवाधिकार किसे कहते हैं? भारत में मानवाधिकार की स्थिति की विवेचना कीजिए।

लघुउत्तरीय प्रश्न

2. मानवाधिकार से आप क्या समझते है? भारत में मानवाधिकार के प्रमुख मुद्दे बताइए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. रूजवेल्ट ने मानव को कितने स्वतंत्र अधिकार बताये है–

(अ) चार (ब) छः (स) आठ (द) दस

उत्तर 1. (अ)

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

Baxi, Upendra, The Future of Human Rights, New Delhi : Oxford University Press, 2006.

Baxi, Upendra, State of Human Rights in India 2000, New Delhi : Indian Social Institute, 2001.

Chaudhary, Jayant, A Text Book of Human Rights, New Delhi : Dominant Publishers and Distributors, 2000.

●●●

अध्याय–9 भारत में मानवाधिकार
(HUMAN RIGHT IN INDIA)

NOTES

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य
9.1 प्रस्तावना
9.2 भारत में मानवाधिकारों की स्थिति तथा इससे सम्बन्धित कुछ मुद्दे
9.3 राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग
9.4 मानवाधिकार न्यायालय
9.5 मानवाधिकार एवं समाज कार्य
9.6 शब्दावली
9.7 सारांश
9.8 अभ्यास प्रश्न
सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

9-0 उद्देश्य

संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा 1948 में मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा एक महत्वपूर्ण घटना मानी जाती है। मानवाधिकारों का सम्मान आज किसी देश के सभ्य एवं सुसंस्कृत होने की कसौटी बन गया है। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि शीतयुद्ध के दौरान मानवाधिकारों के आन्दोलन पर अमेरिका तथा मध्य यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का जो ग्रहण लगा था, उसकी छाया अभी भी पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हुई है। इसके बावजूद मानव अधिकारों की चेतना निरन्तर व्यापक होती जा रही है और उनका दर्शन ज्यादा गहरा तथा प्रामाणिक बनता जा रहा है। इस इकाई में मानवाधिकार की अवधारणा, मानवाधिकारों का आख्यान एवं प्रवचन, मानवाधिकारों की अविभाज्यता एवं अन्योन्याश्रितता तथा भारत में मानवाधिकार के प्रमुख मुद्दों का विवेचन किया गया है।

9.1 प्रस्तावना

मानवाधिकारों के संरक्षण के लिए मैग्नाकार्टा, बिल ऑफ राइट्स तथा मानवाधिकार घोषणा-पत्र जारी हुए लेकिन जनसाधारण को इनसे अधिक लाभ नहीं पहुँच पाया है। सम्मानपूर्वक जीने का अधिकार आज भी मृगतृष्णा बना हुआ है। मानवाधिकारों के संरक्षण में अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन से अभिप्राय ऐसे संगठन से है जिसकी सदस्यता एक राज्य तक सीमित न होकर अनेक राज्यों में व्याप्त होती है और जिसका उद्देश्य मानव सुरक्षा एवं कल्याण तथा विकास के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करने के मन्तव्य से एक संस्थात्मक व्यवस्था स्थापित करना होता है। 10 दिसम्बर को सम्पूर्ण विश्व में मानवाधिकार दिवस मनाया जाता है। 10 दिसम्बर, 1948 को ही संयुक्त राष्ट्र महासभा ने मानवाधिकारों के विश्व घोषणा-पत्र को अंगीकृत एवं घोषित किया था। मानवाधिकारों की अवधारणा इतिहास की लम्बी अवधि में सत्ता के स्वेच्छाचारी इस्तेमाल को रोकने हेतु विकसित हुई है। मानवाधिकारों की रक्षा और उन्हें आगे बढ़ाने की दृष्टि से संयुक्त राष्ट्र संघ ने बहुमूल्य कार्य किए हैं।

9.2 भारत में मानवाधिकारों की स्थिति तथा इससे सम्बन्धित कुछ मुद्दे

भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र के अनुरूप ही भारत में भी राष्ट्रीय स्तर पर मानवाधिकार आयोग की नियुक्ति की है तथा इसके साथ-साथ राज्यों में भी मानव अधिकार आयोग की स्थापना की है जिससे कि मानवाधिकारों

का उल्लंघन न हो सके। इस दृष्टि से भारत में, 44वें गणतन्त्र वर्ष में संसद द्वारा 'मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम, 1993' (1994 का अधिनियम संख्या 10 ; 8 जनवरी, 1994) पारित किया गया जिसका उद्देश्य मानवाधिकारों के अधिक अक्षय संरक्षण के लिए तथा उससे सम्बद्ध या उसे आनुषंगिक मामलों के लिए राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग, राज्य मानवाधिकार आयोग तथा मानवाधिकार न्यायालयों के गठन हेतु विविध प्रकार के प्रावधान करना है।

NOTES

इस अधिनियम की धारा 2 में मानवाधिकार की परिभाषा दी गई है। मानवाधिकारों में अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमयों में समाहित एवं भारतीय संविधान द्वारा प्रत्याभूत जीवन, स्वतन्त्रता, समानता और वैयक्तिक गरिमा से सम्बद्ध अधिकारों को सम्मिलित किया गया है। इसका मूल लक्ष्य मानव जीवन और उसकी गरिमा को सुरक्षा प्रदान करना है। इस अधिनियम में 8 अध्याय हैं। अध्याय 1 में अधिनियम की प्रारम्भिक जानकारी तथा विभिन्न शब्दों की परिभाषाएँ दी गई हैं। अध्याय 2 में राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के गठन, अध्यक्ष एवं सदस्यों की नियुक्ति, उनकी पदावधि, उनके द्वारा कार्यों का निर्वहन करना तथा उनकी सेवा शर्तों आदि का विस्तृत उल्लेख है। अध्याय 3 आयोग के कृत्यों और शक्तियों से सम्बन्धित है। अध्याय 4 में शिकायतों की जाँच की प्रक्रिया और जाँच के बाद उठाए जाने वाले कदमों का उल्लेख है। अध्याय 5 राज्य मानवाधिकार आयोग से सम्बन्धित है। अध्याय 6 में मानवाधिकार न्यायालयों के प्रावधान का उल्लेख है। अध्याय 7 वित्त, लेखा एवं लेखा परीक्षा से सम्बन्धित है। अन्तिम अर्थात् अध्याय 8 'विविध' शीर्षक वाला है जिसमें मानवाधिकार आयोग का कार्यक्षेत्र, केन्द्र सरकार एवं राज्य सरकार द्वारा नियम बनाने की शक्तियों आदि का उल्लेख किया गया है।

9.3 राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग

मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम के उपबन्धों की सफल क्रियान्विति तथा इसके लक्ष्य को फलीभूत करने हेतु अधिनियम की धारा 3 में राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के गठन की व्यवस्था की गई है। इस धारा में यह उल्लेख किया गया है कि भारत सरकार राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के रूप में जानी जाने वाले एक संस्था का, इस अधिनियम के अधीन उसे प्रदत्त शक्तियों के प्रयोग में, तथा उसे समनुदेशित कार्यों को निष्पादित करने के लिए गठन करेगी। इसी अधिनियम की धारा 3(1) के अन्तर्गत केन्द्र सरकार ने राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग का गठन किया है। आयोग का मुख्यालय दिल्ली में रखा गया है। लेकिन सरकार के पूर्व अनुमोदन से अन्य स्थानों पर इसके कार्यालय स्थापित किए जा सकते हैं। धारा 3(5) के अनुसार दिल्ली में आयोग का कार्यालय सरदार पटेल भवन, संसद मार्ग, पर अवस्थित है। आयोग का एक अध्यक्ष होगा। अध्यक्ष के लिए वही पात्र होगा जो उच्चतम न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश रह चुका हो। आयोग के प्रथम अध्यक्ष के रूप में उच्चतम न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायाधीश रंगनाथ मिश्र को नियुक्त किया गया था। वर्तमान अध्यक्ष उच्चतम न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायाधीश के. जी. बालकृष्णन हैं।

आयोग में निम्नांकित सात सदस्य होंगे-

1. उच्चतम न्यायालय का वर्तमान या निवर्तमान न्यायाधीश,
2. उच्च न्यायालय का वर्तमान या निवर्तमान मुख्य न्यायाधीश,
3. दो सदस्य ऐसे व्यक्तियों में से नियुक्त किए जाएँगे जो मानवाधिकारों से सम्बन्धित विषयों का ज्ञान अथवा व्यावहारिक अनुभव रखते हों, तथा
4. तीन पदेन सदस्य (निम्नांकित आयोगों के अध्यक्ष) होंगे-
   (i) अल्पसंख्यकों के लिए राष्ट्रीय आयोग,
   (ii) अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए राष्ट्रीय आयोग, तथा
   (iii) राष्ट्रीय महिला आयोग। धारा 3 की उपधारा (2) व (3)

अधिनियम की धारा 3(4) में आयोग के लिए एक महासचिव की नियुक्ति का प्रावधान किया गया है। महासचिव आयोग का मुख्य कार्यपालक अधिकारी होगा तथा उन सभी शक्तियों का प्रयोग एवं कृत्यों का निर्वहन करेगा जो उसे सौंपे या प्रत्यायोजित किए जाएँ। अधिनियम की धारा 4 के अन्तर्गत अध्यक्ष एवं सदस्यों की नियुक्ति के बारे में प्रावधान किया गया है। अध्यक्ष एवं सदस्यों की नियुक्ति की शक्तियाँ राष्ट्रपति में निहित हैं क्योंकि

राष्ट्रपति के हस्ताक्षर एवं मुहरयुक्त वारण्ट द्वारा ही इनकी नियुक्ति की जा सकती है, परन्तु राष्ट्रपति ऐसी नियुक्तियाँ स्वेच्छा से नहीं कर सकता है। वह ऐसी नियुक्तियाँ तद्निमित्त गठित समिति की सिफारिश पर ही कर सकेगा। अध्यक्ष एवं सदस्यों का नाम प्रस्तावित करने वाली समिति में निम्नलिखित सदस्य होंगे-

(क)	प्रधानमन्त्री	अध्यक्ष
(ख)	लोकसभा का अध्यक्ष	सदस्य
(ग)	भारत सरकार का गृहमन्त्री	सदस्य
(घ)	लोकसभा में विपक्ष का नेता	सदस्य
(ङ)	राज्यसभा में विपक्ष का नेता	सदस्य
(च)	राज्यसभा का उपसभापति	सदस्य

अधिनियम की धारा 5 में आयोग के अध्यक्ष या सदस्य को हटाए जाने के प्रावधानों का उल्लेख किया गया है। इससे सम्बन्धित शक्तियाँ भी राष्ट्रपति में ही निहित हैं। निम्नलिखित कारणों से अध्यक्ष या सदस्य को हटाया जा सकता है-

1. वह दिवालिया न्यायनिर्णीत कर दिया गया हो, या
2. वह अपने पद के कर्त्तव्यों के बाहर किसी वैतनिक रोजगार में अपने कार्यकाल में लगा हुआ हो, या
3. वह मस्तिष्क या शरीर की दुर्बलता के कारण पद पर बने रहने के लिए अयोग्य हो, या
4. वह विकृत चित्त का हो एवं सक्षम न्यायालय द्वारा इस प्रकार घोषित कर दिया गया हो, या
5. वह किसी अपराध के लिए, जो राष्ट्रपति की राय में नैतिक पतन वाला है, सिद्ध दोष हो गया हो एवं उसे कारागार की सजा दे दी गई हो।

अधिनियम की धारा 6 में अध्यक्ष एवं सदस्यों की पदावधि का उल्लेख किया गया है। अध्यक्ष एवं सदस्य की पदावधि, उनके कार्यभार सँभालने की तिथि से पाँच वर्ष अथवा 70 वर्ष की आयु पूर्ण करने तक, इनमें से जो भी पहले हो, होगी। इस व्यवस्था में दो बातें उल्लेखनीय हैं-

1. प्रथमत: यह कि अध्यक्ष एवं सदस्यों की पदावधि पाँच वर्ष की होगी, लेकिन
2. 70 वर्ष की आयु पूरी हो जाने पर कोई व्यक्ति अध्यक्ष या सदस्य के पद पर बना नहीं रह सकेगा चाहे उसे कार्यभार सँभाले अभी पाँच वर्ष पूरे नहीं हुए हों।

अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अध्यक्ष एवं सदस्य के लिए पद पर बने रहने हेतु 70 वर्ष की आयु सीमा लक्ष्मण रेखा है। यदि 70 वर्ष की आयु पूरी नहीं होती है तो अध्यक्ष या सदस्य अपने पद पर पूरे पाँच वर्ष तक रह सकता है।

धारा 6(2) के अन्तर्गत की गई व्यवस्था के अनुसार किसी व्यक्ति को सदस्य के रूप में पुनर्नियुक्त किया जा सकता है अर्थात् कोई भी व्यक्ति एकाधिक बार सदस्य नियुक्त हो सकता है। लेकिन यहाँ भी आयु की सीमा वही लागू होगी अर्थात् पुनर्नियुक्त व्यक्ति भी 70 वर्ष की आयु पूरी हो जाने पर पद पर बना नहीं रह सकेगा। यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि पुनर्नियुक्त की व्यवस्था केवल सदस्यों के लिए है, अध्यक्ष के लिए नहीं। कोई भी व्यक्ति एक बार अध्यक्ष रह लेने पर दोबारा अध्यक्ष के पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता है।

धारा 6(2) में की गई व्यवस्था के अनुसार कोई भी व्यक्ति आयोग का अध्यक्ष या सदस्य रह जाने के बाद भारत सरकार अथवा किसी राज्य सरकार के अधीन नियोजित होने का पात्र नहीं होगा अर्थात् वह अध्यक्ष अथवा सदस्य के पद से निवृत्त हो जाने पर केन्द्र या राज्य सरकार के अधीन किसी पद पर नियुक्त नहीं हो सकेगा।

आयोग की प्रक्रिया के सम्बन्ध में धारा 10 में तीन प्रकार की व्यवस्थाएँ दी गई है-

1. आयोग की बैठकें ऐसे समय और स्थान पर होंगी जो अध्यक्ष उचित समझे,
2. आयोग अपनी प्रक्रिया स्वयं विनियमित करेगा, तथा

3. आयोग के सभी आदेश एवं विनिश्चय, आयोग के महासचिव अथवा अध्यक्ष द्वारा इस निमित्त सम्यक् अधिकारी द्वारा अधिप्रमाणित किए जाएँगे।

जैसा कि धारा 3(5) में कहा गया है; आयोग का मुख्यालय दिल्ली में होगा, लेकिन केन्द्र सरकार की पूर्व अनुमति से इसके कार्यालय अन्य स्थानों पर स्थापित किए जा सकेंगे। उसी अनुक्रम में धारा 10 यह व्यवस्था देती है कि आयोग की बैठकों का स्थान एवं समय निर्धारित करने की अधिकारिता अध्यक्ष को होगी।

NOTES

अधिनियम की धारा 12 में आयोग के कार्यों (कृत्यों) का उल्लेख किया गया है। इसमें आयोग के निम्नांकित कार्य बताए गए हैं-

1. निम्नांकित के बारे में पीड़ित व्यक्ति अथवा किसी अन्य व्यक्ति की ओर से शिकायत किए जाने पर या स्वप्रेरणा से जाँच करना-
   (i) मानवाधिकारों का उल्लंघन अथवा दुष्प्रेरण, तथा
   (ii) ऐसे उल्लंघन के निवारण में लोकसेवक द्वारा अनवधानता (लापरवाही) बरतना।
2. मानवाधिकारों के उल्लंघन से सम्बन्धित किसी न्यायालय में लम्बित मामले में हस्तक्षेप करना,
3. राज्य सरकार को सूचित करते हुए राज्य सरकार के नियन्त्रणाधीन किसी ऐसी जेल अथवा संस्था का निरीक्षण करना जिसमें व्यक्तियों को चिकित्सा, सुधार अथवा संरक्षण के प्रयोजनार्थ निरुद्ध किया जाता है अथवा रखा जाता है तथा ऐसे व्यक्तियों की जीवन-दशा का अध्ययन करना,
4. संविधान अथवा अन्य किसी विधि में मानवाधिकारों के संरक्षण के लिए प्राविधित रक्षोपायों की समीक्षा करना तथा उनकी प्रभावी क्रियान्विति के लिए सुझाव देना,
5. मानवाधिकारों के उपयोग को अवरुद्ध करने वाले आतंककारी कार्यों की समीक्षा करना तथा उनके उपचार के लिए सुझाव देना,
6. मानवाधिकारों से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय लेखों एवं सन्धियों का अध्ययन करना तथा उनकी प्रभावी क्रियान्विति के लिए सुझाव देना,
7. मानवाधिकारों के क्षेत्र में शोध करना एवं शोध कार्य को प्रोत्साहित करना,
8. समाज के विभिन्न वर्गों को मानवाधिकारों से अवगत कराना तथा प्रकाशन, मीडिया, सेमीनार आदि के माध्यम से मानवाधिकारों के संरक्षण हेतु उपलब्ध रक्षोपायों के प्रति चेतना जाग्रत करना,
9. मानवाधिकारों के क्षेत्र में कार्यरत गैर-सरकारी संगठनों (स्वैच्छिक संगठनों) के प्रयासों को प्रोत्साहित करना, तथा
10. मानवाधिकारों की प्रोन्नति के लिए आवश्यक अन्य कार्य करना या कदम उठाना।

इस प्रकार मानवाधिकारों आयोग की परिधि में वे सभी कार्य आ जाते हैं जो किसी-न-किसी रूप में मानव अधिकारों से जुड़े हुए हैं। वस्तुतः मानवाधिकार आयोग का कार्य केवल मानवाधिकारों का संरक्षण करना ही नहीं अपितु मानवाधिकारों के प्रति जनसाधारण में चेतना जाग्रत करना तथा इस क्षेत्र में कार्यरत संस्थाओं को प्रोत्साहित करना भी है।

जाँच के प्रयोजनार्थ आयोग को अग्रांकित विषयों के सम्बन्ध में सिविल न्यायालय की वे सारी शक्तियाँ प्रदान की गई हैं जो 'सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908' के अन्तर्गत किसी वाद का विचारण करने वाले न्यायालय को प्राप्त हैं-

1. साक्षियों को सम्मन करने, उपस्थिति के लिए आबद्ध करने तथा उनका परीक्षण करने के लिए,
2. दस्तावेजों का प्रकटीकरण एवं प्रस्तुतीकरण,
3. शपथपत्रों पर साक्ष्य प्राप्त करना,
4. किसी न्यायालय अथवा कार्यालय से किसी लोक अभिलेख या उसकी प्रति की अध्यपेक्षा करना,

5. साक्षियों के परीक्षण के लिए कमीशन जारी करना, तथा
6. अन्य विषय जो विहित किए जाएँ।

NOTES

अधिनियम की धारा 14 में 'अनुसन्धान' (अन्वेषण) के बारे में प्रावधान किया गया है। किसी भी जाँच के सम्बन्ध में अनुसन्धान करने के प्रयोजनार्थ आयोग, केन्द्र सरकार अथवा राज्य सरकार की सहमति से उसके किसी भी अधिकारी अथवा अन्वेषण एजेन्सी की सहायता प्राप्त कर सकता है। ऐसे अधिकारी अथवा अन्वेषण एजेन्सी को आयोग के निर्देशों एवं नियन्त्रण के अधीन रहते हुए-

1. किसी व्यक्ति को सम्मन करने, उसकी उपस्थिति सुनिश्चित करने तथा उसका परीक्षण करने,
2. किसी दस्तावेज का प्रकटीकरण एवं प्रस्तुतीकरण करने, तथा
3. किसी कार्यालय से कोई लोक दस्तावेज या उसकी प्रतिलिपि की अध्यपेक्षा करने का अधिकार होगा।

ऐसे अधिकारी अथवा अन्वेषण एजेन्सी द्वारा पूरा अन्वेषण कर लिए जाने पर आयोग द्वारा विनिर्दिष्ट समयावधि के भीतर आयोग को उसी रिपोर्ट प्रस्तुत की जाएगी।

धारा 16 में इस बात का प्रावधान है कि जाँच के किसी भी स्तर पर यदि आयोग-

1. यह उचित समझता है कि किसी व्यक्ति के आचरण के बारे में जाँच किया जाना आवश्यक है

   अथवा

2. ऐसी जाँच से किसी व्यक्ति की ख्याति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है, तो आयोग द्वारा ऐसे व्यक्ति की सुनवाई का एवं अपनी प्रतिरक्षा प्रस्तुत करने का अवसर प्रदान किया जाएगा। लेकिन यह बात वहाँ लागू नहीं होगी जहाँ किसी साक्षी की साख को अभिशस्त किया गया हो।

मानवाधिकारों के उल्लंघन सम्बन्धी किसी परिवाद (शिकायत) की जाँच के दौरान आयोग अधिनियम की धारा 17 के अन्तर्गत निम्नांकित से सूचना या रिपोर्ट की माँग कर सकता है-

1. केन्द्र सरकार,
2. राज्य सरकार,
3. किसी प्राधिकारी, अथवा
4. संगठन से।

यदि इनके द्वारा विनिर्दिष्ट समय में सूचना या रिपोर्ट नहीं दी जाती है तो आयोग उस पर आगे कार्यवाही करने के लिए अग्रसर होगा। जब आयोग द्वारा किसी परिवाद या शिकायत में जाँच पूरी हो जाती है तब धारा 18 के अन्तर्गत आयोग निम्नांकित कदम उठा सकता है-

1. जहाँ जाँच से यह प्रकट होता हो कि किसी लोकसेवक द्वारा मानवाधिकारों का उल्लंघन किया गया है या ऐसे उल्लंघन को रोकने में लापरवाही बरती गई है, वहाँ आयोग सम्बन्धित सरकार अथवा प्राधिकारी से ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध कार्यवाही करने की अनुशंसा कर सकेगा।
2. उच्चतम न्यायालय अथवा उच्च न्यायालय से समुचित निर्देश, आदेश या रिट जारी करने की प्रक्रिया कर सकेगा।
3. सम्बन्धित सरकार अथवा प्राधिकारी से पीड़ित एवं व्यथित व्यक्ति या उसके परिजनों को तत्काल राहत प्रदान करने की अनुशंसा कर सकेगा।

अधिनियम की धारा 18 की उपधारा (1), (2) व (3) के अन्तर्गत आयोग को प्रभावी कदम उठाने की अधिकारिता प्रदान की गई है।

अधिनियम की धारा 19 में सशस्त्र बलों के सदस्यों द्वारा मानवाधिकार के उल्लंघन की शिकायतों को निपटाने की प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है, जबकि धारा 20 में आयोग के वार्षिक एवं विशेष प्रतिवेदन का प्रावधान है अर्थात् आयोग भारत सरकार एवं सम्बन्धित राज्य सरकार को एक वार्षिक प्रतिवेदन प्रस्तुत करेगा। भारत सरकार

या राज्य सरकार, यथास्थिति आयोग के वार्षिक एवं विशेष प्रतिवेदनों को, आयोग की सिफारिशों पर की गई या की जाने के लिए प्रस्तावित कार्यवाही के ज्ञापन एवं उन सिफारिशों को स्वीकार नहीं करने के कारणों, यदि कोई हो, के साथ संसद के प्रत्येक सदन या राज्य विधानसभा के समक्ष, यथास्थिति प्रस्तुत कराएगी।

अधिनियम की धारा 43(1) के अनुसार 'मानवाधिकार संरक्षण अध्यादेश, 1993' को एतद्द्वारा निरस्त किया जा सकता है परन्तु धारा 43(2) के अनुसार ऐसा किए जाने पर, उक्त अध्यादेश के अधीन की गई कोई भी कार्यवाही यथावत् रहेगी।

अधिनियम की उपर्युक्त धाराओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानवाधिकारों के उल्लंघन के मामलों में आयोग का लक्ष्य न केवल दोषी व्यक्तियों को दण्डित करने की सिफारिश करना है अपितु पीड़ित व्यक्तियों को तत्काल राहत प्रदान कराना भी है। भारत के सन्दर्भ में यह उचित भी है। भारत में अधिकांश मामले ऐसे होते हैं जिनमें पीड़ित व्यक्तियों को तत्काल राहत की आवश्यकता होती है, जैसे-नारी उत्पीड़न (बलात्कार, अपहरण, व्यपहरण, लज्जा भंग, दहेज प्रताड़ना आदि) के मामले, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति एवं पिछड़े वर्गों के लोगों के साथ शोषण एवं अत्याचार के मामले आदि।

बोध प्रश्न

1. मानव अधिकार आयोग प्रक्रिया में धारा 10 में कौन-सी व्यवस्थाएँ है?

   ....

   ....

   ....

2. धारा 12 में आयोग के कार्यों का वर्णन करो?

   ....

   ....

   ....

9.3.1 राज्य मानवाधिकार आयोग

अधिनियम की धारा 21 में राज्यों के लिए राज्य मानवाधिकार आयोगों के गठन का प्रावधान किया गया है। ऐसे आयोग का गठन सम्बन्धित राज्य सरकार द्वारा किया जाएगा तथा उसे "............(राज्य का नाम) मानवाधिकार आयोग" के नाम से सम्बोधित किया जाएगा।

आयोग में निम्नांकित सदस्य होंगे-

1. एक अध्यक्ष (केवल वही व्यक्ति जो किसी उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश रह चुका है)।
2. चार सदस्य।

आयोग के इन चार सदस्यों में एक ऐसा व्यक्ति होगा जो उच्च न्यायालय का न्यायाधीश हो या न्यायाधीश रह चुका हो; दूसरा ऐसा व्यक्ति होगा जो उस राज्य में एक जिला न्यायाधीश हो या रह चुका हो; तथा अन्य दो व्यक्ति ऐसे होंगे जिन्हें मानवाधिकारों से सम्बन्धित विषयों का ज्ञान अथवा व्यावहारिक अनुभव हो। आयोग का एक सचिव भी होगा जो 'मुख्य कार्यपालक अधिकारी' कहलाएगा। वह ऐसी शक्तियों का प्रयोग एवं कर्त्तव्यों का निर्वहन करेगा जो उसे सौंपे या प्रत्यायोजित किए जाएँ। आयोग का मुख्यालय ऐसे स्थान पर होगा जो राज्य सरकार अधिसूचना द्वारा विनिर्दिष्ट करेगी।

धारा 21(5) में आयोग की अधिकारिता सुनिश्चित की गई है। इसके अनुसार राज्य आयोग मानवाधिकार के उल्लंघन सम्बन्धी ऐसे मामलों की जाँच कर सकेगा जो संविधान की सातवीं अनुसूची की लिस्ट II एवं III में वर्णित है। लेकिन राज्य आयोग ऐसे किसी मामले की जाँच नहीं कर सकेगा जिसकी जाँच पहले ही राष्ट्रीय

आयोग अथवा विधि द्वारा स्थापित किसी अन्य आयोग द्वारा की जा चुकी है। जहाँ तक जम्मू एवं कश्मीर राज्य मानवाधिकार आयोग का प्रश्न है, वह ऐसे मामले की जाँच कर सकेगा जो-

1. संविधान की सातवीं अनुसूची की लिस्ट II में वर्णित हैं और जो जम्मू एवं कश्मीर राज्य में प्रयोज्य हैं, तथा
2. अन्य ऐसे विषय जिन पर राज्य विधानमण्डल को विधि बनाने की अधिकारिता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि राज्य मानवाधिकार आयोगों की जाँच अधिकारिता संविधान की सातवीं अनुसूची की लिस्ट II एवं III में वर्णित विषयों तक ही सीमित रखी गई है।

अधिनियम की धारा 22 में आयोग के अध्यक्ष एवं सदस्यों की नियुक्ति के बारे में प्रावधान किया गया है। इसके अनुसार अध्यक्ष एवं सदस्यों की नियुक्ति राज्यपाल के हस्ताक्षरयुक्त वारण्ट द्वारा की जाएगी जिस पर मुहर भी अंकित होगी, परन्तु राज्यपाल ऐसी नियुक्तियाँ एक समिति की अनुशंसा पर करेगा।

इस समिति में निम्नलिखित व्यक्ति सम्मिलित होंगे-

(क)	मुख्यमन्त्री	(अध्यक्ष)
(ख)	विधानसभा का अध्यक्ष	(सदस्य)
(ग)	राज्य का गृहमन्त्री	(सदस्य)
(घ)	विधानसभा में विपक्ष का नेता	(सदस्य)

अगर किसी राज्य में विधान परिषद् है तो वहाँ उस परिषद् का सभापति एवं परिषद् में विपक्ष का नेता भी समिति के सदस्य होंगे।

अधिनियम की धारा 22(2) में यह व्यवस्था की गई है कि समिति में किसी पद के रिक्त होने मात्र के आधार पर आयोग के अध्यक्ष या सदस्य की नियुक्ति अविधि मान्य नहीं समझी जाएगी।

अधिनियम की धारा 23 अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें राज्य आयोग के अध्यक्ष अथवा सदस्य को पद से हटाए जाने के बारे में व्यवस्था की गई है। यह धारा दो भागों में विभक्त है-

उपधारा (1) के अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा आयोग के अध्यक्ष या किसी सदस्य को निम्नांकित आधारों पर पद से हटाया जा सकता है-

1. वह दिवालिया न्याय निर्णीत कर दिया गया हो, या
2. वह अपने कार्यकाल में अपने पद के कर्त्तव्यों के बाहर किसी वैतनिक रोजगार में लगा हुआ हो, या
3. मस्तिष्क या शरीर की दुर्बलता के कारण पद पर बने रहने योग्य नहीं हो, या
4. वह विकृत चित्त का है एवं सक्षम न्यायालय द्वारा इस प्रकार घोषित कर दिया गया हो, या
5. वह किसी अपराध के लिए, जो राष्ट्रपति की राय में नैतिक पतन वाला है, सिद्ध हो गया है एवं उसे कारागार की सजा दे दी गई हो।

उपधारा (2) के उपबन्धों के अनुसार राज्य आयोग के अध्यक्ष अथवा किसी सदस्य को; राष्ट्रपति के आदेश द्वारा, उच्चतम न्यायालय को निर्देश दिए जाने पर, उच्चतम न्यायालय के द्वारा उस सम्बन्ध में विहित प्रक्रिया के अनुसार की गई जाँच पर यह रिपोर्ट देने के बाद कि अध्यक्ष या ऐसा अन्य सदस्य कदाचार या अक्षमता का दोषी है; हटाया जा सकता है। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि राज्य आयोग का अध्यक्ष या सदस्य अपने कार्यकाल में यदि दुर्व्यवहार का दोषी पाया जाता है अथवा अपने पदीय कर्त्तव्यों का निर्वहन करने में सक्षम नहीं रह जाता है तो राष्ट्रपति द्वारा उसे पद से हटाया जा सकेगा।

अध्यक्ष एवं सदस्य की पदावधि; उनके कार्यभार सँभालने की तिथि से पाँच वर्ष अथवा 70 वर्ष की आयु पूर्ण करने तक, इनमें से जो भी पहले हो; होगी।

इस अवस्था से दो बाते स्पष्ट होती है-

1. प्रथमत: यह पदावधि पाँच वर्ष की होगी, लेकिन

2. 70 वर्ष की आयु पूर्ण हो जाने पर कोई व्यक्ति अध्यक्ष या सदस्य के पद पर बना नहीं रह सकेगा चाहे उसे कार्यभार सँभाले अभी पाँच वर्ष पूरे नहीं हुए हों।

अध्यक्ष एवं सदस्य के लिए पद पर बने रहने हेतु 70 वर्ष की आयु सीमा 'लक्ष्मण रेखा' है। यदि 70 वर्ष की आयु पूरी नहीं होती है तो अध्यक्ष या सदस्य अपने पद पर पूरे पाँच वर्ष तक रह सकता है।

धारा 24(2) में विहित व्यवस्था के अनुसार किसी व्यक्ति को सदस्य के रूप में पुनर्नियुक्त किया जा सकता है अर्थात् कोई भी व्यक्ति एकाधिक बार राज्य आयोग का सदस्य नियुक्त हो सकता है। लेकिन यहाँ भी आयु की वही सीमा लागू होगी अर्थात् पुनर्नियुक्त व्यक्ति भी 70 वर्ष की आयु पूरी हो जाने पर पद पर बना नहीं रह सकेगा।

इस प्रकार 70 वर्ष की आयु सीमा का प्रतिबन्ध नियुक्ति एवं पुनर्नियुक्त दोनों दशाओं में लागू होगा। पुनर्नियुक्त की व्यवस्था केवल सदस्यों के लिए है, अध्यक्ष के लिए नहीं। कोई भी व्यक्ति एक बार अध्यक्ष रह लेने पर दोबारा अध्यक्ष के पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता है।

अधिनियम की धारा 24(3) में वर्णित व्यवस्था के अनुसार कोई भी आयोग का अध्यक्ष या सदस्य रह जाने के बाद भारत सरकार अथवा राज्य सरकार के अधीन नियोजित होने का पात्र नहीं होगा अर्थात् वह अध्यक्ष या सदस्य के पद से निवृत्त हो जाने पर केन्द्र या राज्य सरकार के अधीन किसी पद पर नियुक्त नहीं हो सकेगा। वस्तुत: यह व्यवस्था इसलिए की गई है कि ताकि अध्यक्ष एवं सदस्य अपने पदीय कर्त्तव्यों का निर्वहन स्वतन्त्रता एवं निष्पक्षता से कर सकें।

अध्यक्ष का पद रिक्त होने पर अथवा उसके अवकाश आदि पर चले जाने पर धारा 25 में दो प्रकार की वैकल्पिक व्यवस्थाएँ की गई हैं जोकि निम्नलिखित हैं-

1. यदि आयोग के अध्यक्ष का पद निम्नांकित में से किसी भी कारण से रिक्त हो जाता है-
   (i) मृत्यु से,
   (ii) त्याग-पत्र से, अथवा
   (iii) अन्य किसी कारण से,

   तब राज्यपाल अधिसूचना जारी कर किसी सदस्य को, तब तक के लिए जब तक कि नए अध्यक्ष की नियुक्ति नहीं हो जाती, अध्यक्ष के रूप में कार्य करने के लिए प्राधिकृत कर सकेगा।

2. यदि आयोग का अध्यक्ष निम्नांकित में से किसी कारण से अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन करने में असमर्थ हो जाता है-
   (i) अनुपस्थिति के कारण,
   (ii) अवकाश के कारण, अथवा
   (iii) अन्य किसी कारण से,

   तब राज्यपाल अधिसूचना जारी कर किसी सदस्य को, तब तक के लिए जब तक कि अध्यक्ष अपना कार्यभार नहीं सँभाल लेता है, अध्यक्ष के कृत्यों का निर्वहन करने के लिए प्राधिकृत कर सकेगा।

इस प्रकार धारा 25 ऐसी परिस्थितियों में अध्यक्ष के पदीय कर्त्तव्यों का निर्वहन करने के लिए वैकल्पिक व्यवस्था करती है, जब-

1. अध्यक्ष की मृत्यु हो जाती है, या
2. अध्यक्ष त्याग-पत्र दे देता है, या
3. अध्यक्ष अवकाश पर चला जाता है, या
4. अध्यक्ष अनुपस्थित रहता है, या
5. अन्य किसी कारण से अध्यक्ष का पद रिक्त हो जाता है, या

6. अन्य किसी कारण से अध्यक्ष अपने पदीय कृत्यों का निर्वहन करने में असमर्थ हो जाता है।

राज्य मानवाधिकार आयोग के कृत्य एवं शक्तियाँ वे ही होंगी जो राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की हैं। राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की धाराएँ 9, 10, 12, 13, 14, 15, 16, 17 एवं 18 एवं उनके उपबन्ध राज्य मानवाधिकार आयोग पर भी लागू होंगे।

NOTES

9.4 मानवाधिकार न्यायालय

अधिनियम की धारा 30 में मानवाधिकार न्यायालयों की स्थापना के बारे में प्रावधान किया गया है। इस प्रावधान के अनुसार मानवाधिकारों के उल्लंघन से उत्पन्न अपराधों के त्वरित विचारण हेतु राज्य सरकार, उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की सहमति से, अधिसूचना जारी कर प्रत्येक जिले के लिए एक सत्र (सेशन) न्यायालय को मानवाधिकार न्यायालय के रूप में विनिर्दिष्ट कर सकती है। अगर किसी सत्र न्यायालय को पहले ही विशेष न्यायालय का दर्जा प्राप्त है अथवा किसी अन्य विधि के अधीन ऐसे अपराधों के मानवाधिकार से सम्बन्धित विशेष न्यायालय पहले ही गठित किया जा चुका है तो यह धारा लागू नहीं होगी अर्थात् राज्य सरकार के लिए अधिसूचना जारी कर ऐसे न्यायालय को विनिर्दिष्ट करने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

अधिनियम की धारा 30 के प्रावधानों से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक जिले में एक मानवाधिकार न्यायालय होना चाहिए-

1. ऐसा न्यायालय पृथक् से विशेष न्यायालय हो सकता है, या
2. सेशन न्यायालय को ही मानवाधिकार न्यायालय के रूप में विनिर्दिष्ट किया जा सकता है।

मानवाधिकार न्यायालयों में राज्य की ओर से मामलों की पैरवी करने के लिए धारा 31 में विशिष्ट लोक अभियोजकों (Special Public Prosecutors) की नियुक्ति के बारे में प्रावधान किया गया है। राज्य सरकार अधिसूचना जारी कर प्रत्येक मानवाधिकार न्यायालय के लिए-

1. किसी को लोक अभियोजक के रूप में नियुक्त कर सकती है; या
2. किसी को विशेष लोक अभियोजक के रूप में नियुक्त कर सकती है।

लोक अभियोजक के रूप में नियुक्ति के लिए ऐसा अधिवक्ता पात्र होगा जिसे कम-से-कम सात वर्ष तक अधिवक्ता के रूप में प्रैक्टिस करने का अनुभव प्राप्त हो।

9.4.1 भारत में मानवाधिकारों की वास्तविक स्थिति

इसमें सन्देह नहीं है कि मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा, संयुक्त राष्ट्र संघ की एक उल्लेखनीय उपलब्धि है, परन्तु जहाँ तक मानवाधिकारों की सुरक्षा का प्रश्न है, यह घोषणा कोरा आदर्शवाद ही प्रमाणित हुई है। इसको व्यवहार में लाने में अब भी पर्याप्त कठिनाइयाँ बनी हुई हैं। मानव अधिकारों के सार्वभौमिक घोषणा-पत्र पर अनेक राष्ट्रों ने हस्ताक्षर तो कर दिए हैं परन्तु उनको व्यावहारिक बनाने के लिए अभी तक उनका अनुमोदन नहीं किया है। जिन राष्ट्रों ने उनका अनुमोदन भी कर दिया है उन्हें भी अधिकारों को लागू कराने के लिए बाध्य करने का कोई प्रावधान नहीं है। वास्तव में ये अधिकार तो मात्र नैतिकता के मानदण्ड हैं जिन्हें स्वीकार करना पूर्ण रूप से राज्य की इच्छा पर निर्भर करता है। यदि कोई राज्य इस घोषणा-पत्र की व्यवस्था के विपरीत आचरण करता है तो उसे इन अधिकारों को अपने नागरिकों को प्रदान करने के लिए किसी भी रूप में हस्तक्षेप करके बाध्य नहीं किया जा सकता है। यह व्यवस्था तो अवश्य है कि यदि कोई राज्य मानवाधिकारों का भीषण दमन करता है तो उसकी महासभा में भर्त्सना की जा सकती है और उसके विरुद्ध आर्थिक व राजनीतिक बहिष्कार की नीति अपनायी जा सकती है, परन्तु यह व्यवस्था भी अधिक कारगर सिद्ध नहीं हुई है। विश्व के सभ्य देश भी अपने यहाँ मानवीय अधिकारों को सुरक्षा देने में विफल रहे। अविकसित देशों की तो बात ही क्या है, आज भी कुछ सभ्य देश ऐसे हैं जहाँ की सरकारें अपने नागरिकों को इन अधिकारों से वंचित रखे हुए हैं। 'एमनेस्टी इण्टरनेशनल' समय-समय पर विभिन्न देशों में मानवाधिकार हनन पर अपनी रिपोर्ट प्रकाशित करता रहता है। इसकी 2009 की रिपोर्ट में कहा गया है कि विश्व के अधिकांश देशों में मानवीय अधिकारों का हनन हो रहा है। बोसेनिया, गिनी, दक्षिण अफ्रीका, इथियोपिया

आदि देशों में आज भी नागरिकों के साथ अमानवीय व्यवहार किया जा रहा है। मुस्लिम राष्ट्रों में अमानुषिक दण्ड दिए जाने का प्रावधान है। राजनीतिक बन्दियों के साथ जेलों में जो अमानवीय व्यवहार किया जा रहा है वह तो वर्णनातीत ही है। संक्षेप में इतना कहना ही पर्याप्त है कि आज मानवता की दुहाई देकर विभिन्न देशों की सरकारें मानवाधिकारों का खुलकर उल्लंघन कर रही हैं। फिर भी, 'मानवाधिकार का अन्तर्राष्ट्रीय संघ' (International League for Human Rights) तथा 'एमनेस्टी इण्टरनेशनल' जैसे गैरसरकारी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन मानवाधिकारों की सुरक्षा में सतत रूप से प्रयत्नशील हैं।

भारत में मानवाधिकार हनन की सबसे गहरी जड़ें हमारे सामाजिक व्यवस्था, आर्थिक संरचना तथा सांस्कृतिक मान्यताओं में गढ़ी हैं। वर्ण एवं जाति के आधार पर ऊँच-नीच की मान्यता एवं अस्पृश्यता का प्रचलन असमानता एवं मानवाधिकारों का उल्लंघन ही रहा है। श्रीवास्तव एवं श्रीवास्तव के मतानुसार जाति का प्रभाव आज भी न केवल नौकरशाही और राजनीति में है, बल्कि न्यायपालिका को भी इससे मुक्त नहीं कहा जा सकता। यह कोई संयोग नहीं है कि पुलिस उत्पीड़न और सामूहिक बलात्कार जैसी घटनाओं के ज्यादातर शिकार दलित-पिछड़ी जातियाँ एवं अल्पसंख्यक समुदाय के लोग होते हैं। यह दरअसल समाज की स्वर्ण संरचना की ही एक अभिव्यक्ति है। जातिवादी आग्रहों के कारण समाज के पिछड़े एवं दलित वर्ग एवं धार्मिक अल्पसंख्यक निर्णय की प्रक्रिया एवं सत्ता में साझेदारी के स्तरों पर आज भी हाशिये पर हैं। इससे समाज के लोकतन्त्रीकरण की प्रक्रिया अवरुद्ध हो रही है। आर्थिक संरचना पूँजी एवं संसाधनों के कुछ हाथों में केन्द्रीकरण पर आधारित है। बँधुआ मजदूरी प्रथा समाप्त करने के सभी प्रयास सफल नहीं हो पा रहे हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से लिंग समानता के बावजूद महिलाओं को व्यवहार में पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त नहीं है। आज भी विविध प्रकार से महिलाओं के मानवाधिकारों का हनन हो रहा है।

ऐसा माना जाता है कि भारत के विशाल आकार, अत्यधिक विविधता, पूर्व में उपनिवेशवाद होने के परिणामस्वरूप मानवाधिकारों की स्थिति काफी जटिल है। मानवाधिकार कार्यकर्ताओं द्वारा सामान्यत: यह माना जाता है कि दलित एवं अस्पृश्य जातियों के लोगों के साथ काफी भेदभाव होते रहे हैं तथा आज भी हो रहे हैं। यद्यपि भारत में मानवाधिकार समस्याएँ विद्यमान हैं, तथापि इसे मानवाधिकारों के प्रति चिन्तित देश नहीं कहा जा सकता है। नागरिक अधिकारों के उल्लंघन की घटनाएँ सामान्य हैं। शान्तिपूर्ण विरोध, सभा, संगठन आदि के अधिकार से वंचित करने, बिना अदालती कार्यवाही के नजरबन्दी, पुलिस और सुरक्षा बलों द्वारा फर्जी मुठभेड़ों में लोगों को मार डालने, न्यायेतर कार्यवाहियों में नागरिकों की हत्या, जेलों में कैदियों की अमानवीय दशा तथा उनके अधिकारों का हनन, उग्रवाद-विरोध कार्यवाहियों के नाम पर लोगों का दमन तथा महिलाओं से बलात्कार आदि घटनाएँ नागरिक अधिकारों के उल्लंघन के कुछ उदाहरण हैं।

भारत में मानवाधिकारों से सम्बन्धित घटनाओं को कालक्रमानुसार निम्न प्रकार से समझा जा सकता है-

1. गवर्नर जनरल विलियम बैंटिक द्वारा 1829 में पति की मृत्यु के पश्चात् पत्नी द्वारा सती हो जाने की प्रथा को हिन्दू सुधार आन्दोलनों, विशेष रूप से राजा राममोहन राय के ब्रह्म समाज के प्रयासों, के परिणामस्वरूप समाप्त किया गया।
2. 1929 में बाल विवाह प्रतिबन्ध अधिनियम द्वारा 14 वर्ष से कम बच्चों के विवाह पर रोक लगा दी गई।
3. 1947 में अंग्रेजी शासनकाल समाप्त हुआ तथा भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई।
4. भारतीय संविधान भारत को सार्वभौम मताधिकार पर आधारित एक प्रजातान्त्रिक गणतन्त्र घोषित करता है। इसके भाग 3 में नागरिकों को मौलिक अधिकार दिए गए हैं जिनका संरक्षण राज्यों के उच्च न्यायालय तथा सर्वोच्च न्यायालय करता है। संविधान में पूर्व में वंचित समूहों (अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों) के लिए शिक्षा, रोजगार एवं राजनीतिक प्रतिनिधित्व में आरक्षण का प्रावधान भी किया गया।
5. 1952 में सरकार द्वारा अपराधी जनजाति अधिनियम समाप्त कर दिया गया तथा पूर्व में अपराधी जनजातियों को गैर-अधिसूचित कर अभ्यस्त अपराधी अधिनियम, 1952 लागू किया गया।
6. 1955 में हिन्दू विवाह अधिनियम द्वारा हिन्दू महिलाओं को अधिक अधिकार प्रदत्त किए गए।
7. 1958 में सशस्त्र बल (विशिष्ट शक्ति) अधिनियम पारित किया गया।

8. 1973 में सर्वोच्च न्यायालय ने केशवनन्द भारती केस में यह महत्वपूर्ण निर्णय दिया कि संविधान की मौलिक संरचना (मौलिक अधिकारों सहित) को संवैधानिक संशोधन द्वारा बदला नहीं जा सकता।
9. 1975-77 में भारत में आपातस्थिति की घोषणा अवधि में मानवाधिकारों का व्यापक स्तर पर खुल्लमखुल्ला उल्लंघन किया गया।
10. 1978 में सर्वोच्च न्यायालय ने मेनका गांधी बनाम भारतीय संघ केस में यह निर्णय दिया कि संविधान की धारा 21 में प्रदत्त जीवन के अधिकार को आपातकाल में भी निलम्बित नहीं किया जा सकता।
11. 1978 में जम्मू एवं कश्मीर जनसुरक्षा अधिनियम (Jammu and Kashmir Public Safety Act) पारित किया गया।
12. 1984 में ऑपरेशन ब्ल्यू स्टार हुआ तथा तत्पश्चात् सिक्खों के विरुद्ध हुए दंगों में मानवाधिकारों का हनन किया गया
13. 1985-86 में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा शाह बानो केस में मुस्लिम महिलाओं को तलाक के पश्चात् भरण-पोषण के अधिकार सम्बन्धी निर्णय से मुस्लिम धार्मिक नेताओं ने कड़ा विरोध किया। इसी वर्ष राजीव गांधी सरकार ने मुस्लिम महिला (तलाक पर अधिकारों का संरक्षण) अधिनियम, 1986 [The Muslim Women (Protection of Rights on Divorce) Act, 1986] पारित किया।
14. 1989 में अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम पारित किया गया।
15. 1989 में कश्मीरी विद्रोह से कश्मीरी पण्डितों, हिन्दुओं के मन्दिरों को अपवित्र करने, हिन्दुओं एवं सिक्खों को मारने तथा विदेशी पर्यटकों के अपहरण की समस्या विकसित हो गई।
16. 1992 में संविधान संशोधन द्वारा स्थानीय स्वशासन (पंचायती राज) को ग्राम स्तर पर प्रशासन के तृतीय स्तर के रूप में स्वीकार किया गया तथा एक-तिहाई स्थान महिलाओं के लिए सुरक्षित किए गए। अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लिए भी आरक्षण का प्रावधान किया गया।
17. 1992 में बाबरी मस्जिद विध्वंस के पश्चात् पूरे देश में साम्प्रदायिक दंगे हुए।
18. 1993 में मानव अधिकारों के संरक्षण अधिनियम के अन्तर्गत 'राष्ट्रीय मानवाधिकार कमीशन' का गठन किया गया।
19. 2001 में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा भोजन के अधिकार को लागू करने का निर्देश पारित किया गया।
20. 2002 में गुजरात में हुए दंगों में मुस्लिम अल्पसंख्यकों को बड़े पैमाने पर निशाना बनाया गया।
21. 2005 में सूचना का अधिकार अधिनियम पारित किया गया जिसके द्वारा नागरिकों को सार्वजनिक अधिकारियों से सूचना प्राप्त करने का अधिकार प्रदान किया गया।
22. 2005 में राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी अधिनियम (नरेगा) पारित किया गया जो रोजगार के सार्वभौम अधिकार की गारण्टी देता है।
23. 2006 में सर्वोच्च न्यायालय ने भारतीय पुलिस के खराब रिकॉर्ड के मद्देनजर पुलिस सुधार का आदेश दिया।
24. 2009 में दिल्ली हाई कोर्ट द्वारा अप्राकृतिक लैंगिक कार्यों को वर्जित करने वाली भारतीय दण्ड संहिता की धारा 377 को मौलिक अधिकारों के विरुद्ध होने के कारण असंवैधानिक करार दिया गया जिसका भारत में परस्पर सहमति से होने वाले समलैंगिक सम्बन्धों पर दूरगामी प्रभाव पड़ा।

भारत में मानवाधिकारों के हनन की स्थिति का अनुमान निम्नलिखित कुछ चयनित घटनाओं से ही लगाया जा सकता है-

1. सभी राज्यों द्वारा हिरासत के समय यातना प्रतिबन्धित करने के बावजूद हिरासत में होने वाली मृत्युओं (Custodial deaths) की संख्या में निरन्तर वृद्धि देखी गई है। इसका प्रमुख कारण पुलिस की जिम्मेदारी का अभाव बताया जाता है।

NOTES

2. संयुक्त राष्ट्र संघ एवं अनेक अन्य संगठनों एवं संस्थाओं द्वारा जम्मू-कश्मीर में होने वाले मानवाधिकार हनन को उजागर करने का प्रयास किया गया है। सुरक्षा बलों द्वारा मानवाधिकारों के हनन के मामले आज भी समाचार-पत्रों में सुर्खियाँ बने हुए है।

3. भारतीय संविधान में भाषण की स्वतन्त्रता के अधिकार के बावजूद भारत का प्रेस की स्वतन्त्रता में विश्व में 105वाँ स्थान है। इसके बावजूद आज अनेक टेलीविजन चैनल मानवाधिकारों के हनन, भ्रष्टाचार तथा सत्ता के दुरुपयोग के मामलों को उजागर कर रहे हैं।

4. भारत में गैर-कानूनी होने के बावजूद मानव अवैध व्यापार (**Human trafficking**) 8 मिलियन करोड़ डॉलर का है। ऐसा अनुमान है कि नेपाल से प्रतिवर्ष 10,000 तथा बंगलादेश से 20,000 से 25,000 के बीच महिलाओं एवं बच्चों को भारत में इस अवैध व्यापार में शामिल किया जाता है।

5. भारत में समय-समय पर विभिन्न प्रदेशों में होने वाले साम्प्रदायिक दंगे समाप्त नहीं हुए हैं। इनमें जान-माल की काफी हानि होती है।

6. दलितों, अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लोगों पर होने वाले अत्याचार निरन्तर हो रहे हैं तथा इन पर प्रभावी नियन्त्रण नहीं लगाया जा सका है। घरेलू हिंसा एवं महिलाओं के साथ होने वाला दुर्व्यवहार कम होने की अपेक्षा निरन्तर बढ़ता जा रहा है।

7. बँधुआ मजदूरी प्रथा तथा बाल श्रम आज भी प्रचलित हैं तथा इन्हें वैधानिक प्रावधानों के बावजूद समाप्त नहीं किया जा सका है।

इन चुन्दिा घटनाओं से भारत में मानवाधिकार की स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग अब स्वयं अनेक मानवाधिकार हनन के मामलों का संज्ञान लेकर उचित कार्यवाही करने लगा है। इससे स्थिति में थोड़ा-बहुत सुधार हुआ है, परन्तु अभी इस दिशा में काफी कुछ किया जाना शेष है। मानवाधिकार के संरक्षण में सरकार के साथ-साथ गैर-सरकारी संगठन, स्वैच्छिक संगठन तथा समाज कार्यकर्ता भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं।

बोध प्रश्न

1. भारत में मानव अधिकारों की वास्तविक स्थिति क्या है?

....

....

....

2. मानव अधिकार हनन को संबंधित घटनाओं का वर्णन करो?

....

....

....

9.4.2 भारत में मानवाधिकारों से सम्बन्धित कुछ मुद्दे

भारत में 1994-95 की अवधि के दौरान, आयोग का ध्यान नागरिक स्वतन्त्रताओं की ओर केन्द्रित रहा। इस सम्बन्ध में आयोग ने निम्नलिखित विषयों/अपराधों पर विशेष ध्यान दिया-

1. आतंकवादी एवं विध्वंसकारी क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम,
2. विप्लव एवं आतंकवाद के क्षेत्रों में मानव अधिकार,
3. व्यवस्थित सुधार : पुलिस,
4. व्यवस्थित सुधार : जेल एवं निरोध के अन्य केन्द्र, तथा

5. हिरासत में मृत्यु, बलात्कार एवं यन्त्रणा।

विधियों के पुनरीक्षण, मानव अधिकारों की सन्धियों एवं अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संलेखों का कार्यान्वयन के सम्बन्ध में आयोग ने इसका पुनरीक्षण किया तथा अनेक संस्तुतियाँ दीं जिनमें से कुछ अग्रलिखित हैं-

NOTES

1. आयोग ने प्रार्थना की तथा संस्तुति दी कि आतंकवादी एवं विध्वंसकारी कार्यकलापों (निवारण) अधिनियम, 1987 (TADA) समाप्त किया जाए।
2. आयोग ने संस्तुति दी कि भारत को यन्त्रणा तथा अन्य प्रकार के निर्दयी या कठोर, अमानवीय एवं परिभ्रष्ट करने वाले व्यवहार या दण्ड के विरुद्ध 1984 के अभिसमय में सम्मिलन करके उसका पक्षकार बन जाना चाहिए।
3. आयोग ने अवलोकन किया कि भारत मानव अधिकारों के अभिसमयों का पक्षकार बन गया है जैसे सिविल एवं राजनीतिक अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा, जातीय भेदभाव के अपराध के दमन एवं दण्ड पर अभिसमय, 1973; सभी प्रकार के जातीय भेदभाव की समाप्ति पर अभिसमय, 1965; महिलाओं के विरुद्ध सभी प्रकार प्रकार के भेदभाव पर अभिसमय, 1979 तथा बच्चों के अधिकारों पर अभिसमय, 1989। इन सन्धियों के अनुसमर्थन के पश्चात् भारत का दायित्व है कि सम्बन्धित सन्धि निकायों की आवधिक रिपोर्ट भेजे परन्तु कुछ मामलों में रिपोर्ट समय पर नहीं भेजी गई तथा कुछ में उनकी निकट ही भेजने की आवश्यकता है।
4. आयोग ने संस्तुति दी कि अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के लिए उपयुक्त कानून बनाना चाहिए तथा इस प्रयोजन के लिए आवश्यक धन स्रोतों को उपलब्ध कराना चाहिए।
5. आयोग ने संस्तुति दी कि बाल श्रम (निषिद्ध एवं नियमन) अधिकारों के उपबन्धों को सुदृढ़ किया जाए।

   उपर्युक्त संस्तुतियों के अतिरिक्त आयोग ने अपना ध्यान मानव अधिकार साक्षरता एवं जागृति की ओर लगाया। 1994-95 की वार्षिक रिपोर्ट के पश्चात् आयोग ने चार और रिपोर्टें प्रेषित की हैं। 1995-96 में आयोग ने 10,195 शिकायतें प्राप्त कीं तथा 1996-97 में उसने 20,514 शिकायतें प्राप्त कीं। अत: 1993-94 के मुकाबले में जब आयोग ने केवल 496 रिपोर्टें प्राप्त की थीं तथा तब से शिकायतों में 20 गुना से अधिक वृद्धि हुई है। इसका कुछ श्रेय आयोग के मानव अधिकार साक्षरता कार्यक्रम तथा जागृति को है। पिछले दो वर्षों में आयोग ने मानव अधिकारों से सम्बन्धित अनेक प्रकार के कार्य किए हैं। पिछली दो रिपोर्टों में आयोग ने संस्तुति दी है कि मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम, 1993 में तथा विशेषकर अनुच्छेदों 2 (1) (घ), 2 (1) (च), 11 (1) (ख) तथा 11 (2) अनु0 32 सहित) को संशोधित करके उनमें अस्पष्टता को समाप्त किया जाए। आयोग ने यह भी संस्तुति दी कि भारतीय जेल अधिनियम का पुनरीक्षण किया जाए तथा एक नया पूर्ण भारत जेल मैन्युअल बनाया जाए जिसमें जेल प्रणाली में सुधार किया जाए; मानव अधिकारों का आन्दोलन एक बड़े पैमाने पर चलाया जाए, दूरदर्शन तथा रेडियो के माध्यम से साक्षरता एवं जागृति की जाए; महिलाओं की प्रास्थिति में सुधार किया जाए; अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों की प्रास्थिति में सुधार किया जाए तथा सामाजिक पुन: जागृति के बड़े पैमाने पर प्रोग्राम से प्राचीन सामाजिक दोषों का शुद्धीकरण किया जाए।

2008 की मानवाधिकार से सम्बन्धित रिपोर्ट के अनुसार भारत में मानवाधिकार से सम्बन्धित प्रमुख मुद्दे निम्न प्रकार हैं-

1. मनमाने ढंग से अथवा गैर-कानूनी रूप में जीवन का अपहरण (Arbitrary or unlawful deprivation of life),
2. गुमशुदगी (Disappearance),
3. यातना तथा अन्य क्रूर, अमानवीय अथवा अपमानजनक उपचार अथवा सजा (Torture and other cruel, inhuman, or degrading treatment or punishment),
4. मनमाने ढंग से गिरफ्तार करना अथवा कैद (Arbitrary arrest or detention),
5. मुकदमे की उचित सार्वजनिक सुनवाई से वंचित करना (Denial of fair public trial),

6. गोपनीयता, परिवार, घर अथवा पत्राचार में मनमाने ढंग से हस्तक्षेप करना (Arbitrary interference with privacy, family, home, or correspondence),

7. आन्तरिक संघर्षों में अत्यधिक बल एवं अन्य दुर्व्यवहारों का प्रयोग करना (Use of excessive force and other abuses in internal conflicts),

NOTES

8. बोलने एवं प्रेस की स्वतन्त्रता (Freedom of speech and press),

9. शान्तिपूर्वक इकट्ठे होने की स्वतन्त्रता (Freedom of peaceful assembly and association),

10. धर्म की स्वतन्त्रता (Freedom of religion),

11. गतिविधि, आन्तरिक रूप से विस्थापितों, शरणार्थियों के संरक्षण तथा राज्यविहीन लोगों की स्वतन्त्रता (Freedom of movement, internally displaced persons, protection of refugees, and stateless persons),

12. भेदभाव करना, सामाजिक दुर्व्यवहार करना तथा व्यक्तियों का अवैध व्यापार (Discrimination, societal abuses, and trafficking in persons)

13. श्रमिकों के अधिकार (Worker rights)

राष्ट्रीय मानव अधिकारों की सुरक्षा हेतु आयोग ने मानव अधिकार विशेषकर नागरिक स्वतन्त्रताओं के क्षेत्र में बहुत ही सराहनीय योगदान दिया है। उदाहरण के लिए, हिरासत में होने वाली मृत्यु, बलात्कार एवं यन्त्रणा को रोकने में आयोग की भूमिका बहुत ही प्रशंसनीय रही है। आयोग द्वारा जिलाधीशों एवं पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्टों को जारी पत्र में निर्देश दिया गया कि हिरासत में मौत या यन्त्रणा की घटना के 24 घण्टों के अन्दर आयोग को सूचना भेजी जाए। उक्त निर्देश पुलिस अधिकारियों को एक प्रकार की चेतावनी है कि यदि वह अपने अधिकारों का दुरुपयोग करेंगे या ज्यादतियाँ करेंगे तो उन्हें इसके लिए दण्डित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग ने पुलिस हिरासत में हुई मृत्यु के कुछ मामलों में इस प्रकार कार्यवाही की कि लोगों के आयोग के प्रति विश्वास में वृद्धि हुई है। उपर्युक्त योगदान के बावजूद यह स्वीकार करना होगा कि आयोग के पास अनुशास्तियों का अभाव है तथा यह प्रत्यक्ष कार्यवाही नहीं कर सकता। यह केवल संस्तुति दे सकता है तथा यह सरकार के ऊपर निर्भर करता है कि वह संस्तुति को स्वीकार करती है या नहीं। यह स्थिति सन्तोषजनक नहीं है। ऐसे देश में जहाँ सरकार बैंक घोटाले के मामले में संयुक्त संसदीय समिति की रिपोर्ट को लागू करने के मामले में आनाकानी या बहाने बना सकती है, वहाँ राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग की संस्तुतियाँ यथेष्ट नहीं हैं तथा सरकार कभी भी राजनीतिक या अन्य कारण देकर उन्हें कार्यान्वित करने से बच सकती है। अत: सत्य यह है कि आयोग की जाँच समाप्त करने के पश्चात् धारा 18 में दी गई शक्तियाँ समुचित नहीं हैं। इस आलोचना में काफी बल है कि आयोग के पास अनुशास्तियों का अभाव है। यह केवल संस्तुतियाँ दे सकता है तथा इसकी संस्तुतियाँ सरकार पर बाध्यकारी नहीं हैं।

यह भी उल्लेखनीय है कि यद्यपि आयोग न्यायालय के समान निर्णय नहीं दे सकता है तथा न ही इसके निर्णय या निर्देश या संस्तुतियों को न्यायालय के निर्णयों के समान प्रवर्तित किया जा सकता है, परन्तु यह कहना भी उचित प्रतीत नहीं होता है कि राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग एक दुर्बल निकाय है। इसके अध्यक्ष भारत के पूर्व मुख्य न्यायाधीश तथा सदस्य उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश एवं उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश आदि होते हैं; अत: सरकार एवं लोग इसे सम्मान की दृष्टि से देखते हैं तथा इसकी संस्तुतियों का सामान्यत: सम्मान किया जाता है। यह एक कानूनी स्वायत्त निकाय या संस्था है तथा इसे शक्ति संसद के अधिनियम के अन्तर्गत प्राप्त है। अत: केन्द्र या राज्य सरकारों को इसकी संस्तुतियों को स्वीकार तथा कार्यान्वित करते समय अनेक बार विचार करना पड़ेगा। यह भी उल्लेखनीय है कि अनुच्छेद 18 (6) के अन्तर्गत आयोग के लिए यह अभिदेश है कि सरकार की टीका-टिप्पणी या प्रस्तावित कार्यवाही समेत जाँच की रिपोर्ट प्रकाशित करे। ऐसी रिपोर्ट प्रकाशित होने पर प्रबल लोकमत उत्पन्न करती है। स्पष्टतया भारत के समान लोकतान्त्रिक सरकार को उक्त लोकमत का आदर करना ही पड़ता है। अत: सामान्यतया सरकार आयोग की रिपोर्ट एवं संस्तुतियों को स्वीकार करके कार्यवाही करने को विवश हो जाती है।

9.5 मानवाधिकार एवं समाज कार्य

NOTES

मानवाधिकारों का विश्वव्यापी घोषणा-पत्र महासभा द्वारा एक ऐसे प्रतिमान के रूप में स्वीकार किया गया, जिसे सभी व्यक्तियों तथा सभी राष्ट्रों के मध्य लागू किया जाना था। प्रारम्भ में इस घोषणा-पत्र के व्यावहारिक पहलुओं को लेकर गम्भीर सन्देह व्यक्त किया गया। सन्देह व्यक्त करने वालों में वे भी थे जो मानवाधिकारों के बुनियादी महत्व को स्वीकार करते थे। महासभा तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के दूसरे अंगों ने बार-बार घोषणा-पत्र में निहित सिद्धान्तों को लागू किया है तथा उसके अनुरूप कार्यवाही की है। प्रतिस्पर्द्धा, घरेलू क्षेत्राधिकार का सिद्धान्त आदि का सहारा लेकर महासभा को उन मामलों में हस्तक्षेप करने या हस्तक्षेप का प्रयास करने से रोका नहीं जा सका है, जहाँ मानवाधिकारों का खुलेआम उल्लंघन हुआ है।

भारत में मानवाधिकारों को संविधान ने मौलिक अधिकारों एवं राज्य के नीति-निदेशक सिद्धान्तों वाले भागों में सम्मिलित किया है। लोकतन्त्र समर्थकों तथा मानवतावादियों के आज के भारत में मानवाधिकार दिवस मनाने का सर्वोत्तम तरीका यह है कि वे लोगों को मौलिक अधिकारों तथा नीतिनिदेशक तत्वों को समझाएँ तथा इन पर अमल के लिए समर्थन जुटाएँ। अतः मानवाधिकारों का संरक्षण एवं प्रोत्साहन सभी मानवतावादियों का प्रमुख कार्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु समाज कार्य भी अत्यन्त उपयोगी है। समाज कार्य मानवाधिकारों के संरक्षण तथा सामाजिक न्याय को प्रोत्साहन देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। समाज कार्य प्रगतिशील सामाजिक नीतियों एव सामाजिक अधिनियमों के निर्माण के लिए आवश्यक जनमत तैयार करता है। इतना ही नहीं, समाज कार्य की अपेक्षित तथ्यों को उपलब्ध कराने, उपयुक्त सेवाओं का प्रावधान सुनिश्चित करने, लोगों को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक बनाने तथा मानवाधिकारों के संरक्षण हेतु लोगों को संगठित करने में महत्वपूर्ण भूमिका है। मानवाधिकारों के संरक्षण से सम्बन्धित नीतियों, कानूनों, योजनाओं एवं कार्यक्रमों को प्रभावशाली ढंग से लागू करने में भी समाज कार्य की भूमिका से इनकार नहीं किया जा सकता।

बोध प्रश्न

1. मानव अधिकार से संबंधित मुद्दे बताइये?

....

....

....

....

2. मानव अधिकार का समाजकार्य से संबंध बताइये?

....

....

....

....

9.6 सारांश

भारत में मानव अधिकारों की रक्षा के लिए मानव अधिकार आयोग की स्थापना की गई। मानव अधिकार आयोग का मुख्यालय दिल्ली में है किन्तु अन्य जगह इसके कार्यालय स्थापित है। मानव अधिकार आयोग के अंतर्गत वे सभी आयोग आते हैं जो मानव से संबंधित है। इस आयोग का कार्य जनसाधारण में अपने अधिकारों के प्रति जागरुकता पैदा करना है। मानव अधिकारों के उल्लंघन पर सरकार द्वारा हस्तक्षेप किया जा सकता है। समाज कार्य द्वारा मानव अधिकारों के उल्लंघन पर सरकार द्वारा हस्तक्षेप किया जा सकता है। समाज कार्य द्वारा मानव अधिकारों के लिए जनसाधारण में जागृति पैदा की जा सकती है। इसके द्वारा कानूनों, योजना कार्यक्रमों को प्रभावी ढंग से लागू किया जा सकता है।

NOTES

9.7 शब्दावली

मानवाधिकार - मानवाधिकार वे निश्चित अधिकार हैं जो किसी पुरुष अथवा महिला को मानव होने के नाते प्रदत्त होते हैं। यह अधिकार सभी मानवों को बिना किसी भेदभाव के एक समान प्राप्त होते हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ - संयुक्त राष्ट्र संघ अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा को बनाए रखने वाला एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है।

बँधुआ मजदूरी - बँधुआ मजदूरी वह मजदूरी है जो व्यक्ति को अपने ऋण न चुका पाने के बदले में की जाती है। बहुधा यह पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती है।

बाल श्रम - बाल श्रम निश्चित आयु (सामान्यत: 14 वर्ष) से कम आयु के बच्चों द्वारा खेतों, कारखानों अथवा अन्य प्रतिष्ठानों में किया जाने वाला श्रम है।

दास प्रथा - दास प्रथा वह प्रथा है जिसमें किसी व्यक्ति को एक वस्तु के समान खरीदा या बेचा जाता है। दास पर उसके मालिक का पूर्ण नियन्त्रण होता है तथा उसे किसी प्रकार के अधिकार प्राप्त नहीं होते हैं।

घरेलू हिंसा - घरेलू हिंसा से अभिप्राय महिलाओं के साथ घर के भीतर होने वाली हिंसा से है।

9.8 अभ्यास प्रश्न

दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. मानवाधिकार किसे कहते हैं? भारत में मानवाधिकार की स्थिति की विवेचना कीजिए।
2. मानवाधिकार से आप क्या समझते हैं? भारत में मानवाधिकार के प्रमुख मुद्दे बताइए।
3. संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा मानवाधिकार की सार्वभौम घोषणा के बारे में आप क्या जानते हैं? संक्षेप में बताइए।
4. भारत में राज्यों के मानवाधिकार आयोग के गठन एवं कार्यों की विवेचना कीजिए।

लघुउत्तरीय प्रश्न

1. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए-

    (अ) मानवाधिकारों की अविभाज्यता एवं अन्योन्याश्रितता

    (ब) तृतीय विश्व में मानवाधिकार (स) मानवाधिकार आयोग।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

1. राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के सदस्य कितने होते हैं–

    (अ) सात (ब) आठ (स) नौ (द) दस

उत्तर 1. (अ)

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

Sinha, P.C., India's **Global Human Rights Obligations : A Status Report, Part-1 & 2,** New Delhi : Kanishka Publishers and Distributors, 2003.

श्रीवास्तव, सुधा रानी एवं रागिनी श्रीवास्तव, **मानव अधिकार और महिला उत्पीड़न,** नई दिल्ली : कॉमनवेल्थ, 2001.

Verma, J. S., The New Universe of Human Rights, Delhi : Universal Law Publishing, 2006.

●●●

अध्याय–10 कल्याणकारी राज्य, सामाजिक विधान एवं समाज कार्य
(WELFARE STATE, SOCIAL LEGISLATION & SOCIAL WORK)

NOTES

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य
10.1 प्रस्तावना
10.2 राज्य की अवधारणा
10.3 कल्याणकारी राज्य की अवधारणा
10.4 कल्याणकारी राज्य के विचार का उद्भव
10.5 कल्याणकारी राज्य की प्रमुख विशेषताएँ
10.6 कल्याणकारी राज्य के प्रमुख कार्य एवं समस्याएँ
10.7 कल्याणकारी राज्य एवं समाज कार्य
10.8 समाज कल्याण एवं सामाजिक विधान
10.9 भारत में सामाजिक विधान
10.10 सारांश
10.11 शब्दावली
10.12 अभ्यास प्रश्न
सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

10.0 उद्देश्य

आज सामाजिक विज्ञानों में समग्र समाज को एक व्यवस्था के रूप में देखा जाता है। व्यवस्था से अभिप्राय विभिन्न इकाइयों के बीच अन्तर्सम्बन्ध से बना वह क्रमबद्ध ताना-बाना है जिसमें किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ये इकाइयाँ एक-दूसरे से इस प्रकार सम्बद्ध होती हैं कि एक भाग में परिवर्तन दूसरे भाग को प्रभावित करता है। समाज को एक व्यवस्था के रूप में प्रतिपादित करने का श्रेय प्रसिद्ध समाजशास्त्री पैरेटो (Pareto) को दिया जाता है; उनकी विचारधारा को अवधारणात्मक एवं आनुभविक दृष्टि से आगे बढ़ाने का श्रेय पारसन्स (Parsons) को है। वास्तव में, आधुनिक समाजशास्त्र में सामाजिक व्यवस्था की अवधारणा इन्हीं के नाम से जुड़ी है। प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था के दो पहलू होते हैं-संरचनात्मक एवं प्रकार्यात्मक। इन्हें समाज की संरचनात्मक उप-व्यवस्थाएँ तथा प्रकार्यात्मक उप-व्यवस्थाएँ भी कहते हैं। ये दोनों प्रकार की व्यवस्थाएँ समाज की प्रकार्यात्मक समस्याओं से सम्बन्धित हैं अथवा इन्हें समाज की पूर्वापेक्षाओं से सम्बन्धित माना जाता है।

समाज की चार प्रकार्यात्मक समस्याएँ या पूर्वापेक्षाएँ हैं-अनुकूलन (Adaptation), लक्ष्य-प्राप्ति (Goal attainment), एकीकरण (Integration) तथा प्रतिमानात्मक स्थायित्व एवं तनाव-नियन्त्रण (Pattern maintenance and tension-management)। इन पूर्वापेक्षाओं से सम्बन्धित उपव्यवस्थाएँ क्रमश: अर्थव्यवस्था, राज-व्यवस्था, धार्मिक एवं कानूनी उप-व्यवस्थाएँ तथा शैक्षिक एवं नातेदारी उप-व्यवस्थाएँ कहलाती हैं। इस प्रकार, सामाजिक व्यवस्था के रूप में समाज को बनाए रखने के लिए आर्थिक संस्थाओं, राजनीतिक संस्थाओं तथा धार्मिक संस्थाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। इस इकाई का उद्देश्य समाज कार्य की दृष्टि से कल्याणकारी राज्य एवं सामाजिक विधान की अवधारणओं को स्पष्ट करना है।

NOTES

10.1 प्रस्तावना

राजनीतिक संस्थाओं का वृहद् अध्ययन राजनीतिशास्त्र में किया जाता है। चूँकि समाजशास्त्र सभी प्रकार के सम्बन्धों का अध्ययन करता है, इसलिए राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन भी इसके अन्तर्गत किया जाता है। राजनीतिक संस्थाएँ सामाजिक जीवन की अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्थाएँ हैं। राजनीतिक संस्थाओं का सम्बन्ध शक्ति से है तथा इनके द्वारा ही समाज में सामाजिक नियन्त्रण का कार्य किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार कार्य करना चाहता है और यदि सभी व्यक्ति ऐसा करने लगें तो सामाजिक व्यवस्था नष्ट हो जाएगी। शान्ति तथा नियन्त्रण बनाए रखने के लिए राजनीतिक संस्थाओं का महत्व सभी युगों में रहा है और आज भी है। व्यक्ति राजनीतिक संस्थाओं द्वारा अपनी अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। समाज में व्यवस्था, प्रगति व शान्ति बनाए रखने का उत्तरदायित्व राजनीतिक संस्थाओं एवं समितियों पर ही है।

बॉटोमोर (Bottomore) के अनुसार राजनीतिक संस्थाएँ समाज में शक्ति के वितरण से सम्बन्धित हैं। इस सन्दर्भ में, राज्य के बारे में वेबर (Weber) का विचार है कि राज्य एक ऐसा मानवीय समुदाय है जिसका एक निश्चित भौगोलिक सीमा में भौतिक बल के वैधानिक प्रयोग का एकाधिकार होता है और जो इस अधिकार को सफलतापूर्वक लागू करता है। इस प्रकार, राज्य सामाजिक नियन्त्रण का एक महत्वपूर्ण अभिकरण है जिसके कार्य कानून द्वारा किए जाते हैं। राज्य सम्पूर्ण समाज नहीं है अपितु समाज की एक संस्था-मात्र है।

वर्तमान में राज्य की महानता की परीक्षा अब केवल उसकी शक्ति सम्पन्नता से ही नहीं की जाती, वरन् इस सम्बन्ध में यह भी देखा जाता है कि अमुख राज्य किस सीमा तक लोकहितकारी है। वर्तमान समय में कल्याणकारी राज्य का विचार निरन्तर लोकप्रिय होता जा रहा है और सभी प्रकार की शासनप्रणालियों वाले राज्य अपनी-अपनी परिस्थितियों के अनुसार अपने आपको लोकहितकारी बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। वर्तमान में विश्व का कोई ऐसा राष्ट्र नहीं होगा जो अपने आपको कल्याणकारी राज्य के रूप में कहलाने में गर्व का अनुभव नहीं करता है।

10.2 राज्य की अवधारणा

समाजशास्त्रीय दृष्टि से राज्य एक ऐसी संस्था है जोकि शक्ति के वितरण तथा इसके प्रयोग के एकाधिकार से सम्बन्धित है। राज्य से अभिप्राय जनसमूह से है जो एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र के अन्तर्गत कानून द्वारा संगठित होता है। फेयरचाइल्ड (Fairchild) ने इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि, "राज्य समाज की वह संस्था, पहलू या माध्यम है जोकि बल प्रयोग की ताकत एवं अधिकार रखती है, अर्थात् जो बलपूर्वक नियन्त्रण लागू कर सकती है। यह शक्ति समाज के सदस्यों को नियन्त्रित करने के काम भी आ सकती है और अन्य समाजों के विरुद्ध भी।"

मैकाइवर (MacIver) के अनुसार, "राज्य एक ऐसी समिति है जो कानून द्वारा शासनतन्त्र से क्रियान्वित होती है और जिसे निश्चित भू-प्रदेश में सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने के सर्वोच्च अधिकार प्राप्त होते हैं।" मैक्स वेबर (Max Weber) के अनुसार, "राज्य एक ऐसा संघ है जिसके पास हिंसा के वैध प्रयोग का एकाधिकार होता है और जिसकी अन्य ढंग से परिभाषा नहीं की जा सकती।" गिलिन एवं गिलिन (Gillin and Gillin) ने राज्य को इन शब्दों में परिभाषित किया है, "एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करने वाले व्यक्तियों के प्रभुता-सम्पन्न राजनीतिक संगठन को हम **राज्य** कहते हैं।" इसी भाँति, जिसबर्ट (Gisbert) के अनुसार, "राज्य कानून एवं राजनीतिक मामले में अपील की सबसे अन्तिम अदालत है। अत: यह प्रभुसत्ताशाली एवं एक अर्थ में निरपेक्ष है, यद्यपि यह दोनों विशेषाधिकार विधिवत् रूप में सापेक्ष होने अनिवार्य हैं।" गार्नर (Garner) के शब्दो में, "राज्य थोड़े अथवा बहुसंख्यक लोगों का एक ऐसा समुदाय है जो किसी प्रदेश के निश्चित भाग में स्थायी रूप में रहता हो, जो बाहरी शक्ति के नियन्त्रण से आंशिक अथवा पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो तथा जिसमें ऐसी स्वतन्त्र सरकार विद्यमान हो, जिसके आदेश का पालन, नागरिकों का बहुमत, स्वभाववश करते हैं।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि राज्य मनुष्यों द्वारा निर्मित एक राजनीतिक संगठन है। इस राजनीतिक संगठन का एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र होता है। राज्य का काम चलाने के लिए शासनतन्त्र या सरकार होती है, जो राज्य का संस्थात्मक पहलू है। राज्य की अपनी प्रभुसत्ता होती है। राज्य के सभी नियमों का पालन करना उस राज्य के सदस्यों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यदि कोई व्यक्ति इसका पालन नहीं करता, तब राज्य अपनी

प्रभुसत्ता के आधार पर दण्ड देने का अधिकार रखता है। रौसेक (Roucek) ने ठीक ही लिखा है कि, "सम्पूर्ण समाज के सन्दर्भ में, राज्य लोगों की ऐसी समिति है जो राजनीतिक उद्देश्यों से बनाई जाती है।" वे इस बात पर भी बल देते हैं कि, "क्योंकि सरकार की सारी शक्ति व्यक्तियों के हाथ में ही निहित रहती है तथा वे ही उसका प्रयोग करते हैं। अतः सरकार की संस्था के बिना राज्य की धारणा की कोई वास्तविकता नहीं होती।"

इस प्रकार, समाजशास्त्रीय दृष्टि से राज्य एक ऐसी संस्था है जोकि अन्य संस्थाओं से भिन्न है। इस संस्था के पास शक्ति भी होती है और उस शक्ति के प्रयोग का अधिकार भी। इसी आधार पर राज्य प्रत्येक नागरिक को अपना मत मनवाने को बाध्य कर सकता है। जो विद्वान् राज्य को एक समिति मानते हैं वे भी इस बात से सहमत हैं कि इस समिति का संस्थागत रूप राज्य के कानून एवं व्यवस्थाएँ होती हैं।

राज्य को आज व्यवहारवादी राजनीतिशास्त्री तथा समाजशास्त्री 'राजनीतिक व्यवस्था' कहना अधिक उचित मानते हैं। यह शब्द राज्य (राष्ट्र अथवा सरकार) से अधिक उपयुक्त है क्योंकि इसका प्रयोग वैधानिक एवं संस्थागत अर्थ में ही नहीं किया जाता अपितु इसमें राजनीतिक क्रियाओं एवं प्रक्रियाओं को भी सम्मिलित किया जाता है। आमण्ड (Almond) के अनुसार, "राजनीतिक व्यवस्था सभी आंशिक भौतिक बल प्रयोग की धमकी के माध्यम से अथवा इसका वास्तविक प्रयोग करके आन्तरिक एवं अन्य समाजों की तुलना में एकीकरण एवं अनुकूलन का कार्य करती है।" उन्होंने किसी भू-भाग के अन्तर्गत औचित्यपूर्ण बल प्रयोग को राजनीतिक व्यवस्था की एक आवश्यक विशेषता माना है। साथ ही उन्होंने अपनी परिभाषा में भौतिक बल के साथ 'पूर्ण' तथा 'आंशिक' शब्दों का प्रयोग करके अपनी परिभाषा में उन राजनीतिक व्यवस्थाओं को भी सम्मिलित कर लिया है जिनमें कि बल प्रयोग की वैधता की मात्रा के बारे में संशय है (यथा सर्वाधिकारी व्यवस्था) अथवा जिनमें एक से अधिक वैध व्यवस्थाओं (यथा अपाश्चात्य व्यवस्थाएँ) के विद्यमान होने की सम्भावना पाई जाती है।

राज्य या राजनीतिक व्यवस्था की निम्नलिखित चार प्रमुख विशेषताएँ हैं। इन्हें राज्य के निर्माणक तत्त्व भी कहा जाता है-

1. औचित्यपूर्ण सत्ता अथवा वैध बाध्यकारिता का प्रयोग (Use of legitimate force),
2. व्यापकता (Comprehensiveness),
3. अन्योन्याश्रितता (Interdependence), तथा
4. सीमाओं का अस्तित्व (Existence of boundaries)

आमण्ड (Almond) तथा ईस्टन (Easton) ने वैध बल का प्रयोग, जिसके द्वारा राजनीतिक व्यवस्था सम्पूर्ण समाज का एकीकरण करती है, राज्य की एक प्रमुख विशेषता माना है। व्यापकता से अभिप्राय यह है कि राज्य में औपचारिक एवं अनौपचारिक सरकारी संस्थाओं तथा राजनीतिक विश्वासों एवं नागरिकों के व्यक्तियों और समूहों के रूप में कार्य भी समाहित हैं। अन्योन्याश्रितता से अभिप्राय राज्य के विभिन्न भागों की एक-दूसरे पर निर्भरता है जिससे कि एक भाग में परिवर्तन अथवा असन्तुलन अन्य भागों को भी प्रभावित करता है। इसकी चौथी विशेषता सीमाओं का अस्तित्व है अर्थात् राज्य एवं पर्यावरण में सीमा विभाजन सम्भव है। अन्य शब्दों में, कुछ ऐसे प्राचल (Parameters) है जिनके आधार पर राजनीतिक कार्यों को आर्थिक, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक कार्यों से पृथक् किया जा सकता है।

10.3 कल्याणकारी राज्य की अवधारणा

कल्याणकारी राज्य से साधारणतया हम यही समझते हैं कि लोकहित करने वाला राज्य लोकहितकारी राज्य कहलाता है परन्तु इतने ही से कल्याणकारी राज्य का वास्तविक स्वरूप हमारी समझ में नहीं आता है। कल्याणकारी राज्य के स्वरूप को भली-भाँति समझने के लिए हमें कल्याण का सामाजिक परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन करना होगा। कल्याणकारी राज्य के सन्दर्भ में कल्याण से हमारा तात्पर्य राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से व्यक्ति की अवसर की समानता को समाप्त कर उसकी साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति की व्यवस्था करना होता है। इस व्यवस्था का उद्देश्य किसी समुदाय विशेष, वर्ग विशेष अथवा समाज के किसी अंग विशेष का हित साधन करना नहीं, वरन् उसका उद्देश्य जनता के सभी अंगों के कुछ आवश्यक हितों की साधना करना होता है।

NOTES

अब्राहम (Abraham) के अनुसार, "वह समाज जहाँ राज्य की शक्ति का प्रयोग निश्चयपूर्वक साधारण आर्थिक व्यवस्था को इस प्रकार परिवर्तित करने के लिए किया जाता है कि सम्पत्ति का अधिक-से-अधिक उचित तथा न्यायपूर्ण वितरण हो सके, कल्याणकारी राज्य कहलाता है।" जवाहरलाल नेहरू (Jawaharlal Nehru) के अनुसार, "सबके लिए समान अवसर प्रदान करना, अमीरों तथा गरीबों के बीच में अन्तर को समाप्त करना तथा जीवन स्तर को ऊपर उठाना कल्याणकारी राज्य के आधारभूत तत्व हैं।" गार्नर (Garner) के अनुसार, "राज्य का यह दायित्व है कि वह यह देखे कि व्यक्ति जिन सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों में जीवन व्यतीत कर रहा है, वे मानव के विविध पक्षों को विकसित करने में सहायक है।"

कल्याणकारी राज्य से सम्बन्धित उपर्युक्त विचारों में मनुष्यों के आर्थिक हितों पर ही अधिक बल दिया जाता है क्योंकि आर्थिक हितों की साधना होने से अन्य हितों की साधना स्वयं सुलभ हो जाती है, परन्तु इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि यद्यपि आर्थिक हित साधन मानव कल्याण का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग होता है तथापि आर्थिक हित साधना से ही मानव कल्याण पूर्ण नहीं हो सकता है। अत: कल्याण से हमारा तात्पर्य मानव के सर्वांगीण हित साधन से होता है जिसमें उसके सामाजिक, नैतिक, आर्थिक तथा बौद्धिक सभी प्रकार के हितों की साधना आ जाती है। इन सभी प्रकार के हितों की प्राप्ति केवल शासकीय प्रयत्नों के द्वारा ही नहीं हो सकती, वरन् इसके लिए मनुष्यों में सामाजिकता की उस भावना का उत्पन्न होना भी आवश्यक होता है, जिससे लोग एक-दूसरे के लिए कार्य करना अपना दायित्व समझने लगते हैं।

10.4 कल्याणकारी राज्य के विचार का उद्भव

राज्य मूलत: कल्याण का साधन है तथा उसका रूप कल्याणकारी है। यह विचार वस्तुत: सदा से ही विद्यमान रहा है। लेकिन आधुनिक समय में इस धारणा का प्रयोग जिस अर्थ से किया जाता है, उससे राज्य के उस रूप की कल्पना की गई है जो शोषित रहित तथा समता मुक्त समाज-व्यवस्था की कल्पना पर कल्याणकारी राज्य की धारणा का उदय वस्तुत: आधुनिक युग की कुछ प्रमुख प्रवृत्तियों का परिणाम है जो निम्न प्रकार से आधारित है-

1. **व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया** - 19वीं शताब्दी में व्यक्तिवादी विचारधारा ने राज्य के कार्य क्षेत्र को बहुत संकुचित कर दिया था। उन्होंने राज्य के नकारात्मक कार्यों की अवधारणा को मान्यता प्रदान की तथा उसके कार्यों को पुलिस राज्य के कार्यों तक सीमित कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि व्यक्ति के जीवन में प्रत्येक क्षेत्र में प्रतियोगिता का बोलबाला हो गया। लेसेस फेयर (Laissez Fare) नीति के प्रचलन का परिणाम यह हुआ कि व्यापार तथा कला-कौशल के आर्थिक क्षेत्र में पूँजीपतियों का वर्चस्व स्थापित हो गया। उन्होंने निर्धन श्रमिकों का डटकर शोषण किया। इस स्थिति के परिणामस्वरूप एक ओर समाज में एक अत्यधिक सम्पन्न वर्ग का जन्म हुआ तो दूसरी ओर अत्यन्त विपन्न श्रमिक वर्ग का जन्म हुआ। ऐसी स्थिति में इस व्यवस्था के प्रति असन्तोष उत्पन्न हुआ जिसकी अभिव्यक्ति जान रस्किन, कार्लाइल तथा विलयम गॉडविन आदि विद्वानों द्वारा की गई। इन विचारों ने लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा को बल प्रदान किया।

2. **पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के विरुद्ध प्रतिक्रिया** - पूँजीपतियों द्वारा श्रमिकों के शोषण के विरुद्ध उठी यह आवाज प्रबल होती गई तथा विश्व के अनेक भागों में यह विचारधारा बल पकड़ने लगी कि कलाकौशल, व्यापार एवं कृषि सम्बन्धी सभी प्रकार के उत्पादन का श्रेय अनगिनत श्रमिकों को होता है, जो वस्तुत: कारखानों, व्यापारों तथा खेतों के मालिक होते हैं। अत: उसे कुछ उत्पादन होता है, उसका उपयोग इन थोड़े से मालिकों द्वारा न होकर असंख्यक श्रमिकों द्वारा होना चाहिए। विचारकों ने तत्कालीन शासकीय व्यवस्था को इस प्रकार की शोषण प्रधान व्यवस्था के लिए उत्तरदायी ठहराया गया तथा तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था को बदलने के लिए यह आवश्यक समझा गया कि राज्य के पूँजीवादी स्वरूप को बदलकर लोककल्याणकारी बनाया जाए।

3. **वैज्ञानिक समाजवादी अथवा मार्क्सवादी विचारधारा का उदय तथा लोकतन्त्रीय राज्यों पर उसकी प्रतिक्रिया**-उत्पादन के वास्तविक कर्ता श्रमिक होते हैं अत: उत्पादन का लाभ पूँजीपतियों को प्राप्त न होकर श्रमिकों को होना चाहिए। इस विचारधारा के आधार पर मार्क्स ने वैज्ञानिक समाजवाद का प्रतिपादन किया। समाजवाद के अन्तर्गत ऐसी व्यवस्था की स्थापना के लिए अथक् प्रयत्न किए जिनके अन्तर्गत सबके लिए आर्थिक सुरक्षा हो तथा जो वर्गविहीनता पर आधारित हो। व्यक्तियों ने यह अनुभव किय कि साम्यवाद निर्धन शोषित तथा सामाजिक एवं आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों पर जादू का सा प्रभाव डालने वाली विचारधारा है। इस प्रस्तावित

नवीन व्यवस्था में साधारण मनुष्य यह अनुभव कर सके कि देश में राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक सभी प्रकार के सामूहिक जीवन के सुख-दु:ख का समान सहभागी है तथा उसके अन्तर्गत उसके राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक सभी हितों की सुरक्षा का समुचित प्रबन्ध है। अत: प्रजातन्त्रवादियों ने उसी उद्देश्य को अपने शान्तिपूर्ण प्रजातान्त्रिक ढंग से प्राप्त करने का संकल्प व्यक्त किया, जिसे साम्यवादियों ने क्रान्तिपूर्ण अधिनायकवादी ढंग से प्राप्त किया था। इस घटनाक्रम से भी हितकारी राज्य का विचार आधुनिक रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत हुआ।

4. **विकासवादी समाजवाद का उदय** - वर्ग संघर्ष व हिंसक क्रान्ति के स्थान पर वर्ग सहयोग, लोकतन्त्र तथा संवैधानिक विकास के माध्यम से भी समाजवादी उद्देश्यों की पूर्ति की जा सकती है, मार्क्सवाद के विरोध में इस विचारधारा का उदय उन देशों में हुआ जो जीवन के लोकतान्त्रिक तरीके के लिए प्रतिबद्ध थे। विकासवादी समाजवाद के समर्थकों ने इस बात को विधिवत प्रतिपादित किया कि राज्य की लोकतन्त्रीय व्यवस्था का प्रयोग उन वर्गों की दशा सुधारने के लिए किया जा सकता है जो पिछड़ चुके हैं। उनके विचार में यह कार्य राज्य को कल्याणकारी बनाकर किया जा सकता है।

5. **मताधिकार एवं लोकतन्त्र का विस्तार** - 18वीं शताब्दी के अन्त तक जहाँ भी लोकतन्त्र थे, वहाँ मताधिकार बहुत सीमित था। अत: जनता के बहुत बड़े वर्ग की शासन में कोई भागीदारी नहीं थी तथा यह भी सम्भव था कि राज्य द्वारा पिछड़े वर्गों के हितों की उपेक्षा की जा सके। परन्तु 1932 ई. से ब्रिटेन में सुधार अधिनियमों द्वारा मताधिकार का विस्तार किया गया तथा उसके बाद 20वीं शताब्दी में भारत सहित अनेक विकासशील देशों में मताधिकार को व्यापक बनाया गया। जब अधिकांश जनता को शासन में प्रतिनिधित्व प्राप्त हो गया तो उनके हितों की उपेक्षा किया जाना सम्भव न रहा है। परिणामस्वरूप राज्य के लिए यह आवश्यक हो गया कि पिछड़े वर्गों की स्थिति सुधारने के लिए अपने को कल्याणकारी बनाए जिससे कि जनता को राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं, वरन् आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्र में भी आवश्यक सुविधाएँ प्राप्त हो सकें तथा लोकतन्त्र वास्तविक हो सके। पूर्वोक्त प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप वर्तमान समय में विश्व के अधिकांश राज्य कल्याणकारी व्यवस्था के विचार को स्वीकार करके कार्य कर रहे हैं। इन राज्यों में शासन-व्यवस्था के सभी स्वरूपों वाले राज्य सम्मिलित हैं।

10.5 कल्याणकारी राज्य की प्रमुख विशेषताएँ

कल्याणकारी राज्य की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

1. **आर्थिक सुरक्षा** - कल्याणकारी राज्य को सर्वप्रथम व्यक्ति की आर्थिक सुरक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए क्योंकि आर्थिक हित साधना के बिना राजनीतिक हित साधना का कोई मूल्य नहीं होता है। अनुभव यह बताता है कि शासन का स्वरूप कोई भी क्यों न हो, राजनीतिक शक्ति अधिकतर उन लोगों के हाथों में केन्द्रित होती है जो आर्थिक रूप से शक्तिशाली होते हैं। राजनीतिक शक्ति को जनसाधारण में निहित रखने के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने सभी व्यक्तियों के लिए न्यूनतम आर्थिक स्तर की प्राप्ति की व्यवस्था करे। आर्थिक सुरक्षा से तात्पर्य निम्न रूप से है-

(i) **न्यूनतम जीवन-स्तर की उपलब्धि**-मनुष्य को अपने कार्य के बदले में इतना पारिश्रमिक अवश्य मिलना चाहिए कि उसके द्वारा न्यूनतम आर्थिक स्तर की प्राप्ति हो सके। क्राउथर का मत है कि, "नागरिकों के लिए अधिकार रूप में उन्हें स्वरूप बनाए रखने के लिए पर्याप्त भोजन की व्यवस्था की जानी चाहिए। निवास, वस्तु आदि के न्यूनतम जीवन-स्तर की ओर से उन्हें चिन्तारहित होना चाहिए। शिक्षा का उन्हें पूर्णतया समान अवसर प्राप्त होना चाहिए तथा बेरोजगारी, बीमारी तथा वृद्धावस्था के दु:ख से उसकी उतनी सुरक्षा की जानी चाहिए।" कल्याणकारी राज्य बेन्थम की इस धारणा, "अधिक व्यक्तियों का अधिकतम सुख" पर आधारित है।

(ii) **सभी व्यक्तियों को रोजगार**-शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से उचित कार्य करने की क्षमता रखने वाले व्यक्तियों को राज्य के द्वारा उनकी योग्यतानुसार उन्हें किसी-न-किसी प्रकार का कार्य अवश्य ही दिया जाना चाहिए अन्यथा वे आर्थिक रूप से परेशान होंगे। राज्य के द्वारा बेरोजगारों को बेरोजगारी भत्ता दिया जाना चाहिए तथा उनके लिए बेरोजगार बीमे की भी व्यवस्था होनी चाहिए।

(iii) **अधिकतम समानता की स्थापना** - सम्पत्ति तथा आय की पूर्ण समानता न सम्भव है और न ही वांछनीय। अत: प्रयास यह हो कि व्यक्तियों की आयु में न्यूनतम तथा अधिकतम स्तर में अत्यधिक अन्तर नहीं

होना चाहिए। कोई भी व्यक्ति अपनी सुदृढ़ आर्थिक स्थिति के आधार पर किसी दूसरे व्यक्ति का शोषण न कर सके।

(iv) **नियन्त्रित आर्थिक स्वतन्त्रता**-निरंकुश आर्थिक स्वतन्त्रता के स्थान पर कल्याणकारी राज्य के सदस्य एक नियन्त्रित आर्थिक स्वतन्त्रता का जीवन व्यतीत करने के अभ्यस्त बनें।

NOTES

2. **राजनीतिक सुरक्षा** - कल्याणकारी राज्य के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वह व्यक्ति की राजनीतिक सुरक्षा की व्यवस्था करे जिससे व्यक्ति स्वयं राज्य के कल्याणकारी कार्यों में सक्रिय रूप से भाग लेकर सामान्य हित में अपनी व्यक्तिगत योग्यता भर वृद्धि करने में सहायक सिद्ध हो। इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि व्यक्ति को चाहिए कि अपना आचरण सामान्य इच्छा के अनुकूल रखकर अपने को उसके अधीन लाए तथापि उसे इस बात की स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वह उस सामान्य इच्छा के निर्माण में विचार अभिव्यक्ति, प्रचार तथा वैधानिक विरोध द्वारा अपना सहयोग प्रदान कर सके। यद्यपि लोकहित की साधना किसी फासीवादी अथवा साम्यवादी राज्य में भी हो सकती है तथा रूस अथवा साम्यवादी चीन जैसे साम्यवादी राज्यों में व्यापक कल्याण से सम्बन्धित कार्यों का सम्पादन हो रहा है तथापि यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वहाँ आर्थिक सुरक्षा की वेदी पर व्यक्ति को अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा व्यक्तित्व का व्यापक बलिदान करना पड़ता है।

(i) **नागरिक स्वतन्त्रताएँ** - राजनीतिक सुरक्षा के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नागरिक स्वतन्त्रता का वातावरण होना चाहिए। नागरिकों को विचार अभिव्यक्ति तथा राजनीतिक दलों के संगठन की स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए अन्यथा कल्याण की साधना नहीं हो सकती तथा कल्याण की साधना के बिना कल्याणकारी राज्य, आत्म के बिना शरीर के समान होगा।

(ii) **लोकतन्त्रीय शासन** - राजतन्त्र अधिनायकतन्त्र या कुलीनतन्त्र के अन्तर्गत व्यक्ति अपने विवेक के आधार पर राजनीतिक कर्त्तव्यों का सम्पादन करने में असमर्थ रहता है। कल्याणकारी राज्य में व्यक्ति की राजनीतिक हितों की साधना को भी आर्थिक हितों की साधना के समान ही समझा जाता है। अतः एक लोकतन्त्रीय शासन व्यवस्था वाला राज्य ही कल्याणकारी राज्य हो सकता है।

3. **राज्य के कार्यों में वृद्धि**- कल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त इस अवधारणा पर आधारित है कि राज्य उन सभी कार्यों का सम्पादन करे जो मानव के जीवन के विविध पदों का सर्वांगीण विकास करे। ऐसे राज्य में कानूनों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। जितनी कानूनों की संख्या में वृद्धि होगी उतना ही राज्य का क्षेत्र बढ़ता चला जाएगा। हॉब्सन के शब्दों में, "डॉक्टर, नर्स, शिक्षक, व्यापारी, उत्पादक, बीमा, कम्पनी के एजेण्ट, मकान बनाने वाले, रेलवे नियन्त्रक तथा अन्य सैकड़ों रूपों में कार्य किया जाना चाहिए।"

4. **अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना** - कल्याणकारी राज्य, अपने राज्य विशेष के हितों से ही सम्बन्धित न रहकर सम्पूर्ण मानवता के हितों से सम्बन्ध रखता है। इसका स्वरूप राष्ट्रीय नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय होता है। वैज्ञानिक प्रगति तथा राजनीतिक चेतना के विकास ने विश्व के सभी देशों को एक-दूसरे के अत्यधिक निकट ला दिया है। परिणामस्वरूप वर्तमान त्रस्त मानवता के मध्य अकेला राज्य अपना जीवन सुख-पूर्वक व्यतीत नहीं कर सकता है।

5. **कल्याण की भावना** - कल्याणकारी राज्य का कार्य कल्याण की भावना का विकास करना मात्र ही नहीं है वरन् यह उसका प्रमुख उत्तरदायित्व भी है। कल्याणकारी राज्य के अन्तर्गत समाज तथा राज्य में अभिन्न सम्बन्ध होता है। इसमें एक व्यक्ति का हित दूसरे व्यक्ति का हित होता है। इसलिए कल्याणकारी राज्य की सफलता के लिए देश के नागरिकों में सामुदायिक भावना का विकास होना चाहिए।

बोध प्रश्न

1. कल्याणकारी राज्य की अवधारणा बताइये?

....

....

....

2. कल्याणकारी राज्य की प्रमुख विशेषताएँ लिखो?

....

....

....

NOTES

10.6 कल्याणकारी राज्य के प्रमुख कार्य एवं समस्याएँ

परम्परागत विचारधारा राज्य के कार्यों को दो वर्गों-अनिवार्य एवं ऐच्छिक में विभाजित करने की रही है। यह मान्यता भी रही है कि अनिवार्य कार्य राज्य के अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए किए जाने आवश्यक है, ऐच्छिक कार्य राज्य की जनता के हित में है, परन्तु राज्य के द्वारा उनका किया जाना उस समय की विशेष परिस्थितियों और शासन के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। कल्याणकारी राज्य के प्रमुख कार्य निम्न प्रकार हैं-

1. **व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों और राज्य एवं व्यक्तियों के सम्बन्धों के नियन्त्रण की व्यवस्था-** राज्य व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों को नियन्त्रित करता है, राज्य कानूनों का निर्माण करता है। पुलिस और न्यायालय की सहायता से उन्हें कार्यरूप में परिणत करता है। वर्तमान समय में व्यक्ति एवं राज्य के सम्बन्धों को नियमित करना भी आवश्यक हो गया है। यह कार्य भी राज्य के द्वारा सम्पादित होता है।

2. **आन्तरिक सुव्यवस्था तथा विदेशी आक्रमणों से सुरक्षा-**यदि राज्य विदेशी आक्रमणों से अपनी भूमि और समाज की सुरक्षा करने की क्षमता नहीं रखता और आन्तरिक शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित करते हुए व्यक्तियों के जीवन की सुरक्षा का आश्वासन नहीं देता, तब वह उत्तम राज्य कहलाने का ही अधिकारी नहीं है। इस प्रकार यह कार्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

(i) इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए राज्य सेना और पुलिस की व्यवस्था करता है।

(ii) कुशल प्रशासनिक व्यवस्था तथा न्याय की व्यवस्था करता है।

(iii) उन कार्यों से सम्बन्धित व्यय को पूरा करने के लिए नागरिकों पर कर लगाता है।

3. **आर्थिक सुरक्षा सम्बन्धी कार्य -** यह सर्वमान्य धारणा है कि ऐसे सभी व्यक्तियों को जो शारीरिक और मानसिक दृष्टि से कार्य करने की क्षमता रखते हैं, राज्य के द्वारा उन्हें उनकी योग्यता के अनुसार किसी-न-किसी प्रकार का कार्य आवश्यक ही दिया जाना चाहिए। इसी प्रकार जो व्यक्ति किसी कारण से किसी भी प्रकार का कार्य करने में असमर्थ है या राज्य जिन्हें कार्य नहीं प्रदान कर सकता है उनके लिए राज्य द्वारा 'जीवन निर्वाह भत्ते' की व्यवस्था की जानी चाहिए। कल्याणकारी राज्य में यद्यपि आय की पूर्ण समानता स्थापित नहीं की जा सकती, लेकिन यथासम्भव व्यक्तियों की आय के न्यूनतम और अधिकतम स्तर में अधिक अन्तर नहीं होना चाहिए। आय की समानता ऐसी हो कि कोई भी व्यक्ति अपने धन के आधार पर दूसरे का शोषण न कर सके।

4. **कृषि, उद्योग तथा व्यापार का नियमन -** कल्याणकारी राज्य के दायित्व उसी राज्य के द्वारा पूरे किए जा सकते है, जो आर्थिक दृष्टि से पर्याप्त सम्पन्न हो। राज्य को समृद्ध होना चाहिए। इस प्रकार के राज्य द्वारा कृषि, उद्योग तथा व्यापार के नियमन एवं विकास का कार्य किया जाना चाहिए। राज्य को निम्न कार्य सम्पादित करने चाहिए-

(i) मुद्रा-निर्माण की व्यवस्था,

(ii) प्रामाणिक माप और तौल की व्यवस्था,

(iii) व्यवसायों का नियमन,

(iv) कृषकों की राजकोषीय सहायता की व्यवस्था,

(v) नहरों का निर्माण,

(vi) बीज वितरण के लिए गोदाम खोलना और कृषि सुधार,

(vii) जंगल आदि प्राकृतिक साधनों और सम्पत्ति की सुरक्षा, तथा

(viii) कृषि तथा उद्योगों के मध्य सन्तुलन।

5. **समाज सुधार** - राज्य मद्यपान व छुआछूत, जाति-व्यवस्था आदि परम्परागत सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के उपाय करे।

6. **सार्वजनिक सुरक्षा सम्बन्धी कार्य-लोक कल्याणकारी राज्य परिवहन** - संचार साधन, रेडियों, सिंचाई के साधन, बैंक, विद्युत-कृषि के वैज्ञानिक साधनों आदि की व्यवस्था से सम्बन्धित, सार्वजनिक सुविधा के कार्य करें। यद्यपि इन सुविधाओं के लिए राज्य द्वारा शुल्क प्राप्त किया जाता है किन्तु इन सुविधाओं का महत्त्व इस दृष्टि से है कि व्यक्ति अपने लिए इन साधनों की व्यवस्था नहीं कर सकता है।

7. **आमोद-प्रमोद की सुविधाएँ** - जनता को स्वस्थ्य मनोरंजन की सुविधाएँ प्रदान करने के लिए राज्य सार्वजनिक उद्यानों, क्रीड़ा-क्षेत्रों, सार्वजनिक तरण-तालों, सिनेमा गृहों, रंग-मंच, रेडियो, टेलीविजन आदि का प्रबन्ध करें।

8. **शिक्षा और स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्य** - कल्याणकारी राज्य व्यक्तियों के लिए उन सभी सुविधाओं की व्यवस्था करें जो उनके व्यक्तित्व के विकास हेतु आवश्यक हैं। राज्य शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना करे। राज्य द्वारा एक निश्चित स्तर तक शिक्षा को अनिवार्य तथा नि:शुल्क घोषित किया जाता है। राज्य औद्योगिक तथा प्राविधिक शिक्षा की व्यवस्था करता है तथा चिकित्सा गृहों तथा प्रसव-गृहों आदि की स्थापना करता है जिनका उपयोग जन साधारण नि:शुल्क कर सकते हैं।

9. **जनता के जीवन स्तर को ऊँचा उठाना-** कल्याणकारी राज्य के द्वारा ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि नागरिकों को अपने आपको स्वस्थ बनाए रखने के लिए पर्याप्त भोजन, वस्त्र, निवास, शिक्षा और स्वास्थ्य की सामान्य सुविधाएँ अवश्य प्राप्त हों। राज्य नागरिकों के जीवन स्तर को उत्तरोत्तर ऊँचा उठाने का प्रयत्न करें।

10. **अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र के कार्य** - कल्याणकारी राज्य अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र के अन्तर्गत युद्ध का नहीं वरन् अधिकाधिक राज्यों के साथ सद्भावना एवं सहयोग का मार्ग अपनाए।

11. **नागरिक स्वतन्त्रताओं की व्यवस्था** - राज्य अपने सभी नागरिकों को विचार अभिव्यक्ति, सम्मेलन, संगठन आदि की स्वतन्त्रता प्रदान करे।

उपर्युक्त विवेचन में कल्याणकारी राज्य के महत्वपूर्ण कार्य गिनाए गए हैं। वस्तुत: कल्याणकारी राज्य के इतने अधिक उत्तरदायित्व हैं कि सभी कर्त्तव्यों की सूची तैयार कर सकना सम्भव नहीं है। व्यक्ति के जीवन में राज्य का हस्तक्षेप कहाँ से प्रारम्भ हो और कहाँ पर समाप्त हो जाए, इस सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है।

वर्तमान समय में राज्य के अस्तित्व का यही आधार है कि वह नागरिकों की कितनी सेवा कर रहा है। राज्य लोक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर कार्य करना चाहते हैं, परन्तु उनके सामने कुछ ऐसी समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं जिसके परिणामस्वरूप वह पूर्ण रूप से कल्याणकारी कार्य नहीं कर पाते हैं। ऐसी कुछ प्रमुख समस्याओं का वर्णन निम्न प्रकार है-

1. **आर्थिक साधनों में कमी**-नागरिकों को अधिक-से-अधिक कल्याणकारी सेवाएँ प्रदान करने हेतु प्रचुर आर्थिक साधनों की आवश्यकता होती है। अधिकांश राज्यों में आर्थिक स्थिति वर्तमान में दुर्बल है अत: वे कुशलतापूर्वक कल्याणकारी योजनाओं का क्रियान्वयन नहीं कर पाते हैं। यही कारण है कि राज्य चाहते हुए भी नागरिकों की प्रचुर सहायता नहीं कर पाते हैं।

2. **नौकरशाही की समस्या**-कल्याणकारी राज्य के अधिकांश कार्य सरकारी कर्मचारीगण करते हैं। जन-कल्याण की अनेक महत्वपूर्ण योजनाओं को असफल बनाने का कार्य नौकरशाहों को होता है। प्रतिबद्ध नौकरशाही के अभाव में कल्याणकारी राज्य की गति मन्द हो जाती है।

3. **वैचारिक संघर्ष की समस्या** - वैचारिक दृष्टि से कल्याणकारी राज्य की धारणा व्यक्तिवाद तथा समाजवाद का मिश्रण है। दोनों विचारधाराओं में समन्वय स्थापित करके सन्तुलित मध्यम मार्ग पर चलना अत्यन्त दुष्कर है।

10.7 कल्याणकारी राज्य एवं समाज कार्य

NOTES

समाज कार्य की दृष्टि से कल्याणकारी राज्य को सर्वोत्तम माना जाता है क्योंकि इसका प्रमुख उद्देश्य ही कल्याण की भावना से प्रेरित होकर जनता के लिए कार्य करना है। सामान्यत: कल्याणकारी राज्य एक ऐसा आदर्श प्रतिमान है जिसमें राज्य लोगों के विस्तृत एवं सार्वभौम कल्याण को अपना उत्तरदायित्व समझता है इसीलिए कई बार इसका अर्थ 'राज्य द्वारा प्रदत्त कल्याण' (Welfare provided by the state) भी लगाया जाता है। अमेरिका में राज्य को कल्याणकारी राज्य इसी अर्थ में कहा जाता है। अनेक कल्याणकारी राज्य ऐसे भी हैं जिनमें नागरिकों को दी जाने वाली सामाजिक सुरक्षा का कार्य राज्य एवं स्वैच्छिक संगठन मिलकर करते हैं अथवा राज्य ऐसे कार्यों को स्वैच्छिक संगठनों को हस्तान्तरित कर देता है। कल्याणकारी राज्य का चाहे कोई भी रूप क्यों न हो, इसमें निश्चित रूप से समाज कार्य पर बल दिया जाता है।

समाज कार्य का उद्देश्य दलितों, वंचितों एवं अभावग्रस्त लोगों की सहायता करना है। कल्याणकारी राज्य का भी यही लक्ष्य होता है। उदाहरणार्थ, ब्रिटिश कल्याणकारी राज्य के तीन प्रमुख तत्व है-न्यूनतम स्तर (न्यूनतम आय सहित) की गारण्टी, असुरक्षा की स्थिति में सामाजिक सुरक्षा तथा उत्तम स्तर पर सेवाओं की उपलब्धता। इस प्रकार, कल्याणकारी राज्य वह अवधारणा है जिसमें सरकार नागरिकों के आर्थिक एवं सामाजिक कल्याण में वृद्धि हेतु निर्णायक भूमिका निभाती है। इसमें अवसरों की समानता, धन के न्यायसंगत वितरण तथा जो अच्छा जीवन व्यतीत करने में असमर्थ होते हैं उनके प्रति सार्वजनिक उत्तरदायित्व पर बल दिया जाता है। यह वही लक्ष्य हैं जो समाज कार्य के भी हैं।

इतना ही नहीं, समाज कार्य की भाँति आधुनिक कल्याणकारी राज्यों की क्रियाएँ दो प्रकार की होती हैं- वृद्धावस्था पेन्शन अथवा बेरोजगारी भत्ते के नकद भुगतान के रूप में तथा स्वास्थ्य सुविधाएँ उपलब्ध कराने की गारण्टी के रूप में। प्रथम प्रकार की क्रियाओं में राज्य अपने संसाधनों का प्रयोग काफी सीमा तक उन लोगों के लिए करता है जो अभावग्रस्त होते हैं। इसके लिए अभावग्रस्त की पहचान करने तथा धोखाधड़ी कम करने हेतु अधिकारीतन्त्र द्वारा नियन्त्रण रखने का भी प्रयास किया जाता है। कल्याणकारी राज्य का यह प्रतिरूप काफी सीमा तक अमेरिका का है। इसमें अधिकारीतन्त्र की धोखाधड़ी तथा अभावग्रस्त की सही पहचान न होने की सम्भावना अधिक होती है। दूसरा प्रतिमान यह है कि कल्याण कार्यों में अधिकारीतन्त्र को शामिल ही न किया जाए तथा सभी नागरिकों को समान रूप से कल्याणकारी योजनाओं का लाभ पहुँचाने का प्रयास किया जाए। इसके लिए ज्यादा संसाधनों की आवश्यकता होती है तथा अन्तत: बोझ नागरिकों पर ही पड़ता है। चूँकि सभी नागरिकों को कुछ-न-कुछ सुविधा मिलती है, इसलिए दूसरे प्रतिमान को भी लाभदायक माना गया है। परन्तु यह प्रतिमान विकासशील देशों के लिए उपयुक्त नहीं है। भारत जैसे विकासशील देश के लिए तो समाज कार्य का दायित्व सार्वजनिक एवं निजी दोनों क्षेत्रों का है इसीलिए भारत में निजी क्षेत्र को भी समाज सेवा में सम्मिलित किया जा रहा है।

10.8 समाज कल्याण एवं सामाजिक विधान

समाज कल्याण जनसंख्या के दुर्बल एवं पीड़ित वर्गों के लाभ के लिए किया जाने वाला एक विशेषीकृत कार्य है। इसके अन्तर्गत स्त्रियों, बच्चों, अपंगों, मानसिक रूप से विकारयुक्त लोगों एवं सामाजिक रूप से पीड़ित व्यक्तियों के कल्याण के लिए की जाने वाली सेवाओं का विशेष रूप से समावेश होता है। राज्य इन वर्गों को विशिष्ट सुविधाएँ उपलब्ध कराने का प्रयास तो करता ही है, साथ ही कमजोर वर्गों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने हेतु सामाजिक विधानों (अधिनियमों) का भी निर्माण किया जाता है। ऐसा माना जाता है कि सामाजिक विधान इन्हें सामाजिक सुरक्षा प्रदान करेंगे जिससे वे अपना कार्य भली-भाँति कर सकें। उदाहरणार्थ, नागरिक अधिकार संरक्षण अधिनियम, अनुसूचित जाति तथा जनजाति (अत्याचार निवारण अधिनियम), विकलांग व्यक्ति अधिनियम, शिशु दुग्ध विकल्प, दुग्धपान बोतल और शिशु आहार (उत्पादन, आपूर्ति और वितरण) अधिनियम, मातृत्व लाभ अधिनियम, न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, घरेलू हिंसा महिलाओं की सुरक्षा अधिनियम इत्यादि का लक्ष्य सम्बन्धित पक्षों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना ही है।

समाज कल्याण की दृष्टि से सामाजिक विधानों का अन्य महत्व यह है कि इनका प्रयोग समाज में व्याप्त कुरीतियों के लिए किया जाता है। उदाहरणार्थ, भारत में सती प्रथा को समाप्त करने हेतु 1929 में सती प्रथा निषेध

NOTES

अधिनियम पारित किया गया जो अब सती प्रथा (निरोधक) अधिनियम, 1987 (1998 का 3) के नाम से जाना जाता है। इस अधिनियम से सती प्रथा को समाप्त करने में काफी सीमा तक सफलता मिली है। इसी भाँति, भारत में बाल विवाह का प्रचलन रहा है जिसको समाप्त करने हेतु 1929 में बाल विवाह निरोधक अधिनियम पारित किया गया जो अब बाल विवाह निरोधक अधिनियम, 2006 (जनवरी, 2007 में अधिसूचित) के नाम से जाना जाता है। इस अधिनियम से बाल विवाह की प्रथा समाप्त तो नहीं हुई परन्तु यह इस कुरीति पर काफी सीमा तक अंकुश लगाने में सफल रहा। कुछ अधिनियम ऐसे भी हैं जो पारित होकर लागू तो हो गए परन्तु उनका वांछित प्रभाव सामने नहीं आ पाया। हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम; 1856 ऐसा ही एक अधिनियम है।

सामाजिक विधानों के बारे में यह तथ्य अत्यन्त उल्लेखनीय है कि सरकारी प्रयास होने के नाते बहुधा इनके वांछित एवं तत्काल प्रभाव सामने नहीं आते हैं। यदि समाज कल्याण अथवा सामाजिक कुरीतियों का निवारण विधानों से ही सम्भव होता, तो सरकार रातों-रात विधान बनाती और इनके लागू होते ही बंचितों को समाज कल्याण की गारण्टी मिल जाती अथवा सामाजिक कुरीति तत्काल प्रभाव से समाप्त हो जाती। यथार्थता में ऐसा नहीं होता है। किसी भी विधान की सफलता के लिए उसके पक्ष में स्वस्थ जनमत होना आवश्यक है। जनमत के अभाव में न तो जनता अधिनियमों को स्वीकार करती है और न ही अधिनियम स्वत: समस्या का समाधान कर देने में सक्षम होते हैं।

बोध प्रश्न

1. कल्याणकारी राज्य की प्रमुख समस्याएँ क्या हैं?

....

....

....

....

2. कल्याणकारी राज्य के प्रमुख कार्य क्या हैं?

....

....

....

10.9 भारत में सामाजिक विधान

प्रत्येक समाज में व्यक्तियों के व्यवहार को नियमित करने के लिए कुछ आदर्श नियम होते हैं जिन्हें हम अनेक श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, विविध प्रकार के कानून एक तरह से आदर्श नियम ही हैं। कुछ अधिनियम या कानून या आदर्श नियम समाज सुधार के लिए अथवा समाज में पाई जाने वाली विभिन्न कुरीतियों को समाप्त करने के लिए बनाए जाते हैं। इन्हीं अधिनियमों अथवा कानूनों को हम सामाजिक विधान कहते हैं। अत: सामाजिक विधानों का सीधा सम्बन्ध समाज सुधार से है।

वस्तुत: समाज में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं और इसी कारण कुछ प्रथाएँ एवं परम्पराएँ, जो पहले कभी उचित मानी जाती थीं, कुप्रथाएँ बन जाती हैं। समाज को सुचारु रूप से चलाने के लिए इन पर अंकुश लगाना अनिवार्य है तथा इसी उद्देश्य से बनाए गए अधिनियम सामाजिक विधान कहलाते हैं। अत: तात्कालिक सामाजिक समस्याओं को सुलझाने और सामाजिक विघटन को रोकने के उद्देश्य से राज्य द्वारा बनाए गए कानूनों को ही सामाजिक विधान कहा जाता है। मुख्यत: इन नियमों के निर्माण के पीछे दो उद्देश्य होते हैं-प्रथम, तात्कालिक उद्देश्य (सामाजिक बुराइयों पर प्रतिबन्ध तथा समाज का सुधार व कल्याण करना) तथा द्वितीय, भावी उद्देश्य (भविष्य में होने वाले समाज के विघटन को रोकना)। सामाजिक विधान व्यक्तिगत प्रयास या किसी समूह द्वारा उठाया गया सुधारात्मक कदम नहीं है, वरन् यह राजकीय शक्ति द्वारा उठाया गया सुनिश्चित एवं सुव्यवस्थित कदम है जिसका पालन करना उस समाज के सदस्यों के लिए अनिवार्य है।

10.9.1 सामाजिक विधान का अर्थ एवं परिभाषाएँ

सरल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सामाजिक विधान राज्य द्वारा बनाए गए वे नियम हैं जो सामाजिक कुरीतियों को दूर करने, सामाजिक विघटन को रोकने तथा समाज सुधार के अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करने के उद्देश्य से बनाए जाते हैं। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वह विधान, जिसका उद्देश्य समाज को परिवर्तित अथवा पुनर्संगठित करना होता है, सामाजिक विधान की श्रेणी में आ जाता है। भारत सरकार (Government of India) की दृष्टि में, "वर्तमान कानून एवं समाज की आवश्यकताओं के बीच जो खाई है उसको पाटने के लिए बनाए गए विधान सामाजिक विधान कहलाते हैं।"

आर. एन. सक्सेना (R. N. Saxena) ने सामाजिक विधान के बारे में लिखा है कि, "सामाजिक विधान और कानून का उद्देश्य समाज के उन समूहों को संरक्षण देना और उनकी सामाजिक व आर्थिक दशा सुधारना है जो लिंग तथा प्रजाति भेद, शारीरिक तथा मानसिक दोष और आर्थिक हीनता के कारण अपने लिए रहन-सहन एवं स्वास्थ्य का उत्तम स्तर प्राप्त नहीं कर सकते हैं।" इस प्रकार, सामाजिक विधानों में समाज सुधार, समाज परिवर्तन, सामाजिक समस्याओं का निराकरण आदि आते है। वस्तुत: सामाजिक विधान का सम्बन्ध सामाजिक बुराइयों को दूर करने, समाज सुधार द्वारा नियोजित परिवर्तन लाने, सामाजिक समस्याओं को दूर करने तथा समाज में उन समूहों को संरक्षण देने से है जो सामाजिक-आर्थिक कारणों से पिछड़े हुए हैं। सामाजिक न्याय स्थापित करने या सामाजिक संस्थाओं को अधिक तर्कसंगत आधार प्रदान करने के उद्देश्य से बनाए गए कानून ही सामाजिक विधान कहलाते हैं। सामाजिक विधान मुख्यत: चेतना और नए सामाजिक मानकों की प्रेरणा से बनाए जाते हैं। सामाजिक विधान मूलत: कानून को सामाजिक परिवर्तन का साधन मानकर चलते हैं।

सामान्य रूप से वर्तमान भारत के प्रचलित विवाह सम्बन्धी विधानों को दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है-प्रथम, ब्रिटिश शासनकाल के सामाजिक विधान और द्वितीय, स्वतन्त्रता के बाद बने सामाजिक विधान। विवाह से सम्बन्धित प्रमुख सामाजिक विधान इस प्रकार हैं-

10.9.2 ब्रिटिश काल के सामाजिक विधान

इस काल के सामाजिक विधानों की संख्या बहुत कम है, क्योंकि अंग्रेजी शासन समाज सुधार के प्रति उदासीन रहा है। अंग्रेजों की नीति भारत की सामाजिक व्यवस्था में कम से कम हस्तक्षेप करने की रही है। इस काल के सामाजिक विधानों के लिए भी प्रेरणा के स्रोत स्वयं भारतीय समाज के सुधारक ही रहे हैं, क्योंकि अपनी इच्छा से ब्रिटिश शासन ने कोई बड़ा प्रयास नहीं किया। इस काल के प्रयासों की प्रमुख उपलब्धि यह रही कि इनके माध्यम से सुधार की एक दिशा निश्चित हो गई और एक मजबूत पृष्ठभूमि तैयार हो गई जिसके आधार पर स्वतन्त्र भारत में हर पक्ष में सुधार का प्रयास किया गया और उनसे सम्बन्धित सामाजिक विधान बनाए गए। ब्रिटिश काल के प्रमुख विधान निम्नलिखित हैं-

1. **सती प्रथा निषेध अधिनियम, 1829** -भारतीय समाज में काफी समय से सती प्रथा का प्रचलन रहा है। भारत में मुसलमानों के आगमन के कारण इस प्रथा को और कठोर किया गया और इसीलिए यह प्रथा अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई। हिन्दू समाज में इसके नियम और कठोर हुए, यहाँ तक कि सती होना, जो पूर्व में इच्छा से था, अनिवार्य कर दिया गया, अर्थात् विधवा को बिना उसकी इच्छा के पति के साथ सती होना पड़ता था। कभी-कभी अबला स्त्रियों को नशा पिलाकर बेहोशी की हालत में पति की चिता में जला दिया जाता था और अगर कोई चिता की लपटों से बचकर भागने का प्रयास करती थी तो उसे लाठी व भालों का शिकार होना पड़ता था। स्त्रियों पर यह एक अमानुषिक अत्याचार था जिसे समाप्त करने की दृष्टि से राजा राममोहन राय ने प्रयास किए और उनके प्रयासों के परिणामस्वरूप 1829 ई. में उपर्युक्त विधान लागू किया गया। इसकी प्रमुख धारा यह थी कि "यदि कोई व्यक्ति प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से किसी विधवा स्त्री को सती होने के लिए प्रेरित या उत्तेजित करेगा या सहायता देगा, तो कानूनी रूप से यह दण्डनीय अपराध माना जाएगा।" कानून के प्रभाव और सुधारकों द्वारा जनमत तैयार कर लेने के बाद अब यह प्रथा बिल्कुल समाप्त हो गई है।

2. **हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1856** - सती प्रथा के समाप्ति के पश्चात् विधवा पुनर्विवाह की समस्या और भी अधिक गम्भीर हो गई। मध्यकालीन भारतीय समाज में विधवाओं के पुनर्विवाह पर पूर्णत:

रोक लगी थी। विधवाओं को अनेक प्रकार की हीनता और समस्याओं का सामना करना पड़ता था जिनके कारण उनका जीवन नरक तुल्य हो जाता था। यह निषेध मुख्यत: उच्च जातियों में अधिक प्रचलित था। इसमें विधवाएँ दो तरह से निर्योग्यता का शिकार होती थीं-(अ) वे पुनर्विवाह नहीं कर सकती थीं तथा (ब) उन्हें मृत पति की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं होता था। क्योंकि विधवाएँ संयुक्त परिवार में ही जीवन व्यतीत करती थीं, इसीलिए सम्पत्ति के बँटवारे की कोई सुविधा इन्हें नहीं थी। यह अधिनियम मुख्यत: पहली निर्योग्यता से सम्बन्धित है। उस समय के भारतीय सुधारकों और सुधार संस्थाओं के माध्यम से ब्रिटिश सरकार का ध्यान इस समस्या की ओर आकृष्ट किया गया। इनमें राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, 'आर्य समाज' और 'ब्रह्म समाज' के प्रयास उल्लेखनीय हैं। इन प्रयासों के परिणामस्वरूप इस समस्या के निदान के लिए अंग्रेजी शासन ने हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम; 1856 ई. में पारित किया और इसके द्वारा हिन्दू विधवा स्त्रियों को पुनर्विवाह का कानूनी अधिकार मिल गया तथा पुनर्विवाह में आने वाली अड़चनें दूर हो गईं। इसके प्रमुख प्रावधान अग्र प्रकार हैं-

(i) यदि किसी स्त्री का पति मृत हो गया हो तो उसका पुनर्विवाह वैध होगा,

(ii) इस पुनर्विवाह से उत्पन्न सन्तति पूर्णत: वैध होगी,

(iii) यदि पुनर्विवाह के समय विधवा नाबालिग है तथा पूर्व पति से उसका यौन संसर्ग नहीं हुआ है तो उसे पुनर्विवाह के लिए पिता, बड़े भाई, दादा या अन्य किसी नजदीकी पुरुष रिश्तेदार से अनुमति प्राप्त करना जरूरी है,

(iv) यदि विधवा बालिग है तथा पूर्व पति से यौन सम्बन्ध भी स्थापित हो चुका है तो केवल उसकी खुद की स्वीकृति ही पुनर्विवाह के लिए पर्याप्त है,

(v) पुनर्विवाह करने वाली विधवा को उसके पूर्व मृत पति की सम्पत्ति पर किसी भी प्रकार का अधिकार नहीं होगा जब तक कि पूर्व मृत पति वसीयतनामे में कोई स्पष्ट और विशिष्ट उल्लेख इस सम्बन्ध में न करे, तथा

(vi) यदि पूर्व मृत पति की सम्पत्ति पर वसीयत के अनुसार परिवार के अन्य सदस्यों से हुए समझौते के अनुसार उसे उस पर पूर्ण अधिकार मिल गया हो तो वह पुनर्विवाह के बाद भी उसकी अधिकारी रहेगी अर्थात् इस सन्दर्भ में पुनर्विवाह उसके इस अधिकार पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकेगा। यद्यपि हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम; 1856 ई. में पारित किया गया (अर्थात् इसे पारित किए 139-40 वर्ष हो गए हैं) तथापि आज विधवा पुनर्विवाह एक समस्या बनी हुई है क्योंकि इसके पक्ष में जनमत तैयार नहीं हो पाया है।

3. **ईसाई धर्म में परिवर्तित लोगों के लिए विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1866** -यह अधिनियम उन लोगों को विवाह-विच्छेद की सुविधा प्रदान करता है जो किसी भी कारण अपना धर्म छोड़कर ईसाई धर्म स्वीकार कर चुके थे और अपने इस धर्म-परिवर्तन के आधार पर अपने जीवनसाथी को छोड़ना चाहते थे। विवाह-विच्छेद होने के बाद वे पुन: नए सिरे से विवाह करने के लिए स्वतन्त्र होते थे।

4. **विशेष विवाह अधिनियम, 1872, 1923, 1954**-यह कानून सर्वप्रथम 1872 ई. में लागू किया गया और इसका आशय विवाह के धार्मिक प्रतिबन्धों का उन्मूलन करना था। इसके आधार पर उन लोगों को परस्पर विवाह करने की छूट प्रदान की गई थी जो किसी भी धर्म को नहीं मानते हैं। इसका 1923 ई. में संशोधन किया गया जिसके माध्यम से अन्तर्जातीय एवं अन्तर्धार्मिक विवाहों को भी स्वीकृति मिल गई। 1954 ई. में यह कानून नए सिरे से पारित किया गया, जो इससे पूर्व निर्मित 1872 ई. और 1923 ई. के कानूनों को पूर्णत: रद्द कर देता है। यह अधिनियम सभी भारतीय नागरिकों पर लागू होता है और इसका उद्देश्य विभिन्न धर्मावलम्बी वैवाहिक सम्बन्धों को मान्यता देना है। इसके तहत कोई भी हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई स्त्री-पुरुष परस्पर विवाह कर सकते हैं अर्थात् धर्म के आधार पर; विवाह करने पर कोई पाबन्दी नहीं है। इस कानून में एक विवाह के सिद्धान्त को अपनाया गया है तथा विवाह की कुछ शर्तें निर्धारित की गई है जोकि निम्न प्रकार हैं-

(i) विवाह के समय किसी भी पक्ष का जीवनसाथी (पति अथवा पत्नी) जीवित नहीं है,

(ii) दोनों में से कोई भी पागल नहीं है,

(iii) विवाह के समय वर की आयु कम-से-कम 21 वर्ष तथा वधू की आयु 18 वर्ष होनी अनिवार्य है,

(iv) वर-वधू का सम्बन्ध वर्जित सम्बन्धों की सूची (यह सूची अधिनियम में दी गई है) में न आता हो,

(v) विवाह के लिए जाति तथा धर्म का कोई बन्धन नहीं होगा, तथा

(vi) यदि विवाह ऐसे स्थान पर हो रहा है जो इस कानून के क्षेत्र से बाहर है तो दोनों पक्षों का भारतीय नागरिक एवं निवासी होना आवश्यक है। यह अधिनियम विवाह के ढंग तथा विवाह-विच्छेद के प्रावधान का भी विस्तृत उल्लेख करता है। दोनों पक्ष स्वेच्छा से तलाक प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु तलाक के समय विवाह को तीन वर्ष हो चुके होने चाहिए तथा दोनों पिछले एक वर्ष से अलग-अलग रह रहे होने चाहिए।

NOTES

5. **बाल विवाह निरोधक अधिनियम, 1929** - हमारे समाज में मुसलमानों के आगमन के साथ-साथ बाल विवाह की प्रथा प्रचलित हुई और इसके कई गम्भीर परिणाम भी समाज को भुगतने पड़े। प्राय: सभी समाज सुधारकों का ध्यान इस ओर गया। इस कुरीति की ओर शासन का ध्यान आकर्षित करने का श्रेय राजा राममोहन राय और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर को दिया जाता है। उनके प्रयत्नों से 1860 ई. में अंग्रेजी शासन ने पहला कानून पारित किया जिसमें विवाह के समय लड़की की आयु कम-से-कम दस वर्ष निर्धारित की गई। इसी सन्दर्भ में दूसरा कानून 1891 ई. में बनाया गया जिसमें कन्या की आयु 12 वर्ष निर्धारित की गई। रायसाहब हरविलास शारदा के प्रयासों से 1929 ई. में 'बाल विवाह निरोधक अधिनियम' पारित हुआ जिसे 'शारदा एक्ट' के नाम से भी जाना जाता है। यह कानून 1 अप्रैल, 1930 ई. को लागू हुआ और स्वतन्त्र भारत में भी इसे इसी रूप से स्वीकार कर लिया गया है। इस अधिनियम में बाल विवाह को एक दण्डनीय अपराध माना गया है तथा विवाह की आयु लड़के के लिए 18 वर्ष तथा लड़की के लिए 15 वर्ष निर्धारित की गई है।

6. **हिन्दू स्त्री का सम्पत्ति पर अधिकार अधिनियम, 1937** - हिन्दू स्त्रियों की आर्थिक स्थिति को सुधारने की दृष्टि से यह अधिनियम एक महत्वपूर्ण अधिनियम माना जाता है। 1937 ई. तक भारतीय समाज में विधवा स्त्रियों को सम्पत्ति सम्बन्धी कोई भी अधिकार प्राप्त नहीं थे जब तक कि पति विशेष रूप से वसीयत में इसका उल्लेख न करे। इस तरह उन विधवाओं, जो पुनर्विवाह नहीं करती थीं, के सामने जीवन-यापन एक समस्या बन जाती थी और प्राय: मृत पति अपने जीवन काल में इसके लिए कोई व्यवस्था नहीं कर पाते थे। इस तरह मृत पति की सम्पत्ति में हिन्दू विधवा के अधिकारों की निर्योग्यता को दूर करने के लिए 1937 ई. में यह महत्वपूर्ण अधिनियम पारित किया गया। इसके आधार पर हिन्दू स्त्री को उसके पति की सम्पत्ति पर महत्त्वपूर्ण अधिकार दिए गए हैं। इसकी मुख्य धाराएँ इस प्रकार हैं-

(i) दायभाग उत्तराधिकार प्रणाली के परिवारों में यदि पति वसीयत के बिना ही मर गया हो, तो उसकी विधवा को लड़कों के बराबर का हिस्सा मिलेगा,

(ii) अन्य नियमों में भी (मिताक्षरा परिवार) विधवा स्त्री या स्त्रियाँ प्रत्येक जीवित पुत्र के बराबर का हिस्सा प्राप्त कर सकेगी,

(iii) विवाहित पुत्र की मृत्यु यदि पिता से पूर्व हो गई हो, तो पुत्रवधू को अपने पति के हिस्से का उत्तराधिकार प्राप्त होगा, तथा

(iv) यह उत्तराधिकार सीमित है अर्थात् वह सम्पत्ति को अपने जीवनकाल में उपयोग में ला सकती है, परन्तु धार्मिक कर्त्तव्यों की पूर्ति के सिवाय (जैसे दान-पुण्य आदि) उस सम्पत्ति को न तो किसी को दे सकती है, न बेच सकती है और न ही गिरवी रख सकती है।

10.9.3 स्वतन्त्रता के पश्चात् बने सामाजिक विधान

1947 ई. में भारत स्वतन्त्र हुआ तथा राष्ट्रीय नेताओं ने कल्याणकारी राज्य की स्थापना के प्रयास तेज कर दिए। स्वतन्त्र भारत में हिन्दू विवाह और परिवार को प्रभावित करने वाले अनेक विधान पारित किए गए हैं जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं-

1. **हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955** - यह अधिनियम स्वतन्त्र भारत में विवाह के क्षेत्र में अपने आप में विशेष महत्त्व रखता है। इससे पहले हिन्दुओं में विवाह अनेक प्रकार के कानूनों से नियन्त्रित होते थे, जिस कारण इस क्षेत्र में अत्यन्त दुरूहता तथा अस्पष्टता थी। 'हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955' का उद्देश्य हिन्दू विवाह सम्बन्धी नियमों में संशोधन करना तथा एक विस्तृत एवं संहिताबद्ध अधिनियम बनाना रहा है। यह अधिनियम हिन्दू धर्म की परिभाषा बड़े विस्तृत अर्थ में देता है तथा यह हिन्दू धर्म के सभी मत-मतान्तरों के साथ-साथ बौद्ध, जैन तथा सिक्ख धर्म के लोगों पर भी लागू होता है। यह 18 मई, 1955 ई. को जम्मू-कश्मीर राज्य को छोड़कर, सारे भारत में लागू होता है तथा इसके साथ ही इस सम्बन्ध में बने पूर्व के कानून रद्द कर दिए गए हैं। इस अधिनियम को मुख्यत: चार उप-विभागों में विभक्त किया जा सकता है-(अ) विवाह की शर्तें, (ब) न्यायिक पृथक्करण, (स) विवाह-विच्छेद एवं (द) अन्य बातें। सभी भागों की सूक्ष्म धाराएँ भी व्यक्त की गई हैं।

2. **हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956** - यह अधिनियम हिन्दू स्त्री को सम्पत्ति पर व्यापक अधिकार प्रदान करता है। इसके पूर्व हिन्दू परिवारों में सम्पत्ति की दो वितरण प्रणालियाँ प्रचलित थीं-दायभाग और मिताक्षरा। परन्तु इस अधिनियम के पारित होने से इसके पूर्व के कानून रद्द हो गए हैं तथा स्त्रियों के सम्पत्ति सम्बन्धी सीमित अधिकार भी काफी व्यापक हो गए हैं। इस अधिनियम के अन्तर्गत उत्तराधिकार से सम्बन्धित दायभाग और मिताक्षरा के नियम समाप्त कर दिए गए हैं और समस्त हिन्दुओं के लिए एक-सा कानून बन गया है। स्त्री के सीमित अधिकारों को समाप्त कर उन्हें भी पूर्ण अधिकार प्रदान कर दिए गए हैं। स्त्रियों को पारिवारिक सम्पत्ति पर पुत्री, माता और पत्नी तीनों ही रूपों में अधिकार प्रदान किया गया है। इसमें पुत्री को पिता की सम्पत्ति पर लड़कों के ही समान हिस्सा, माता को पुत्र की सम्पत्ति में उसकी पत्नी व बच्चों के समान एक भाग और स्त्री को मृत पति की सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार मिल गया है।

3. **हिन्दू अवयस्कता एवं संरक्षक अधिनियम, 1956** - अंग्रेजी शासनकाल से पूर्व तथा अंग्रेजी शासनकाल में हमारा देश कई रियासतों में बँटा हुआ था और हर रियासत में अवयस्कता और संरक्षक के सम्बन्ध में अलग-अलग कानून थे। यह कानून निम्नलिखित तरीके से नाबालिग और उससे सम्बन्ध में व्यवस्था करता है-

(i) नाबालिग वह है जिसकी आयु 18 वर्ष से कम है,

(ii) स्वाभाविक रूप में पिता पहला और उसके बाद माता दूसरी संरक्षक होगी,

(iii) विवाहित नाबालिग लड़की का संरक्षक उसका पति होगा,

(iv) अवैध बच्चे की स्वाभाविक संरक्षक उसकी माँ होगी और उसके बाद उसका पिता होगा,

(v) पिता के साथ माँ को भी अधिकार होगा कि वसीयत द्वारा नाबालिग बच्चे का संरक्षक नियुक्त करे,

(vi) उपयुक्त प्रकार के संरक्षक को छोड़कर अन्य संरक्षक न्यायालयों द्वारा नियुक्त होंगे,

(vii) धर्म परिवर्तन, संन्यासी बन जाने पर या वानप्रस्थी व्यक्ति संरक्षक नहीं रह जाएगा,

(viii) स्वाभाविक संरक्षक को छोड़कर अन्य रिश्ते के संरक्षक (चाचा, ताऊ, दादा, मामा, नाना आदि) की व्यवस्था इस कानून से समाप्त होती है,

(ix) संरक्षक न्यायालय की आज्ञा के बिना नाबालिग की सम्पत्ति को न तो गिरवी रख सकता है, न बेच सकता है, न उपहार या पाँच वर्ष से ज्यादा के लिए पट्टे पर दे सकता है। यदि ऐसा किया जाता है तो नाबालिग की प्रार्थना पर न्यायालय उसे रद्द कर सकता है, तथा

(x) इस कानून के खण्ड 13 में स्पष्ट किया गया है कि न्यायालय द्वारा नियुक्त संरक्षक के सम्बन्ध में न्यायालय के सामने नाबालिग का कल्याण प्रमुख आधार होगा।

4. **हिन्दू गोद लेना एवं भरण पोषण अधिनियम, 1956**- यह अधिनियम हिन्दू समाज में गोद लेने तथा भरण-पोषण का अधिकार प्रदान करने से सम्बन्धित है। इसके अन्तर्गत भोजन, कपड़ा, रहन-सहन का अधिकार, शिक्षा, चिकित्सा सुविधा और अविवाहित का वैवाहिक खर्च भी शामिल होता है। इसे दो भागों में बाँटा जा सकता है-(अ) गोद लेना तथा (ब) भरण-पोषण। गोद लेने के कानून के अन्तर्गत कोई भी बालिग एवं सही मस्तिष्क का व्यक्ति अपनी पत्नी की राय से (यदि पत्नी ने संसार या धर्म न त्याग दिया हो या न्यायालय द्वारा पागल

न घोषित कर दी गई हो) कोई भी लड़के या लड़की को गोद ले सकता है। गोद ली गई लड़की या लड़के का सम्बन्ध अपने जन्म देने वाले माता-पिता और उस वंश से गोद लेने की तिथि से ही समाप्त हो जाता है तथा वह अपने गोद लेने वाले की सम्पत्ति का अधिकारी होता है। भरण-पोषण के कानून के अन्तर्गत प्रत्येक हिन्दू का यह कानूनी कर्त्तव्य है कि वह अपनी पत्नी, नाबालिग बच्चों, अविवाहित लड़कियों तथा वृद्ध माता-पिता का पालन-पोषण करे, चाहे उसके पास सम्पत्ति हो या न हो। अब व्यक्ति वृद्ध या रोगग्रस्त माता-पिता तथा सन्तान (पुत्र, पुत्री दोनों) और पत्नी के भरण-पोषण के लिए बाध्य है। 1946 ई. में 'हिन्दू विवाहित स्त्रियों के पृथक् निवास तथा भरण-पोषण अधिनियम' पारित किया गया था जिसमें भरण-पोषण की राशि तय करने की विस्तृत विवेचना की गई है। 1956 ई. का यह कानून उसे उसी रूप में स्वीकार करता है। आश्रितों के बारे में भरण-पोषण उत्तरदायित्व उनका है जो मृतक की सम्पत्ति के अधिकारी होंगे।

5. **दहेज निरोधक अधिनियम, 1961** - उन्नीसवीं शताब्दी से लेकर आज तक दहेज एक महत्वपूर्ण सामाजिक समस्या बनी हुई है। भारतीय समाज सुधारकों, विभिन्न संगठनों तथा अन्य समाज सेवी संस्थाओं द्वारा समय-समय पर दहेज के प्रति आवाज उठाई जाती रही है। अंग्रेजी शासनकाल में तो उसकी रोकथाम के लिए कोई भी अधिनियम पारित नहीं किया जा सका; परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् 1961 ई. में सरकार ने लोकसभा और राज्यसभा के सामने 'दहेज निरोधक विधेयक' प्रस्तुत किया। इस विधेयक की कुछ धाराओं पर दोनों सदनों में कुछ मतभेद पैदा हो गए थे। अत: 9 मई, 1961 ई. को दोनों सदनों की एक संयुक्त बैठक आमन्त्रित की गई। इसमें यह निर्णय किया गया कि विवाह के अवसर पर दिए गए उपहार दहेज नहीं माने जाएँगे परन्तु विवाह निश्चित करते समय कोई निश्चित उपहारों या उपहारों की मात्रा निश्चित करना अपराध है और वह दण्डनीय होगा तथा इस नियम का उल्लंघन कर जो भी उपहार या वस्तुएँ दी जाएँगी वह पत्नी की सम्पत्ति (Trust property) मानी जाएँगी, जो उसे या उसके उत्तराधिकारियों को प्राप्त होंगी। इस विधेयक को 22 मई, 1961 ई. को राष्ट्रपति की स्वीकृति मिली और 1 जुलाई, 1961 ई. से इसे सारे भारत में लागू कर दिया गया। यह कानून मुख्य रूप से दहेज माँगने और देने पर रोक लगाता है और ऐसा करने वालों के लिए दण्ड की व्यवस्था करता है। यदि कोई दहेज लेता है या देता है या लेने-देने में मदद करता है तो वह अपराधी है और उसे पाँच हजार रुपये जुर्माना और छह माह का कारावास या दोनों दण्ड दिए जा सकते हैं।

केन्द्रीय सरकार ने भी 1984 ई. में 'दहेज निरोधक (संशोधन) कानून' पारित किया जो 2 अक्टूबर 1985 ई. को लागू किया गया। इस संशोधन के अनुसार जुर्माने की राशि दस हजार रुपये और सजा की अवधि दो वर्ष की कर दी गई है। 1986 ई. में पुन: इसमें संशोधन किया गया और जुर्माने की राशि पन्द्रह हजार रुपये व सजा की अवधि पाँच वर्ष कर दी गई। साथ ही इसे गैर-जमानती अपराध बना दिया गया। इस अधिनियम के द्वारा दहेज मृत्युओं को 'भारतीय दण्ड संहिता' में सम्मिलित किया गया तथा इस अपराध के लिए सात वर्ष से लेकर आजीवन कारावास तक का दण्ड दिया जा सकता है।

10.9.4 सामाजिक विधानों का प्रभाव

सामाजिक विधानों का प्रभाव हिन्दू सामाजिक संगठन पर सबसे अधिक पड़ा है। इसके प्रभाव को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है-

1. **परिवार पर प्रभाव** - सामाजिक विधानों ने हिन्दू परिवार को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया है तथा कुछ विद्वानों के अनुसार इनसे परिवार में अस्थिरता आ गई है। विवाह जन्म-जन्मान्तर का मिलन न होकर एक सामाजिक समझौता बन गया है जिसे कभी भी तोड़ा जा सकता है। पुरुष की परिवार में स्थिति, विशेष रूप से कर्त्ता की स्थिति इनसे अत्यधिक प्रभावित हुई है, हिन्दू स्त्री की स्थिति में निश्चित रूप से सुधार हुआ है और सम्पत्ति में अधिकार मिल जाने के कारण परिवार में उसका महत्व बढ़ गया है। पत्नी को विवाह-विच्छेद के अधिकार प्राप्त हो गए हैं जिससे उसका शोषण कम हो। विधवा पुनर्विवाह को भी धीरे-धीरे मान्यता मिलती जा रही है, उसकी स्थिति अब पहले जैसी शोचनीय नहीं है और बाल विवाहों की समाप्ति से भी परिवार के स्वरूप में परिवर्तन आता जा रहा है।

2. **हिन्दू विवाह पर प्रभाव** - सामाजिक अधिनियमों ने हिन्दू विवाह को इतना अधिक प्रभावित किया है कि इससे सम्पूर्ण हिन्दू सामाजिक संगठन परिवर्तित हो गया है। सामाजिक विधानों के हिन्दू विवाह पर पड़ने वाले प्रमुख प्रभाव निम्नांकित हैं-

NOTES

(i) हिन्दुओं में एक विवाह का प्रचलन हुआ है तथा आज बहुविवाह (बहुपति अथवा बहुपत्नी) कानूनी रूप से अपराध हैं।

(ii) बाल विवाह लगभग समाप्त हो गए हैं।

(iii) हिन्दू विवाह का धार्मिक पक्ष कमजोर हो गया है और इसे सामाजिक समझौता समझा जाने लगा है।

(iv) अन्तर्जातीय एवं अन्तर्धार्मिक विवाहों को कानूनी रूप से मान्यता मिल गई है।

(v) सपिण्ड सम्बन्धों को स्पष्ट रूप से परिभाषित (पिता की ओर से पाँच पीढ़ी तक और माता की ओर से तीन पीढ़ी) कर दिया गया है।

(vi) पत्नी को भी कानूनी रूप से तलाक देने का अधिकार प्राप्त हो गया है।

(vii) विधवा पुनर्विवाह को मान्यता मिल गई है।

(viii) तलाक की दर में वृद्धि हो गई है।

3. **हिन्दू समाज पर सामान्य प्रभाव** - सामाजिक विधानों से केवल परिवार एवं विवाह की संस्थाएँ ही प्रभावित नही हुई हैं, अपितु सम्पूर्ण हिन्दू सामाजिक संगठन इससे प्रभावित हुआ है। हिन्दू समाज पर पड़ने वाले इनके प्रमुख प्रभाव निम्नलिखित हैं-

(i) इनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रभाव यह पड़ा है कि आज स्त्री व पुरुष को एक समान अधिकार (सम्पत्ति, गोद लेना, तलाक आदि) प्राप्त हो गए हैं तथा स्त्रियाँ अब पुरुषों की दासी मात्र नहीं रही हैं।

(ii) जीवन के हर क्षेत्र में पुरुष की प्रभुता समाप्त हो गई है। आज स्त्रियों को परिवार में ही नहीं अपितु जीवन के अन्य पहलुओं में भी समान अधिकार प्राप्त हैं। राजनीति तक में स्त्रियाँ पुरुषों से पीछे नहीं हैं।

(iii) हिन्दू समाज में बहुविवाह प्रथा का प्रचलन समाप्त हो गया है और इसमें स्त्रियों की स्थिति में सुधार हुआ है।

(iv) बाल विवाह पूरी तरह से समाप्त हो गए हैं तथा नगरों में महिला शिक्षा एवं नौकरी के अधिक अवसरों के कारण विलम्ब विवाह शुरू हो गए है। इससे हिन्दू परिवारों के आकार पर प्रभाव पड़ा है।

(v) स्त्री-पुरुष को संरक्षकता का समानाधिकार प्राप्त हो गया है क्योंकि अब माता-पिता दोनों ही बच्चों के संरक्षक हैं।

(vi) विधवा स्त्रियों की स्थिति में सुधार हुआ है तथा पुनर्विवाह का निषेध भी धीरे-धीरे समाप्त होता जा रहा है। सम्पत्ति में अधिकार मिल जाने के कारण केवल विधवा स्त्रियों की ही स्थिति में सुधार नहीं हुआ है, अपितु हिन्दू स्त्री की सामान्य स्थिति में भी सुधार हुआ है।

(vii) हिन्दू परिवार में अस्थायित्व बढ़ गया है तथा इस प्रकार इसके आधार को गहरी चोट पहुँची है।

(viii) अस्पृश्यता काफी सीमा तक समाप्त हो गई है यद्यपि जातिवाद की प्रवृत्ति अभी तक एक गम्भीर समस्या है।

(ix) इन विधानों के परिणामस्वरूप विवाह में अब जाति, धर्म, सम्प्रदाय आदि सभी बाधाएँ कानूनी रूप से समाप्त हो गई हैं।

बोध प्रश्न

1. हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 पर टिप्पणी लिखो?

....

....

....

2. सामाजिक विधानों का हिन्दू समाज पर प्रभाव लिखो?

....

....

....

NOTES

10.10 सारांश

प्रत्येक समाज में कुछ ऐसी कुरीतियाँ होती हैं जिन्हें समाज की स्वीकृति प्राप्त होती है जिन्हें प्रशासन भी सुधार नहीं सकता ऐसी कुरीतियो को सुधारने के लिए समाज सुधार किये जाते हैं समाज सुधार पूरे समाज में परिवर्तन नहीं करता बल्कि समाज में फैली कुरीतियों को दूर करता है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में कई धार्मिक व सामाजिक सुधार आंदोलन चलाए गए। जिससे मानव समाज में फैली संकीर्णता व संकुचितता दूर हुई। समाज कार्य में समस्याग्रस्त व्यक्तियों, समूहों को सेवा दी जाती है जबकि समाज सुधार सामाजिक कुरीतियों को दूर किया जाता है।

सामाजिक विकास द्वारा समाज उन्नत दिशा की ओर अग्रसर होता है तथा उसके संगठन प्रगतिशील होते हैं। सामाजिक विकास समाज के विभिन्न क्षेत्रों में एक साथ घटित होते हैं।

सामाजिक सुरक्षा द्वारा समाज के किसी संगठन के सदस्यों की आकस्मिक विपत्तियों से रक्षा करता है। भारत में प्राचीन काल से सामाजिक सुरक्षा का महत्व विद्यमान है।

10.11 शब्दावली

राज्य - एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करने वाले व्यक्तियों के प्रभुता-सम्पन्न राजनीतिक संगठन को हम राज्य कहते हैं।

कल्याणकारी राज्य - कल्याणकारी राज्य से अभिप्राय ऐसे राज्य से है जिसमें शक्ति का प्रयोग निश्चयपूर्वक साधारण आर्थिक व्यवस्था को इस प्रकार परिवर्तित करने के लिए किया जाता है कि सम्पत्ति का अधिक-से-अधिक उचित तथा न्यायपूर्ण वितरण हो सके।

सामाजिक विधान - वर्तमान कानून एवं समाज की आवश्यकताओं के बीच जो खाई है, उसको पाटने के लिए बनाए गए विधान सामाजिक विधान कहलाते हैं।

10.12 अभ्यास प्रश्न

दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. कल्याणकारी राज्य किसे कहते है? इसकी प्रमुख विशेषताएँ बताइए।
2. कल्याणकारी राज्य का अर्थ बताते हुए इसके कार्यों की विवेचना कीजिए।
3. सामाजिक विधान किसे कहते हैं? ब्रिटिश काल के प्रमुख सामाजिक विधानों की समीक्षा कीजिए।
4. सामाजिक विधान की परिभाषा लिखिए। स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत में पारित प्रमुख सामाजिक विधान बताइए।

लघुउत्तरीय प्रश्न

1. भारत में सामाजिक विधानों के प्रभाव पर टिप्पणी लिखिए।
2. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए-

   (अ) राज्य की अवधारणा

(ब) कल्याणकारी राज्य की समस्याएँ

(स) सामाजिक विधानों का हिन्दू समाज पर प्रभाव।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

NOTES

1. कल्याणकारी राज्य की प्रमुख विशेषताएँ कितनी हैं–

(अ) पाँच (ब) छः (स) सात (द) आठ

उत्तर 1. (अ)

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

Fairchild, H. P. (ed.), **Dictionary of Sociology,** London : Vision, 1958.

Garner, J. W., **Political Science and Government,** Calcutta : World Press, 1952.

Gillin, J. L. and Gillin, J. P., **Cultural Sociology,** Bombay : Orient Longman, 1993

Gisbert, P., Fundamentals of Sociology, New Delhi : Prentice-Hall of India, 1965.

MacIver, R. M. and Page, C. H., Society : **An Introductory Analysis,** London : Macmillan, 1949.

Roucek, J. S., **Social Control,** New York : Van Nostrand, 1978.

Weber, **Max** quoted in Alex Inkeles, **What is Sociology ?**, Englewood Cliffs, N.J. : Prentice-Hall, 1964.

●●●

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

अध्याय-11 सामाजिक सुधार, विकास और सुरक्षा
(SOCIAL REFORM, DEVELOPMENT AND SAFETY)

NOTES

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 समाज सुधार

11.3 समाज सुधार का अर्थ एवं परिभाषा

11.4 भारत में समाज सुधार

11.5 समाज कार्य एवं समाज सुधार में अन्तर

11.6 सामाजिक विकास

11.7 सामाजिक विकास के विभिन्न पहलू या क्षेत्र

11.8 सामाजिक विकास में सहायक कारक

11.9 सामाजिक सुरक्षा

11.10 सारांश

11.11 शब्दावली

11.12 अभ्यास प्रश्न

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

11.0 उद्देश्य

बहुत कम लेखकों ने समाज कार्य की सर्वमान्य परिभाषा दी है। अधिकांश विद्वान् इसके इतिहास, प्रक्रियाओं, लक्ष्यों तथा प्रकृति की ही विवेचना करते हैं। इसका परिणाम यह है कि अब भी अनेक देशों में 'समाज कार्य' शब्द का प्रयोग 'समाज कल्याण', 'समाज सेवा', 'समाज सुधार', 'सामाजिक विकास' अथवा 'सामाजिक सुरक्षा' जैसे शब्दों के समानार्थक रूप में किया जाता है अर्थात् इनमें कोई भेद नहीं किया जाता इसलिए समाज कार्य को इससे मिलती-जुलती इन अवधारणाओं से पृथक् करना आवश्यक है। इस इकाई का उद्देश्य समाज कार्य की इन अवधारणाओं को समझना तथा समाज कार्य से इनका भेद स्पष्ट करना है।

11.1 प्रस्तावना

सैद्धान्तिक व्यक्ति समाज कार्य संस्थाकरण एवं व्यवसायीकरण करके इसके क्षेत्र को सीमित कर देते हैं। समाज कार्य के क्षेत्र में काम करने वाले वैज्ञानिक इसकी प्रयोगसिद्ध परिभाषा देने का प्रयास करते हैं। इन अर्थों से समाज कार्य शब्द के बारे में न केवल भ्रम पैदा हो जाता है, अपितु इसे 'समाज कल्याण', 'समाज सेवा', 'समाज सुधार' जैसे शब्दों से अलग करना भी कठिन हो जाता है। वस्तुत: समाज सेवा का विषय-क्षेत्र इतना विस्तृत है कि इसमें समाज कल्याण, समाज सेवा, समाज सुधार, सामाजिक विकास, सामाजिक सुरक्षा इत्यादि सभी का समावेश होता है।

11.2 समाज सुधार

समाज कार्य से मिलती-जुलती एक अन्य अवधारणा समाज सुधार की है। प्रत्येक समाज में कुछ कुरीतियाँ

व्याप्त होती हैं। ये कुरीतियाँ न केवल परम्पराओं द्वारा स्वीकृत होती हैं, अपितु बहुधा इन्हें धार्मिक दृष्टि से भी उचित ठहराने का प्रयास किया जाता है इसीलिए इन कुरीतियों की जड़ें इतनी गहरी होती हैं कि इनमें परिवर्तन करना या इन्हें समाप्त करना काफी कठिन होता है। उदाहरणार्थ, भारतीय समाज में बाल विवाह, दहेज प्रथा, अस्पृश्यता आदि सामाजिक कुरीतियाँ हैं। सरकार ने इन्हें दूर करने के लिए कठोर अधिनियम बनाए हैं परन्तु यह आज भी भारतीय समाज में विद्यमान हैं। अभी तक इन कुरीतियों को दूर करने के सरकारी एवं गैर-सरकारी प्रयास सफल नहीं हो पाए हैं। ऐसा माना जाता है कि सामाजिक कुरीतियों को समाज सुधार द्वारा दूर किया जा सकता है। यह प्रयास संगठित रूप से होता है तथा इसके लिए समाज सुधार आन्दोलनों की भी आवश्यकता हो सकती है। समाज सुधार के विपरीत समाज कार्य हेतु किसी आन्दोलन की आवश्यकता नहीं होती है क्योंकि इसका उद्देश्य व्यक्तियों, समूहों एवं समुदायों को अपनी समस्याओं के समाधान हेतु सक्षम बनाना है।

11.3 समाज सुधार का अर्थ एवं परिभाषा

समाज सुधार का अर्थ समाज में व्याप्त कुरीतियों को दूर करना है। चूँकि कुरीतियों की जड़ें बहुत गहरी होती हैं इसलिए इन्हें दूर करना सरल नहीं होता है। इसके लिए सामूहिक प्रयास की आवश्यकता होती है ताकि व्यक्तियों की उस मानसिकता को बदला जा सके जो कुरीतियों को सही ठहराने का प्रयास करती है इसीलिए समाज सुधार हेतु सामान्यत: सामूहिक रूप से आन्दोलन चलाए जाते हैं। इन आन्दोलनों का उद्देश्य किसी सामाजिक कुरीति को समाप्त करना अथवा विशिष्ट (सामान्यत: निम्न एवं दलित) सामाजिक समूहों के उत्थान के लिए उन्हें विशेषाधिकार एवं विशेष सुविधाएँ दिलवाना है। ऐसे आन्दोलन खुले रूप में होते हैं और ऐच्छिक संगठनों का निर्माण करके एक विशेष प्रकार के जनमत को निर्मित करने का प्रयास करते हैं। सुधारात्मक आन्दोलनों का उद्देश्य सम्पूर्ण व्यवस्था में परिवर्तन करना नहीं होता है, अपितु इसके किसी एक भाग (जिसे अच्छा नहीं समझा जाता है अथवा जिससे कुरीति सम्बन्धित है) को परिवर्तित करना होता है।

11.4 भारत में समाज सुधार

1857 के स्वतन्त्रता संग्राम के पश्चात् भारत में धार्मिक और सामाजिक सुधारों की लहर-सी आ गई थी। इससे पूर्व ईसाई धर्म के बढ़ते प्रभाव के कारण हिन्दू धर्म के अनुयायी न केवल अपने आपको शक्तिहीन मानने लगे थे, अपितु मूर्तिपूजा, सती प्रथा, विधवा पुनर्विवाह सम्बन्धी निषेध, अस्पृश्यता, बाल-विवाह आदि समस्याओं ने भी हिन्दू समाज को निष्प्राण कर दिया था इसीलिए 19वीं शताब्दी भारतीय नवजागरण के काल के रूप में उभर कर सामने आई। पाश्चात्य शिक्षा के विस्तार से भारतीयों को पाश्चात्य विज्ञान, साहित्य एवं इतिहास का अध्ययन करने का अवसर मिला। इससे उनके मस्तिष्क से संकीर्णता तथा संकुचितता दूर हुई एवं उनका दृष्टिकोण विशाल एवं व्यापक हो गया। विभिन्न पाश्चात्य लेखकों ने प्राचीन भारतीय संस्कृति, साहित्य एवं कला के गुणगान के माध्यम से भारतीयों को अपनी प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति की महानता का ज्ञान कराया जिसके परिणामस्वरूप अनेक सुधारकों, सन्तों तथा विद्वानों ने हिन्दू धर्म के वास्तविक स्वरूप का विवेचन किया एवं धार्मिक तथा सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए अपनी आवाज बुलन्द की।

भारत में हुए सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आन्दोलन से सम्बन्धित प्रमुख तथ्य निम्नलिखित हैं-

1. राजा राममोहन राय को 'भारतीय पुनर्जागरण का जनक' कहा जाता है। उन्हें भारतीय राष्ट्रीयता का पैगम्बर एवं आधुनिक भारत का पिता भी कहा जाता है। राजा राममोहन राय ने कलकत्ता में 'वेदान्त कॉलेज' तथा डेविड हेयर के साथ मिलकर 'हिन्दू कॉलेज' की स्थापना की। राजा राममोहन राय ने 1828 ई. में कलकत्ता में 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की जिसका प्रमुख उद्देश्य था समाज में प्रचलित जाति के भेदभावों की समाप्ति, छुआछूत का अन्त, बाल-विवाह का प्रचलन एवं अन्धविश्वास तथा रूढ़िवादिता की समाप्ति करना था। 1866 ई. में केशवचन्द्र सेन ने ब्रह्म समाज आन्दोलन को पुन: स्वस्थ समाज सुधार आन्दोलन का प्रभावकारी उपकरण बनाया। केशवचन्द्र सेन ने ब्रह्म विद्यालय तथा संगीत सभा की स्थापना की तथा 'इण्डियन मिरर' नामक एक पत्रिका निकाली।

2. ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आन्दोलनों में महत्वपूर्ण स्थान है। वह संस्कृत के एक महान विद्वान् होने के साथ-साथ पाश्चात्य चिन्तन के सर्वोत्तम तत्वों से पूर्णरूप से जागरुक थे। 1856 ई. में विधवा पुनर्विवाह कानून पास कराने में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का महत्वपूर्ण योगदान था।

3. महाराष्ट्र में धार्मिक सुधार का कार्य परमहंस मण्डली ने किया, जिसकी स्थापना 1840 ई. में हुई थी एवं जिसका उद्देश्य जाति-प्रथा एवं मूर्ति-पूजा का विरोध था।

4. प्रार्थना समाज की स्थापना आत्माराम पाण्डुरंग ने बम्बई में की। आत्माराम पाण्डुरंग एवं महादेव गोविन्द रानाडे ने प्रार्थना समाज के माध्यम से महाराष्ट्र में समाज सुधार का कार्य प्रारम्भ किया।

NOTES

5. आर्य समाज की स्थापना स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 1875 ई. में बम्बई में की। दयानन्द सरस्वती का वास्तविक नाम मूलशंकर था। दयानन्द सरस्वती ने भारतीयों को 'वेदों की ओर लौट जाओ' (Back to Vedas) का नारा दिया।

6. रामकृष्ण मिशन की स्थापना स्वामी विवेकानन्द ने 1897 ई. में की। इस मिशन का नाम रामकृष्ण परमहंस के नाम पर रखा गया था। स्वामी विवेकानन्द का वास्तविक नाम नरेन्द्र दत्त था। विवेकानन्द ने 1893 ई. में शिकागो (अमेरिका) की विश्व धर्म संसद में भाग लिया था।

7. थियोसोफिकल सोसायटी की स्थापना न्यूयार्क (अमेरिका) में 1875 ई. में रूसी महिला एच. पी. ब्लावास्की एवं अमेरिकन कर्नल एच. एस. ऑलकाट ने की। भारत में थियोसोफिकल सोसायटी का मुख्यालय 1886 ई. में मद्रास के निकट अदयार में बनाया गया। भारत में थियोसोफिकल सोसायटी को लोकप्रिय एवं सफल बनाने का श्रेय श्रीमती एनी बीसेण्ट को है।

8. मुस्लिम सुधार आन्दोलन में कलकत्ता में 1863 ई. में स्थापित मुहम्मडन लिटरेरी सोसायटी का महत्वपूर्ण योगदान है। इस सोसायटी ने भारतीय मुसलमानों को पाश्चात्य शिक्षा तथा आधुनिक दृष्टिकोण अपनाने के लिए प्रेरित किया। सैयद अहमद बरेलवी के नेतृत्व में मुस्लिम नवयुवक मण्डल का गठन किया गया। वे वहाबी आन्दोलन के नेता भी थे। वहाबी आन्दोलन का मुख्य केन्द्र पटना था। कलकत्ता के खान बहादुर अब्दुल लतीफ के द्वारा 1863 ई. में स्थापित मुस्लिम साहित्यिक समाज ने मुस्लिम छात्रों के लिए अनेक स्कूल एवं कॉलेज खुलवाए। अहमदिया आन्दोलन भी उन्नीसवीं शताब्दी में प्रारम्भ किया जाने वाला एक उल्लेखनीय मुस्लिम आन्दोलन था जिसके प्रवर्तक मिर्जा गुलाम अहमद थे। 'अलीगढ़ आन्दोलन' की शुरुआत सर सैयद अहमद खाँ ने की थी। उनके नेतृत्व में उनके अनुयायियों ने अलीगढ़ में पहले मुस्लिम ऐंग्लो ओरियन्टल कॉलेज की स्थापना की जो बाद में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय बन गया।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समाज सुधार का सम्बन्ध सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करने अथवा विशिष्ट (सामान्यत: निम्न एवं दलित) सामाजिक समूहों के उत्थान के लिए उन्हें विशेषाधिकार एवं विशेष सुविधाएँ दिलवाने से है। समाज सुधार सामूहिक प्रयासों से ही सम्भव है। चूँकि समाज कार्य में भी सामूहिक क्रियाओं द्वारा रचनात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की योग्यता विकसित करने का प्रयास किया जाता है, इसलिए इसमें तथा समाज सुधार में भ्रम पैदा हो जाता है।

11.5 समाज कार्य एवं समाज सुधार में अन्तर

समाज कार्य एवं समाज सुधार दो भिन्न अवधारणाएँ हैं। समाज कार्य में समस्याग्रस्त व्यक्तियों, समूहों अथवा समुदायों को विशिष्ट सेवाएँ प्रदान की जाती हैं ताकि वे स्वयं समस्याओं का समाधान करने योग्य बन सकें। इसमें मुख्य रूप से केस वर्क का प्रयोग किया जाता है। समाज कार्य मुख्य रूप से सामाजिक संस्थाओं, विभागों या सम्बन्धित संगठनों जैसे चिकित्सालय, न्यायालय, विद्यालय, सुधार गृह, कारागार आदि में किया जाता है। इसके लिए किसी सामूहिक प्रयास या आन्दोलन की आवश्यकता नहीं होती है। इतना अवश्य है कि जो कार्यकर्ता इन विभागों में कार्य करते हैं उन्हें समाज कल्याण प्रशासन का ज्ञान होना आवश्यक है। समाज कल्याण प्रशासन सामाजिक नीति को समाज सेवाओं में बदलने की एक प्रक्रिया है।

समाज कार्य का उद्देश्य सामाजिक कुरीतियों को दूर करना न होकर अभावग्रस्त या समस्याग्रस्त व्यक्तियों, समूहों अथवा समुदायों को व्यावसायिक सेवा प्रदान करना है ताकि वे स्वयं अपनी समस्याओं का समाधान कर सकें। यह सेवाएँ समाज कार्यकर्ताओं द्वारा प्रदान की जाती हैं। फिर भी, वंचित एवं कमजोर वर्गों का सुधार समाज कार्य के विषय-क्षेत्र का ही एक अंग है। समाज सुधार का उद्देश्य सम्पूर्ण समुदाय के जीवन क्रम को परिवर्तित करना है, जबकि समाज कार्य का लक्ष्य वर्तमान प्रतिमानों में ही व्यक्तियों और समूहों की आवश्यकताओं को

पूरा करना है। समाज सुधार में सामाजिक संस्थाओं को परिवर्तित करने का प्रयास किया जाता है, जबकि समाज कार्य उस संकट से मुक्त कराता है जो एक सामाजिक ढाँचे में सक्रिय रूप से कार्य करते हुए व्यक्तियों तथा समूहों की असफलताओं से उत्पन्न होता है। समाज सुधार सामान्यत: किसी नेता के नेतृत्व में चलाए गए आन्दोलन द्वारा किया जाता है, जबकि समाज कार्य का कार्यभार व्यवसाय में प्रशिक्षित कार्यकर्ताओं के हाथ में होता है।

NOTES

11.6 सामाजिक विकास

सामाजिक विकास सामाजिक परिवर्तन का एक ऐसा स्वरूप है जिसमें उन्नत दिशा की ओर विभेदीकरण होता है और संगठनों के स्तर, कुशलता, स्वतन्त्रता तथा पारस्परिकता में वृद्धि होती है। विकास एक प्रकार से उन्नत दिशा (प्रगति) की ओर होने वाला परिवर्तन है। पानसियन (Ponsioen) के अनुसार, "विकास सामाजिक परिवर्तन में समुचित अर्थ वाला शब्द है। यह वृद्धि से सम्बन्धित है जो पहले से ही किसी वस्तु में गुप्तावस्था में विद्यमान होती है।" हेज (Hayes) के अनुसार, "सामाजिक विकास का अभिप्राय जीवन के प्रति अच्छे दृष्टिकोण का विकास आन्तरिक चेतना के विकास तथा समाज के सदस्यों द्वारा किन्हीं आधारभूत नैतिक सिद्धान्तों को स्वीकार करना है। जिन्सबर्ग (Ginsberg) के अनुसार, "समुदायों का विकास अपने सदस्यों की सामान्य आवश्यकताओं तथा आकाक्षाओं की पूर्ति के लिए होता है।" इस प्रकार, स्पष्ट है कि विकास से अभिप्राय सामाजिक परिवर्तन के उस स्वरूप से है जिसमें समाज उन्नत दिशा की ओर आगे बढ़ता है ताकि जनसाधारण की आवश्यकताओं एवं आकाक्षाओं की पूर्ति हो सके। इसके विभिन्न आयाम होते हैं जिनमें आर्थिक, राजनीतिक एवं पारिस्थितिकीय आयाम प्रमुख हैं।

11.6.1 सामाजिक विकास की प्रमुख विशेषताएँ

सामाजिक विकास की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

1. **मानवीय ज्ञान में वृद्धि** - सामाजिक विकास की एक प्रमुख विशेषता मानवीय ज्ञान में वृद्धि है क्योंकि जब समाज के अधिकांश सदस्यों में ज्ञान की वृद्धि हो जाती है तो समाज का विकास हो जाता है।

2. **प्राकृतिक शक्तियों पर मानवीय नियन्त्रण में वृद्धि** - सामाजिक विकास की दूसरी विशेषता प्राकृतिक शक्तियों पर मानवीय नियन्त्रण में वृद्धि है। जब व्यक्ति प्रकृति का दास न रहकर प्रौद्योगिक आविष्कारों के कारण उस पर नियन्त्रण पा लेता है तो समाज का विकास होता है।

3. **बाह्य तत्वों की मुख्य भूमिका** - उद्‌विकास के विपरीत, सामाजिक विकास में बाह्य तत्वों की मुख्य भूमिका होती है। अनुकूलन, भौगोलिक पर्यावरण, खनिज पदार्थों की प्रचुरता आदि विकास में सहायक ऐसे ही कुछ प्रमुख बाह्य तत्व हैं।

4. **मानवीय शक्तियों का समग्र विकास** - सामाजिक विकास केवल मात्र आर्थिक विकास न होकर मानवीय शक्तियों का समग्र विकास है क्योंकि इसमें जीवन के सभी पक्षों व समाज के सभी क्षेत्रों में विकास होता है।

5. **सार्वभौमिकता का अभाव** - सामाजिक विकास में सार्वभौमिकता का अभाव पाया जाता है क्योंकि एक तो इसकी गति एक जैसी नहीं होती और दूसरे प्रतिकूल परिस्थितियाँ कई बार विकास को अवरुद्ध कर देती हैं।

6. **विज्ञान व प्रौद्योगिकी पर आधारित** - सामाजिक विकास विज्ञान व प्रौद्योगिकी पर आधारित होता है। इसके परिणामस्वरूप श्रम विभाजन में वृद्धि होती है, संचार साधनों में भी वृद्धि होती है और संस्थाओं व समितियों की संख्या भी बढ़ जाती है।

11.6.2 सामाजिक विकास के सूचक

सामाजिक विकास के प्रमुख सूचक निम्न प्रकार हैं-

1. **आर्थिक नियोजन** - सामाजिक विकास का एक अन्य सूचक आर्थिक नियोजन है। यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि बिना आर्थिक विकास के सामाजिक विकास सम्भव नहीं है।

2. **सामाजिक नियोजन** - सामाजिक विकास को सामाजिक नियोजन का परिणाम माना जाता है। यदि किसी समाज में सामाजिक नियोजन पर बल दिया जा रहा है, तो इसे हम सामाजिक विकास का सूचक मान सकते हैं।

3. **नागरिकों का स्वास्थ्य** - सामाजिक विकास का एक प्रमुख सूचक अधिक-से-अधिक नागरिकों का शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से स्वस्थ होना है। नागरिकों के स्वास्थ्य (जन स्वास्थ्य) को औसत आयु में वृद्धि से मापा जा सकता है।

4. **सामाजिक समता** - समाज के सभी समूहों एवं वर्गों में आगे बढ़ने के समान अवसरों को भी सामाजिक विकास का सूचक माना जाता है। यदि समाज सामाजिक समता की ओर अग्रसर है, तो यह कहा जा सकता है कि उसका सामाजिक विकास हो रहा है।

5. **शिक्षा के समान अवसर** - शिक्षा सामाजिक विकास का प्रमुख अभिकरण है। विकास हेतु सभी नागरिकों को शिक्षा के समान अवसर दिए जाने आवश्यक है। यदि किसी समाज में विभिन्न वर्गों को शिक्षा के असमान अवसर उपलब्ध हैं तो इससे सामाजिक विकास अवरुद्ध होता है। शिक्षा शिक्षार्थियों में बहुत से ऐसे मार्ग खोल देती है जिससे उनकी उन्नति सम्भव होती है।

6. **जीवन-स्तर** - जीवन के स्तर को भी सामाजिक विकास का सूचक माना जाता है। यदि किसी देश के नागरिकों का जीवन-स्तर उच्च है तथा उनकी न्यूनतम आवश्यकताएँ सरलता से पूरी हो जाती हैं तो उसे विकसित देश कहा जा सकता है।

7. **सार्वजनिक सुरक्षा एवं कल्याण** - यदि देश में जनता की सुरक्षा एवं कल्याण की सार्वजनिक व्यवस्था नहीं है तो कुछ ही लोगों के कल्याण के बल पर देश विकास नहीं कर सकता। पराश्रितता व्यक्ति को पंगु एवं आत्महीन बना देती है। अत: सामाजिक सुरक्षा एवं कल्याण सामाजिक विकास के लिए आवश्यक है।

8. **संगठनों एवं संस्थाओं की मात्रा में वृद्धि** - किसी देश में जितने अधिक स्वैच्छिक संगठन होते हैं उसे सामाजिक दृष्टि से उतना ही विकसित कहा जाता है। आधुनिक युग में तो गैर-सरकारी संगठनों की विकास में महत्वपूर्ण भूमिका हो गई है इसीलिए स्वैच्छिक संगठनों के विकास को सामाजिक विकास का सूचक माना जाता है। इन संगठनों की कार्यक्षमता में वृद्धि से विकास को सुनिश्चित किया जा सकता है। इसी भाँति, संस्थाओं की मात्रा में वृद्धि भी सामाजिक विकास का सूचक है। संस्थाएँ सामाजिक संरचना में स्थायित्व प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

9. **स्वतन्त्रता** - स्वतन्त्रता को भी सामाजिक विकास का महत्वपूर्ण सूचक माना जाता है। सोचने-विचारने, पहल करने तथा स्वयं को अपनी इच्छानुसार किसी भी रूप में ढालने की स्वतन्त्रता सामाजिक विकास का सूचक है। नागरिकों को जितनी अधिक स्वतन्त्रता होगी, उतनी ही सामाजिक विकास की सम्भावना अधिक होती है।

10. **पारस्परिकता** - विभिन्न व्यक्तियों एवं समूहों में पारस्परिकता में वृद्धि को सामाजिक विकास का सूचक कहा गया है। पारस्परिकता के अभाव में विकास योजनाएँ अवरुद्ध होती हैं तथा उनका लाभ उन लोगों एवं समूहों तक नहीं पहुँच पाता जिनके लिए वे बनाई जाती हैं।

बोध प्रश्न

1. समाज कार्य व समाज सुधार में अंतर बताइए?

    ....

    ....

    ....

2. सामाजिक विकास के सूचक क्या हैं?

    ....

    ....

    ....

11.7 सामाजिक विकास के विभिन्न पहलू या क्षेत्र

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है तथा उसके सभी क्रियाकलाप समाज में ही होते हैं। वास्तव में व्यक्ति समाज पर और समाज व्यक्ति पर निर्भर है। जन्म के समय व्यक्ति नितान्त असहाय अवस्था में होता है किन्तु शनैः-शनैः व्यक्ति में सामाजिक गुणों का विकास अन्य व्यक्तियों के सहयोग से समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से होता है। व्यक्ति के समाजीकरण में सामाजिक विकास की प्रमुख भूमिका होती है तथा अनेक विद्वान् यह मानते हैं कि जैसा सामाजिक परिवेश व्यक्ति को मिलेगा वैसा ही व्यक्ति का व्यक्तित्व होगा। इसलिए कहा जा सकता है कि आर्थिक विकास की सबसे उपयुक्त तौल सामाजिक विकास ही है। सामाजिक विकास किसी एक क्षेत्र में न होकर अनेक क्षेत्रों में एक साथ घटित होने वाली प्रक्रिया है। सामाजिक विकास एक बृहत् प्रक्रिया है जिसके अनेक पहलू या क्षेत्र हैं। इसके प्रमुख पहलू निम्नलिखित हैं-

1. सामाजिक सम्बन्धों का विकास,
2. सामाजिक संस्थाओं का विकास,
3. सांस्कृतिक विकास,
4. आर्थिक विकास,
5. राजनीतिक विकास,
6. औद्योगिक व प्रौद्योगिक विकास,
7. व्यक्तित्व का विकास तथा
8. समग्र सामाजिक विकास।

11.8 सामाजिक विकास में सहायक कारक

सामाजिक विकास की प्रक्रिया सभी समाजों में एक समान रूप में क्रियाशील नहीं होती। वास्तव में, इसमें अनेक कारक सहायता प्रदान करते है जिनमें से प्रमुख अग्रांकित हैं-

1. **आर्थिक साधनों की प्रचुरता** - आर्थिक परिस्थितियाँ सामाजिक विकास को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। अवसरों की समानता, उच्च जीवन स्तर, खनिज पदार्थों की प्रचुरता आदि आर्थिक साधन सामाजिक विकास में सहायक कारक है तथा उनके अभाव में सामाजिक विकास अवरुद्ध हो जाता है।

2. **अनुकूल भौगोलिक पर्यावरण** - सामाजिक विकास के लिए भौगोलिक पर्यावरण का अनुकूल होना भी जरूरी है। अच्छी जलवायु, उपजाऊ भूमि, सिंचाई के पर्याप्त साधन आदि ऐसी अनुकूल परिस्थितियाँ हैं जो सामाजिक विकास की गति को तीव्र करती हैं।

3. **सरकारी नीति** - सरकार की नीति भी सामाजिक विकास में सहायक हो सकती है अथवा विकास की गति अवरुद्ध कर सकती है। अगर सरकार अधिक व्यावहारिक योजनाएँ बनाती हैं तथा ईमानदारी से इन्हें लागू करती है तो विकास होना निश्चित है।

4 **सामाजिक रोगों (बुराइयों) का उपचार** - किसी भी समाज में सामाजिक विकास तब तक नहीं हो सकता है जब तक कि उसमें व्याप्त रोगों का उपचार न हो सके। बेरोजगारी, निर्धनता, अपराध, बाल अपराध, भ्रष्टाचार इत्यादि रोगों का निदान किए बिना समाज का सर्वांगीण विकास सम्भव नहीं है।

5. **सामाजिक गतिशीलता** - सामाजिक विकास में सहायक अन्य एक कारक सामाजिक गतिशीलता है। अगर व्यक्ति को अपने गुणों व योग्यता के आधार पर गतिशीलता के अवसर प्राप्त होते हैं तो समाज में विकास की गति में वृद्धि होती है। गतिशीलता का अभाव समाज को स्थिरता प्रदान कर गतिहीन बना देता है।

उपर्युक्त कारकों के अतिरिक्त जनता में विकास हेतु जागरुकता का होना भी जरूरी है क्योंकि अगर जनता ही विकास नहीं चाहती तो सभी प्रकार के प्रयास बेकार हैं। कई बार शिक्षा का विस्तार भी सहायक कारक माना

जाता है क्योंकि इससे जनता विकास के प्रति अधिक जागरुक हो जाती है। अत: जनसहयोग व शिक्षा को भी सामाजिक विकास का सहायक कारक माना जा सकता है।

11.8.1 सामाजिक विकास को अवरुद्ध करने वाले कारक

सामाजिक विकास को अवरुद्ध करने अथवा इसमें बाधा डालने वाले प्रमुख कारक निम्नांकित हैं-

1. प्रतिकूल भौगोलिक परिस्थितियाँ,
2. प्रचुर मात्रा में साधनों का अभाव,
3. जनता में व्याप्त धार्मिक अन्धविश्वास,
4. जनता की विकास के प्रति उदासीनता,
5. शासक वर्ग की निरंकुशता अथवा सरकारी प्रयासों का अभाव,
6. स्वार्थपरता तथा व्यक्तिवादिता, तथा
7. जातिवाद, प्रजातिवाद, साम्प्रदायिकता, भ्रष्टाचार, बेरोजगारी व निर्धनता जैसी सामाजिक समस्याओं की व्यापकता।

11.8.2 समाज विकास तथा समाज कार्य में अन्तर

सामाजिक विकास तथा समाज कार्य एक नहीं है। समाज कार्य का उद्देश्य सम्पूर्ण समाज का विकास न कर केवल उन लोगों को सहायता एवं सेवा उपलब्ध कराना है जो विभिन्न प्रकार की समस्याओं से ग्रस्त हैं अथवा अभावग्रस्त हैं। सामाजिक विकास समाज कार्य से विस्तृत अवधारणा है। सामाजिक विकास को प्रोत्साहन देने अथवा अवरुद्ध करने वाले कारक समाज कार्य को प्रभावित करने वाले कारकों से पर्याप्त भिन्न होते हैं। सामाजिक विकास काफी सीमा तक सरकारी नीतियों पर निर्भर करता है, जबकि समाज कार्य समाज कल्याण एवं धार्मिक मान्यताओं पर आधारित होता है। चूँकि दोनों में जनसाधारण की आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं की पूर्ति करने का प्रयास किया जाता है इसलिए इनमें घनिष्ठ सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। फिर भी, दोनों को एक समझना उचित नहीं है।

11.9 सामाजिक सुरक्षा

सामाजिक सुरक्षा वह सुरक्षा है जो समाज द्वारा एक उपयुक्त संगठन के माध्यम से अपने सदस्यों की कार्यशक्ति को क्षति पहुँचाने तथा जीवन-स्तर को गिराने वाली आकस्मिक घटनाओं; जैसे-बीमारी, बेकारी, दुर्घटनाओं, औद्योगिक रोग, मातृत्व, बुढ़ापा, परिवार में जीविका कमाने वाले की मृत्यु आदि के विरुद्ध एक वांछित न्यूनतम जीवन स्तर प्रदान करने की दिशा में किया गया सामूहिक प्रयास है। सामाजिक सुरक्षा एक गतिशील धारणा है। इसका स्वरूप तथा क्षेत्र समय की गति के साथ-साथ परिवर्तित होता रहता है। अपनी शक्ति के अनुसार प्रत्येक समाज अपने सदस्यों के लिए सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था करता है। अत: कुछ देशों में सामाजिक सुरक्षा का अर्थ केवल आय सम्बन्धी सुरक्षा से है, जबकि अन्य देशों में इसके अन्तर्गत आय सुरक्षा, स्वास्थ्य व कल्याण सुरक्षा का सम्पूर्ण क्षेत्र सम्मिलित है और कुछ देशों में तो इसके अन्तर्गत आवास व्यवस्था भी सम्मिलित की जाती है।

11.9.1 सामाजिक सुरक्षा का अर्थ एवं परिभाषाएँ

सामाजिक सुरक्षा से अभिप्राय किसी संगठन के सदस्यों या किसी उपक्रम के कर्मचारियों की आकस्मिक विपत्तियों से रक्षा करना है। आधुनिक कल्याणकारी राज्यों में सामाजिक सुरक्षा एक अनिवार्य लक्षण होता जा रहा है। सामाजिक सुरक्षा से अभिप्राय व्यक्तियों को आकस्मिक विपत्तियों के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करना है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के अनुसार, "सामाजिक सुरक्षा वह सुरक्षा है जोकि समाज विशिष्ट संगठनों के द्वारा उन खतरों के विरुद्ध देता है जो उसके सदस्यों पर आक्रमण करते हैं।" मॉरिस स्टेक (Maurice Stack) के अनुसार, "सामाजिक

सुरक्षा से हम समाज के द्वारा आधुनिक जीवन की उन आकस्मिक विपत्तियों के विरुद्ध सुरक्षा के कार्यक्रमों को समझते हैं जिनके विरुद्ध व्यक्ति से स्वयं अपनी योग्यता व दूरदृष्टि के द्वारा अपने व अपने परिवार को बचाने की आशा नहीं की जाती जैसे बीमारी, बेरोजगारी, वृद्धावस्था, पराश्रितता, औद्योगिक दुर्घटनाएँ, अपंगता इत्यादि।" सर विलियम बेवरीज (Sir William Beveridge) के अनुसार, "सामाजिक सुरक्षा पाँच दैत्यों पर आक्रमण है अर्थात् आवश्यकता, रोग, अज्ञान, गन्दगी और बेकारी।" इस प्रकार स्पष्ट है कि सामाजिक सुरक्षा से अभिप्राय सदस्यों के आकस्मिक विपत्तियों के विरुद्ध रक्षा में सहायता प्रदान करना है।

11.9.2 सामाजिक सुरक्षा के तत्व

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के तत्वावधान में 1944 में फिलाडेल्फिया में 26वाँ सम्मेलन और 1951 में जेनेवा में 34वाँ सम्मेलन सम्पन्न हुआ। इन सम्मेलनों में सामाजिक सुरक्षा के निम्नलिखित तीन आवश्यक तत्व निर्धारित किए गए-

1. निरोधात्मक
   - (i) चिकित्सा की समुचित व्यवस्था, तथा
   - (ii) उन श्रमिकों को अतिरिक्त सहायता देना जिनके आश्रितों की संख्या अधिक है।
2. संविधान द्वारा सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था करना, तथा
3. सार्वजनिक तथा आंशिक रूप से सामाजिक सुरक्षा की प्रशासनिक व्यवस्था करना।

सम्पूर्ण देश की सामाजिक सुरक्षा में निम्न तीन तत्व होने अनिवार्य हैं-

1. **निरोधात्मक या उपचारात्मक चिकित्सा** - काम से अनैच्छिक आय की सम्पूर्ण अथवा आंशिक हानि की दशा में आय की पूर्ति के सम्बन्ध में सुरक्षा प्रदान की जानी चाहिए या जिन श्रमिकों के आश्रितों की संख्या अधिक है, उनको अतिरिक्त आय देने की व्यवस्था की जानी चाहिए।
2. **संविधान द्वारा व्यवस्था** - संविधान के आधार पर व्यक्तियों को कुछ अधिकार दिए जाने की व्यवस्था होनी चाहिए। साथ ही आर्थिक रूप में सार्वजनिक या स्वतन्त्र संगठनों पर कुछ उत्तरदायित्व भी सौंपे जाएँ।
3. **प्रशासन** - सामाजिक सुरक्षा का प्रशासन सार्वजनिक व स्वतन्त्र संघों द्वारा किया जाना चाहिए। इस प्रकार राष्ट्रीय सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था के अन्तर्गत वे सभी योजनाएँ आती है जो उपर्युक्त तीन शर्तों की पूर्ति करती हों। वर्तमान युग में कल्याणकारी राज्य के विचार उदय होने से इसका विस्तार समाज के सभी अंगों तक हो गया है। अत: राज्य, जो नागरिकों का एक संघ है और जो उनके कल्याण के लिए बनाया जाता है, का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह सामाजिक सुरक्षा का विकास करें। सामाजिक सुरक्षा की कोई भी योजना बनाते समय निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना चाहिए-
   1. रोजगार की सुरक्षा।
   2. उचित कार्य करने की दशाओं के सम्बन्ध में सुरक्षा।
   3. बेरोजगारी के समय न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति की सुरक्षा।
   4. दुर्घटना की स्थिति में पारिवारिक बीमे की सुविधा।
   5. अवकाश प्राप्ति के बाद पेन्शन अथवा आय प्राप्त करने की सुविधा।
   6. स्वास्थ्य सुविधाओं के प्रयोग की व्यवस्था।
   7. आत्म सुधार तथा मनोरंजन की सुविधा।

सामाजिक सुरक्षा के कारण व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत समस्याओं से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। वह समाज का सदस्य है तथा यदि उसे यह विश्वास हो जाता है कि उसकी सुरक्षा का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व समाज का है तो वह निष्ठापूर्वक अपने कार्य को करने का प्रयास करेगा।

11.9.3 सामाजिक सुरक्षा एवं समाज कार्य में अन्तर

सामाजिक सुरक्षा तथा समाज कार्य दो भिन्न अवधारणाएँ हैं। सामाजिक सुरक्षा का उद्देश्य क्षतिग्रस्त व्यक्ति को क्षतिपूर्ति करना, उसके पुरुत्थान का प्रयास करना, तथा उसको होने वाले खतरों की रोकथाम के लिए आवश्यक व्यवस्था करना है। इस प्रकार की सुरक्षा हेतु सामाजिक बीमा, सामाजिक सहायता, तथा सामाजिक सेवा जैसे उपायों को अपनाया जाता है। मनुष्य की दो अवस्थाएँ होती हैं, जब उसे दूसरों पर आश्रित रहना पड़ता है और सामाजिक सुरक्षा की आवश्यकता पड़ती है-बचपन, तथा वृद्धावस्था। इन दोनों अवस्थाओं के अतिरिक्त भी प्रौढ़ जीवन में वह अनेक प्रकार की कठिनाइयों से घिरा रहता है। इन कठिनाइयों से मुक्ति पाने के लिए सुरक्षा अनिवार्य मानी जाती है। सामाजिक सुरक्षा से राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि होती है, मानव शक्ति की रक्षा में सहायता मिलती है, सामाजिक जीवन सुरक्षित एवं सुखद बनता है, अनाथ बच्चों को अपनी शिक्षा जारी रखने में सहायता मिलती है, बेरोजगारी या काम छूटने की हालत में जीवन निश्चित रहता है तथा राष्ट्रीय समृद्धि में वृद्धि होती है। यह सामाजिक और राष्ट्रीय कर्त्तव्य की दृष्टि से भी अनिवार्य है। इससे मानव मूल्यों और अधिकारों की रक्षा भी की जा सकती है।

मॉरिस स्टेक (Maurice Stack) के अनुसार, "सुरक्षा से अभिप्राय समाज द्वारा दिए गए उन कार्यक्रमों से है जो आकस्मिक आपदाओं के समय काम देते हैं। ये आपदाएँ है-बीमारी, बेरोजगारी, वृद्धावस्था, औद्योगिक दुर्घटना और ऐसा अपंगीकरण भी इसी तरह व्यक्ति को अपनी और परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति के अयोग्य बना देता है। ऐसा अपंगीकरण कभी व्यक्ति की कल्पना में भी नहीं होता।" इस प्रकार की साधारण सुरक्षा की प्राप्ति जन सहायता, सामाजिक सुरक्षा, स्वास्थ्य की रोकथाम सम्बन्धी क्रियाओं तथा कल्याण सेवाओं द्वारा होती है। इस प्रकार की सेवाएँ वास्तव में बहुत से देशों में कल्याण क्षेत्र का बड़ा और महत्वपूर्ण भाग है।

सामाजिक सुरक्षा के विपरीत समाज कार्य एक सीमित अवधारणा है क्योंकि इसका सम्बन्ध समस्याग्रस्त या अभावग्रस्त व्यक्ति, समूह या समुदाय को व्यावसायिक सेवा प्रदान करना है। इसमें न तो किसी विशेष अवस्था में सहायता देने पर बल दिया जाता है और न ही सम्पूर्ण राष्ट्र की समृद्धि को बढ़ाने का प्रयास किया जाता है। सामाजिक सुरक्षा का सशक्त माध्यम सरकार है, जबकि समाज सेवा सरकारी, अर्द्ध-सरकारी एवं गैर-सरकारी स्वैच्छिक संगठनों द्वारा उपलब्ध कराई जा सकती है। दोनों का प्रशासन का स्वरूप अलग-अलग होता है। दोनों की मान्यताओं एवं सिद्धान्तों में भी अन्तर पाया जाता है। फिर भी, यह तथ्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि सामाजिक सुरक्षा को भी समाज कार्य के विषय-क्षेत्र के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है।

11.9.4 भारत में सामाजिक सुरक्षा

भारत में सामाजिक सुरक्षा पद्धति अति प्राचीन है। प्राचीन ग्रन्थों में सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था का वर्णन मिलता है। ईसा से पूर्व छठी शताब्दी में शुक्राचार्य ने इस व्यवस्था को अपनाया। कौटिल्य ने ईसा से पूर्व चतुर्थ शताब्दी में शुक्र-नीति में सामाजिक सुरक्षा के विविध नियमों का वर्णन किया था। शुक्राचार्य ने लिखा था कि मजदूरों को दिवस-काल में 3 घण्टे विश्राम मिलना चाहिए, यदि कार्य करते समय वे घायल हो जाएँ तो उनको हर्जाना दिया जाना चाहिए, उन्होंने छुट्टियों के नियम भी स्थायी किए थे। कार्य करते समय मृत्यु होने पर मृतक के आश्रित को प्रतिवर्ष के सेवा-काल के वेतन का 1/8 भाग हर्जाने के रूप में मिलना चाहिए। शुक्राचार्य ने राजा के लिए भी निर्देश दिया है कि प्रतिवर्ष के वेतन का 1/8 भाग पुरस्कार के रूप में मजदूर को देना चाहिए। इसको बोनस व्यवस्था कहा जा सकता है। शुक्राचार्य के अनुसार यदि कोई सेवक या कर्मचारी ने 40 वर्ष सेवा की है तो वह वेतन का आधा भाग पेन्शन के रूप में प्राप्त करने का अधिकारी है। शुक्राचार्य की भाँति कौटिल्य ने बहुत से नियम बनाए थे।

ब्रिटिश शासनकाल में भी सामाजिक सुरक्षा के लिए कुछ अधिनियम बनाए गए थे। परन्तु इन अधिनियमों का उस समय कोई उपयोग नहीं था, अधिकांश श्रमिक निर्धन, अशिक्षित होते थे तो इन विधानों को समझ भी नहीं पाते थे, उनकी स्थिति भी ऐसी नहीं थी कि वे सम्पन्न उद्योगपतियों पर मुकदमा चला पाते। अत: उस समय के बने विधान व्यवहार में नहीं आए। ब्रिटिश शासन की महत्वपूर्ण देन श्रमजीवी क्षतिपूर्ति अधिनियम है। इसको 1923 ई. में पारित किया गया था। प्राचीनकाल में सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था संयुक्त परिवार सामाजिक दान

NOTES

अथवा राज्य की सहायता के रूप में रही, लेकिन कोई निश्चित विधान नहीं था। समाज के कुछ सदस्यों ने व्यक्तिगत बीमा के रूप में सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था की हुई थी।

भारत में औद्योगीकरण के विकास के साथ-साथ ही सामाजिक सुरक्षा आवश्यकता को अनुभव किया गया। उस समय सरकारी कर्मचारियों को पेन्शन, प्रोविडेण्ट फण्ड आदि की व्यवस्था ब्रिटिश सरकार ने की थी। 1940 ई. तथा 1942 ई. में भारत के श्रम मन्त्रियों के सम्मेलन में यह तय किया गया कि मजदूरों के स्वास्थ्य से सम्बन्धित एक विशाल सामाजिक सुरक्षा की योजना तैयार की जाए। श्रम के शाही आयोग ने भी श्रमिकों की सुरक्षा के दृष्टिकोण से सुझाव दिया था कि गाँवों से उनका सम्बन्ध बना रहना चाहिए क्योंकि इसके द्वारा मजदूरों की आपत्तिकाल में सुरक्षा होती है।

बोध प्रश्न

1. सामाजिक विकास में सहायक कारक कौन से है?

   ....

   ....

   ....

2. सामाजिक सुरक्षा से आप क्या समझते है इसके प्रमुख तत्व बताइये?

   ....

   ....

   ....

वर्तमान युग में भारत में सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी कुछ अधिनियम बनाए गए है, जिनमें से प्रमुख निम्नांकित है-

1. श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम, 1923 - वर्तमान युग वैज्ञानिक युग है। इसमें मशीनीकरण का अधिक महत्व है। अत: औद्योगिक श्रमिकों के जीवन को प्रत्येक समय खतरा रहता है। इनका जीवन जोखिमपूर्ण है। पता नहीं उनके जीवन में किस समय क्या दुर्घटना हो जाए। श्रमिकों के जीवन को सुरक्षित करने के लिए श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम, 1923 पारित किया गया। इस अधिनियम को 1 जुलाई 1924 ई. में लागू किया गया। इस अधिनियम में 1926, 1929, 1933, 1937, 1938, 1939, 1942, 1946, 1959, 1962, 1976 ई. में संशोधन किए गए हैं। यह अधिनियम रेलवे, कारखानों, बागानों, खानों, मशीनों से चलने वाले वाहनों, निर्माण कार्यों पर लागू होता है, जहाँ 10 मजदूर तथा शक्ति या 50 मजदूर बिना शक्ति काम करते है, इसके क्षेत्र में है। इसमें वे कर्मचारी सम्मिलित नहीं जो दफ्तरों में कार्य करते है, सुरक्षा सेनाओं में हैं या 1000 रुपये से अधिक वेतन पाते हैं। यह बहुत आवश्यक है कि कारखानों में कार्य करते समय श्रमिकों की बात की ओर ध्यान दिया जाए कि श्रमिकों को दुर्घटनाओं के समय कुछ क्षतिपूर्ति मिलनी चाहिए लेकिन 1922 ई. तक इस सम्बन्ध में कोई विशेष प्रयास नहीं किए गए। यदि उस समय किसी श्रमिक की कार्य करते समय कोई दुर्घटना अथवा मृत्यु हो जाती थी तो वह स्वयं या उनके आश्रित क्षतिपूर्ति के लिए न्यायालय में मुकदमा दायर करते थे और यदि वे अपने प्रयास में सफल हो जाते थे तो श्रमिक या उसके आश्रित को क्षतिपूर्ति प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त हो जाता था। क्षतिपूर्ति उसी समय प्राप्त करने का अधिकार है जब दुर्घटना काम के अन्तर्गत तथा काम के दौरान हुई हो। इस सम्बन्ध में गौरी किंकर बनाम राधाकृष्ण काटन मिल का उदाहरण विस्मरणीय है। गौरी किंकर कारखाने में धागा जोड़ने का कार्य करता था। एक दिन वह दूसरे विभाग में चला गया और उसका वहाँ पर हाथ कुचल गया। इस सन्दर्भ में न्यायालय ने फैसला दिया कि वह दूसरे कार्य में हस्तक्षेप करने गया। अत: उसे क्षतिपूर्ति का अधिकार नहीं है। क्षतिपूर्ति अधिनियम का पालन राज्य के अन्तर्गत श्रमिक क्षतिपूर्ति आयुक्त द्वारा कराया जाता है। यह अधिनियम जम्मू कश्मीर को छोड़कर समस्त भारत में लागू होता है। जिन कर्मचारियों का वेतन 400 रुपये मासिक से अधिक है उन पर यह लागू होता है। यदि श्रमिक के कार्य करते समय किसी दुर्घटना से चोट लग जाए तो उसके स्वामी द्वारा क्षतिपूर्ति दी जाएगी। यदि चोट सात दिन से पहले ठीक होने वाली हो और जिसमें श्रमिक का दोष हो और मृत्यु न हो पाए तो उद्योगपति किसी प्रकार की क्षतिपूर्ति देने के लिए बाध्य नहीं है। अधिनियम सूची नं. 3 के अनुसार व्यावसायिक

रोग हो जाने पर भी श्रमिक को क्षतिपूर्ति का अधिकार होगा। क्षति की मात्रा चोट के प्रकार एवं श्रमिक की मासिक मजदूरी पर निर्भर होती है परन्तु ये क्षतिपूर्ति तभी मिलती है जब श्रमिक का कोई कसूर न हो और यह अदालत द्वारा निश्चित किया जाता है।

यह अधिनियम सेवायोजक तथा श्रमिक दोनों के लिए उपयोगी है। दोनों ही वर्ग सन्तुष्ट रहते है। श्रमिकों को यह विश्वास रहता है कि कोई भी दुर्घटना होने की दशा में उसको अथवा आश्रितों को क्षतिपूर्ति अवश्य मिल जाएगी। सेवायोजकों को लगन से कार्य करने वाले श्रमिक प्राप्त हो जाते हैं। सेवायोजक को इस बात का ज्ञान भी रहता है कि उसे क्षतिपूर्ति के रूप में कितनी धनराशि मिलेगी क्योंकि अधिनियम की सूचियों में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि किस दुर्घटना के लिए कितनी धनराशि क्षति के रूप में भुगतान करनी है।

2. **कर्मचारी भविष्य निधि अधिनियम, 1952** - यह अधिनियम 1952 ई. में लागू किया गया था। यह 1961 ई. में 64 प्रमुख उद्योगों के 12,000 संस्थानों में 2.9 मिलियन श्रमिकों पर लागू होता था। सितम्बर 1968 ई. को समाप्ति तक 119 उद्योगों के 43,000 संस्थानों में 5.3 मिलियन श्रमिकों पर लागू हो गया है। इन उद्योगों के अन्तर्गत बागान, सड़क, मोटर परिवहन, खानें, दियासलाई के कारखाने आदि विशेष हैं। 30 जून, 1979 ई. से यह 156 उद्योगों में लागू था। 1960 ई. में एक संशोधन के द्वारा यह उन संस्थानों पर भी लागू किया गया जिनमें 20 या अधिक व्यक्ति काम करते हों। यह उन श्रमिकों पर भी लागू होता है जो 3 वर्ष से अधिक काम कर रहे हों। इस अधिनियम के अनुसार उन कर्मचारियों को अनिवार्यत: चन्दा देना पड़ता है जिन्होंने निरन्तर एक वर्ष या कम-से कम 240 दिन तक कार्य किया है तथा जिनकी मासिक मजदूरी 1000 रुपये से ज्यादा नहीं है। यह उन संस्थानों पर लागू नहीं होता जो सहकारी संस्था अधिनियम 1912 ई. के अन्तर्गत पंजीकृत हैं, जिनमें 50 से कम श्रमिक कार्यरत हैं और जो बिना बिजली के चलते हैं। इस अधिनियम के अनुसार श्रमिक अपने वेतन में 6.5 प्रतिशत की दर से कटौती करता है और इसी दर से मिल मालिकों को भी फण्ड में जमा करना पड़ता है। इसके अन्तर्गत आने वाले 92 उद्योगों में चन्दे की दर में 8 प्रतिशत तक वृद्धि कर दी गई है। 1960 ई. में एक विशेष आश्रित कोष की स्थापना की गई जिससे इस प्रकार के संस्थानों से सेवानिवृत्त होने वाले सदस्यों को भविष्य निधि की राशि प्रदान करना था जो पूरा या आंशिक भविष्य निधि धन अदा नहीं कर पाते हैं। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में इस अधिनियम का अधिक विस्तार किया गया है।

अधिनियम का प्रशासन एक केन्द्रीय आयुक्त (कमिश्नर) और राज्य के आयुक्तों द्वारा किया जाता है। समस्त देश को 15 क्षेत्रों में विभक्त किया गया है। इनमें क्षेत्रीय कार्यालय है। इनके अतिरिक्त निरीक्षक हैं जो अधिनियम का पालन कराते हैं। यह अधिनियम जम्मू व कश्मीर को छोड़कर समस्त देश में लागू होता है।

1 अगस्त, 1976 ई. से भविष्य निधि के साथ बीमा की सुविधा भी जोड़ दी गई है। इस अधिनियम के अन्तर्गत कर्मचारी की मृत्यु होने पर उसके वारिसों को भविष्य निधि के राशि के अतिरिक्त और राशि भी दी जाएगी जो पिछले तीन वर्ष की भविष्य निधि की औसत राशि के बराबर होगी, लेकिन भविष्य निधि में 1,000 रुपये से कम धन नहीं होना चाहिए। 1 मार्च 1971 ई. से इस योजना के साथ पारिवारिक पेन्शन की व्यवस्था भी की गई है। इसमें सदस्यों को उनकी इच्छा से 1.6 मजदूरी देकर इस योजना में शामिल होने का अधिकार मिलता है। इसके बराबर ही अंशदान उद्योगपति और केन्द्रीय सरकार देती है।

3. **कोयला खानों की भविष्य निधि योजना** - यह योजना कोयला खान भविष्य निधि तथा बोनस स्कीम अधिनियम 1948 ई. के अन्तर्गत जम्मू व कश्मीर के अतिरिक्त सम्पूर्ण भारत की कोयला खानों पर लागू होती है। इस योजना में सेवायोजक और श्रमिक दोनों को कुल वेतन का 8% भाग देना होता है। यदि कर्मचारी की इच्छा है तो वह इस कोष में 8% तक अतिरिक्त योगदान कर सकते हैं। इस योजना में योगदान करने वाले व्यक्तियों को मकान बनाने, उपभोक्ता सहकारी समितियों के अंश खरीदने आदि के लिए अग्रिम अनुदान देने का प्रावधान है। जनवरी 1973 ई. में योजना में संशोधन किया गया। अब कर्मचारियों को उतने ही दिनों का बोनस दिया जाएगा जितने दिन वे उपस्थित रहेंगे। 31 दिसम्बर, 1976 ई. को इस योजना से देश में 635 कोयला खानों के कर्मचारी लाभान्वित थे।

4. **मृत सहायता कोष** - जनवरी 1963 ई. में एक मृत सहायता कोष की स्थापना की गई, इसमें गैर छूट प्राप्त संस्थानों के मृत कर्मचारियों तथा उनके उत्तराधिकारी को वित्तीय सहायता देने का प्रावधान रखा गया है। यह सहायता ऐसे उत्तराधिकारी के सदस्यों को दी जाती है जिनका वेतन मृत्यु के समय 500 रुपये प्रतिमाह से अधिक नहीं था।

NOTES

5. **मातृत्व लाभ** - महिला मजदूरों की सुरक्षा के दृष्टिकोण से यह एक सराहनीय अधिनियम था। कारखानों में कार्यरत महिला श्रमिकों के लिए सभी राज्यों में मातृत्व लाभ अर्थात् शिशु होने से पूर्व तथा उसके बाद में छुट्टी तथा अन्य सुविधाओं की व्यवस्था की गई है। प्रसूत काल में महिला को नौकरी से हटाया नहीं जा सकता, उससे कठिन कार्य भी नहीं कराया जा सकता। जब तक शिशु 15 माह का नहीं हो जाता, तब तक प्रतिदिन महिला को दो बार दूध पिलाने के लिए अवकाश दिया जाता है। इस सबके अतिरिक्त 25 रुपया दिया जाता है। सर्वप्रथम 1929 ई. में बम्बई राज्य ने मातृत्व लाभ अधिनियम स्वीकार दिया था। वर्तमान समय में सभी राज्यों में मातृत्व लाभ अधिनियम कार्यशील है, कुछ राज्यों व सभी नियमित कारखानों को, जो उनके अधिकार क्षेत्र में आते हैं, कार्यान्वित किया जाता है। कुछ राज्यों में यह केवल मौसमी कारखानों में ही लागू होता है। केन्द्रीय सरकार द्वारा दरों तथा लाभों में एकरूपता लाने के लिए 1961 ई. में मातृत्व लाभ अधिनियम पारित किया गया। इस समय यह अधिनियम समस्त कारखानों, खानों व बागानों में कार्यान्वित किया जाता है, अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग प्रावधान है।

उत्तर प्रदेश तथा उड़ीसा में यह प्रावधान है जहाँ 50 या अधिक महिला कार्यरत हैं अथवा 25 प्रतिशत महिला श्रमिक कार्य करती हैं, वहाँ पर शिशु गृहों की व्यवस्था होनी चाहिए। राजस्थान, उत्तर प्रदेश और मैसूर में गर्भपात होने पर 3 सप्ताह की छुट्टी की व्यवस्था है। पंजाब में भी कार्य करने के पश्चात् 42 दिन का लाभ गर्भपात होने की दशा में किया जाता है। पंजाब, उड़ीसा तथा मैसूर में प्रसूत काल में बीमार होने पर 1 माह का अतिरिक्त सवैतनिक अवकाश मिल सकता है। सभी अधिनियमों में प्रशासन का उत्तरदायित्व राज्य सरकारों के कारखानों के निरीक्षकों पर है। खदानों में खदान मुख्य निरीक्षक इसका पालन कराता है। कोयला खानों में कोयला खदान कल्याण कमिश्नर इन सब विधानों का पालन कराता है।

6. **कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948** - यह अधिनियम भारत में सामाजिक सुरक्षा का प्रथम प्रयास है। यह विधान जम्मू व कश्मीर को छोड़कर पूरे भारत में कार्यान्वित है। यह अधिनियम प्रारम्भ में केवल उन्हीं उद्योगों में लागू होता था जिनमें कम-से-कम 20 कर्मचारी काम करते हों और शक्ति का प्रयोग होता हो। इसमें 500 रुपये तक प्रतिमास वेतन प्राप्त करने वाले कर्मचारी आते थे, अब यह 1,000 रुपये तक प्रतिमास वेतन पाने वाले कर्मचारियों पर लागू होता है। यह कानून उन उद्योगों पर भी लागू होता है जिनमें 10 से 19 तक कर्मचारी कार्य करते हैं और वहाँ शक्ति का प्रयोग होता है अथवा बिना शक्ति प्रयोग के 20 श्रमिक काम करते हैं। इस कानून से लगभग 20 लाख औद्योगिक श्रमिकों को लाभ मिल रहा है। इस विधान में राज्य सरकारों को अधिकार मिला है कि वे चाहें तो इसे अपने राज्य में औद्योगिक, व्यापारिक, कृषि एवं अन्य संस्थानों पर भी लागू कर सकती है। इसके लिए उन्हें सबसे पहले केन्द्रीय सरकार की मान्यता लेना अनिवार्य होता है।

अधिनियम का प्रशासन एक स्वतन्त्र संगठन को सौंपा गया है जिसे कर्मचारी राज्य बीमा निगम कहते हैं। इसमें केवल 40 सदस्य हैं। यह संगठन राजकीय बोर्ड है जिसमें केन्द्रीय एवं राज्य सरकार, सेवायोजकों तथा श्रमिकों के भी प्रतिनिधि होंगे। इसका संचालन प्रबन्ध एक स्थायी समिति के हाथ में होता है। श्रमिक तथा मालिक दोनों के बराबर प्रतिनिधि होते हैं। इस मण्डल की अर्थव्यवस्था के लिए एक कर्मचारी राज्य बीमा फण्ड की स्थापना की गई है जो श्रमिकों और मालिकों के चन्दे से चलेगा। इसमें केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें भी सहायता प्रदान करेंगी। चन्दे की दरें आय के अनुसार निश्चित की गई हैं। इस अधिनियम के अन्तर्गत कर्मचारियों को कुछ अन्य सुविधाएँ भी दी गई हैं, जो इस प्रकार हैं-

(i) **बीमारी में सहायता** - जिन उद्योगों में यह योजना लागू है उन उद्योगों में काम करने वाले व्यक्तियों को बीमार पड़ने पर नगद सहायता दी जाती है। यह सहायता वर्ष के 365 दिनों में अधिक-से-अधिक 91 दिनों के लिए दी जा सकती है। यह धनराशि दैनिक मजदूरी की लगभग 50 प्रतिशत होती है। चिकित्सा निगम के दवाखाने में होती है। क्षय जैसे रोगों में यह सहायता 309 दिनों तक अतिरिक्त सहायता के रूप में दी जा सकती है। यह लाभ कुष्ट, कैंसर या मानसिक रोगों में भी दी जाती है। यह सहायता अवकाश के समय में भी दी जाती है। 1 अप्रैल 1976 ई. से परिवार कल्याण के आपरेशन के लिए तीन गुनी दर से बीमारी लाभ दिया जाता है।

(ii) **मातृत्व कालीन लाभ** - इस नियम के द्वारा स्त्री श्रमिकों को प्रसूतकालीन सहायता दी जाती है। यह सहायता महिला श्रमिकों को 75 पैसे प्रतिदिन की दर से अथवा बीमारी सहायता का दुगुना प्रदान किया जाए। यह सहायता 12 सप्ताहों के लिए दी जाती है जिसमें प्रसव के 6 सप्ताह बाद तक दी जाती है। गर्भावस्था में भी यह औषधि सम्बन्धी सुविधाएँ प्राप्त होती हैं।

(iii) **असमर्थता लाभ** - कारखाने में कार्य करते समय होने वाली दुर्घटना के कारण अथवा उस कारखाने से सम्बन्धित किसी रोग से ग्रस्त होने पर यदि कोई श्रमिक कार्य करने के अयोग्य हो जाता है तो उसे मण्डल द्वारा श्रमजीवी क्षतिपूर्ति नियम के अनुसार दी जाएगी।

(iv) **श्रमिकों पर आश्रित व्यक्तियों के लिए लाभ-** यदि कोई बीमाकृत श्रमिक कार्य करते हुए मृत्यु को प्राप्त हो जाए तो उसके आश्रितों को उन दरों और उस अवधि के लिए सहायता प्रदान की जाती है जो द्वितीय अनुसूची में दी गई है। यह लाभ राशि श्रमिक के आश्रितों, उसकी विधवा एवं बच्चों को वार्षिक वृत्ति के रूप में दी जाती है। यदि मृतक के पुत्र, पुत्री या विधवा न हो तो सहायता माता-पिता या अन्य आश्रितों को भी जा सकती है। लेकिन यह राशि कर्मचारी बीमा न्यायालय निश्चित करता है। मृत्यु की स्थिति में 100 रुपये अन्तिम संस्कार के लिए दिया जाता है।

(v) **औषधि व उपचार सम्बन्धी लाभ** - बीमा युक्त व्यक्ति या परिवार के सदस्यों को नियम द्वारा दी गई चिकित्सा का लाभ प्राप्त करने का उत्तराधिकार होता है। नियम द्वारा औषधालय, अस्पताल तथा डॉक्टरों की व्यवस्था की गई है। इनके द्वारा रोगियों का इलाज किया जाता है। कुछ चलते-फिरते औषधालय भी रखें जाएँगे जो रोगी व्यक्तियों का घर जाकर उनकी सेवा कर सकेंगे।

बोध प्रश्न

1. श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम पर टिप्पणी लिखिए?

....

....

....

2. मातृत्व अधिनियम से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

11.10 सारांश

कल्याणकारी राज्य वे होते है जिनमें व्यक्ति को राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक दृष्टि से संपूर्ण विकास किया जा सके। सभी को समान अवसर प्रदान कर उनके जीवन स्तर को ऊपर उठाना कल्याणकारी राज्य का प्रमुख कार्य होता है कल्याणकारी राज्य में सभी व्यक्तियों को आर्थिक सुरक्षा तथा राजनीति सुरक्षा प्रदान की जाती है। कल्याणकारी राज्य का मुख्य उद्देश्य जनता के लिए कार्य करता है अर्थात् यह समाजकार्य के लिए महत्वपूर्ण है। कल्याणकारी राज्यों द्वारा वृद्धों को पेंशन तथा सभी नागरिकों तक कल्याणकारी योजनाओं की जानकारी पहुँचाई जाती है।

सामाजिक विधान समाज सुधार के लिए होते हैं। समाज की कुप्रथाओं पर अंकुश लगाने के लिए सामाजिक विधानों का निर्माण किया जाता है। इन विधानों का प्रभाव परिवार, विवाह, समाज के प्रत्येक कार्य, व्यक्ति पर पड़ता है।

11.11 शब्दावली

समाज सुधार - समाज सुधार से अभिप्राय किसी सामाजिक कुरीति को समाप्त करना अथवा विशिष्ट सामाजिक समूहों (सामान्यत: निम्न एवं दलित) के उत्थान के लिए उन्हें विशेषाधिकार एवं विशेष सुविधाएँ दिलवाना है।

सामाजिक विकास - सामाजिक विकास का अभिप्राय जीवन के प्रति अच्छे दृष्टिकोण का विकास, आन्तरिक चेतना के विकास तथा समाज के सदस्यों द्वारा किन्हीं आधारभूत नैतिक सिद्धान्तों को स्वीकार करना है।

सामाजिक सुरक्षा - सामाजिक सुरक्षा वह सुरक्षा है जोकि समाज विशिष्ट संगठनों के द्वारा उन खतरों के विरुद्ध देता है जो उसके सदस्यों पर आक्रमण करते हैं।

NOTES

11.12 अभ्यास प्रश्न

दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. समाज कल्याण किसे कहते है? समाज कल्याण तथा समाज कार्य में अन्तर बताइए।
2. भारतीय समाज के सन्दर्भ में समाज कल्याण की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
3. समाज सेवा किसे कहते हैं? इसमें तथा समाज कार्य में अन्तर बताइए।
4. समाज सुधार का अर्थ बताइए तथा इसमें और समाज कार्य में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
5. सामाजिक विकास किसे कहते है? इसमें सहायक कारकों की विवेचना कीजिए।

लघुउत्तरीय प्रश्न

1. सामाजिक सुरक्षा की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
2. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए-

   (स) सामाजिक विकास के सूचक

   (द) सामाजिक विकास के विभिन्न पहलू या क्षेत्र।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सामाजिक विकास की प्रमुख विशेषताएँ है—

   (अ) छः (ब) सात (स) आठ (द) नौ

उत्तर 1. (अ)

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

Beveridge, Sir William, **Modern History Sourcebook : Social and Allied Services** (The Beveridge Report), 1942.

Cassedy, Harry M., **Social Security and Reconstruction in Canada**, Boston : Bruce Humphries, 1943.

Friedlander, W. A., **Intorduction to Social Welfare**, New York : Prentice-Hall Inc., 1955.

Girsberg, Morris, **The Idea of Progress : A Revaluation**, London : Methuen, 1953.

Hayes, E. C., **Introduction to the Study of Sociology,** New York : Appleton. 1918.

Maurice Stack, "The Meaning of Social Security" in Wilbur J. Cohen, William Haber (eds.), **Readings in Social Security,** New York : Prentice-Hall Inc., 1948.

Ponsioen, J. A., **National Development : A Sociological Contribution,** The Hague : Mouton, 1968.

●●●

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

अध्याय–12 सामाजिक आन्दोलन-समाजसुधार एवं समाजवाद (SOCIAL MOVEMENT- SOCIAL REFORM AND SOCIALISM)

NOTES

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.2 सामाजिक आन्दोलन की अवधारणा
12.3 सामाजिक आन्दोलन की प्रकृति
12.4 सामाजिक आन्दोलनों के विकास की अवस्थाएँ
12.5 भारत में समाज सुधार आन्दोलन
12.6 समाज सुधार एवं समाजवाद
12.7 समाजवाद की विशेषताएँ
12.8 समाजवादी राज्य के कार्य
12.9 सारांश
12.10 शब्दावली
12.11 अभ्यास प्रश्न
सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

12.0 उद्देश्य

समाज में सामंजस्य स्थापित करने के लिए भी परिवर्तन आवश्यक है। मैकाइवर एवं पेज (MacIver and Page) का कहना है कि "समाज परिवर्तनशील तथा गत्यात्मक दोनों है।" परिवर्तन के विभिन्न स्वरूप होते हैं। सामाजिक आन्दोलन भी इन स्वरूपों में से ही एक है। वृद्धि, संचय, उद्विकास, विकास, अवनति, पश्चाद्गमन, प्रगति, पतन, अपक्षय, अपकर्ष, अपह्रास, अनुकूलन, सामंजस्य, व्यवस्थापन, सात्मीकरण, समन्वय एवं उनके प्रतिवाद आदि इसके अन्य स्वरूप हैं। मैकाइवर तथा पेज ने सामाजिक आन्दोलन को सुस्थिर सतत परिवर्तन (Determinate continuous change) कहा है जिसका अर्थ विशिष्ट दिशा में होने वाला निरन्तर एवं निश्चित परिवर्तन है। इस इकाई में सामाजिक परिवर्तन एवं सामाजिक आन्दोलन की अवधारणाओं का स्पष्टीकरण करने का प्रयास किया गया है।

12.1 प्रस्तावना

सामाजिक परिवर्तन के विविध स्वरूपों में एक सामाजिक आन्दोलन है। सामाजिक वैज्ञानिकों (विशेष रूप से समाजशास्त्रियों एवं समाज कार्यकर्ताओं) द्वारा सामाजिक आन्दोलनों के अध्ययनों में रुचि लेना एक आधुनिक प्रघटना है। इसका प्रमुख कारण यह है कि सामाजिक आन्दोलनों का अध्ययन इतिहास का अधिकार-क्षेत्र माना जाता रहा है, अत: यह कार्य इतिहासकारों के लिए छोड़ दिया गया था। पिछले दो-तीन दशकों में विकसित और विकासशील देशों में सामाजिक आन्दोलनों के अध्ययनों में रुचि काफी बढ़ी है। वस्तुत: आज कोई भी सामाजिक विज्ञान सामाजिक आन्दोलनों के अध्ययन को अनदेखा नहीं कर सकता है।

12.2 सामाजिक आन्दोलन की अवधारणा

'आन्दोलन' तथा 'सामाजिक आन्दोलन' शब्दों का प्रयोग अत्यधिक विस्तृत रूप से किया गया है जिसके कारण कभी-कभी किसी भी प्रकार के सामूहिक व्यवहार को आन्दोलन की संज्ञा दे दी जाती है। उदाहरणार्थ, सामाजिक परिवर्तन लाने या इसको अवरुद्ध करने हेतु सामूहिक प्रयास को सामाजिक आन्दोलन कहा गया है। ऑक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी (Oxford English Dictionary) में सामाजिक आन्दोलन की परिभाषा इन शब्दों में दी गई है, "आन्दोलन किसी विशेष सामाजिक लक्ष्य की ओर बढ़ने या व्यक्तियों द्वारा की जाने वाली निरन्तर क्रियाओं अथवा प्रयासों का एक क्रम है।" अगर हम इस परिभाषा को स्वीकार कर लें तो समाजशास्त्र में सामाजिक आन्दोलन को किसी भी प्रकार के अन्य सामूहिक व्यवहार से पृथक् करना एक कठिन समस्या हो जाएगी। अत: समाजशास्त्रियों ने सामाजिक आन्दोलन शब्द की परिभाषा विशिष्ट शब्दों में दी है। ब्लमर (Blumer) के अनुसार, "सामाजिक आन्दोलनों को जीवन की एक नवीन व्यवस्था स्थापित करने का सामूहिक प्रयत्न कह सकते हैं।" होर्टन एवं हण्ट (Horton and Hunt) के अनुसार, "सामाजिक आन्दोलन समाज अथवा उसके सदस्यों में परिवर्तन लाने अथवा उसका विरोध करने का सामूहिक प्रयास है।"

मैरिल एवं एल्ड्रिज (Merrill and Eldredge) के अनुसार- "सामाजिक आन्दोलन रूढ़ियों में परिवर्तन के लिए अधिक या कम मात्रा में चेतन रूप से किए गए प्रयास हैं।" रोज (Rose) के अनुसार - "सामाजिक आन्दोलन सामाजिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए लोगों की एक बड़ी संख्या के एक अनौपचारिक संगठन को कहते हैं, जो अनेक व्यक्तियों के सामूहिक प्रयास से प्रभुतासम्पन्न संस्कृतिसंकुलों, संस्थाओं अथवा एक समाज के विशिष्ट वर्गों को संशोधित अथवा स्थानान्तरित करता है।" इसी भाँति, कैमरान (Cameron) के अनुसार, "सामाजिक आन्दोलन तब होते है जब एक बड़ी संख्या में लोग विद्यमान संस्कृति या सामाजिक व्यवस्था के किसी भाग को परिवर्तित करने अथवा उनके स्थान पर दूसरी को स्थापित करने के लिए एक साथ बँध जाते हैं।"

सामाजिक आन्दोलन की विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि यह सामाजिक संरचना अथवा व्यवस्था में परिवर्तन लाने या इसका विरोध करने का एक संगठित प्रयास है जोकि किसी सामान्य विचारधारा पर आधारित है। ब्लमर के अनुसार, विचारधारा सामाजिक आन्दोलन के जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यह उचित भी है क्योंकि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से सामाजिक आन्दोलन में एक तरफ विचारधारा से सम्बन्धित घटनाएँ, क्रियाएँ एवं अन्तर्क्रियाएँ तथा दूसरी तरफ इसके लक्ष्य (सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन) की ओर ध्यान दिया जाता है।

सामाजिक आन्दोलनों की विभिन्न परिभाषाओं से इसकी कुछ विशेषताएँ भी स्पष्ट होती हैं, जिनमें से प्रमुख अग्रलिखित हैं-

1. **सामाजिक परिवर्तन का एक स्वरूप** - सामाजिक आन्दोलन सामाजिक परिवर्तन का ही एक स्वरूप है क्योंकि इसका उद्देश्य सामान्यत: सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाना अथवा परिवर्तनों का विरोध करना है। इसमें हिस्सा लेने वाले व्यक्ति इसके लक्ष्यों के प्रति जागरुक होते हैं।

2. **सामूहिक क्रिया अथवा प्रयास** - सामाजिक आन्दोलन सामूहिक क्रिया अथवा प्रयास पर आधारित है अर्थात् इसमें लक्ष्य प्राप्ति के लिए सदस्यों को निरन्तर प्रयास करना पड़ता है। अकेला व्यक्ति आन्दोलन नहीं कर सकता।

3. **निश्चित लक्ष्य** -सामाजिक आन्दोलन निरुद्देश्य नहीं होते, अपितु इनका एक सुस्पष्ट लक्ष्य होता है, जिसे इसे समर्थन देने वाले लोग जानते हैं और इसी सामान्य लक्ष्य के कारण वे आपस में जुड़े हुए होते हैं।

4. **संगठन** - प्रत्येक सामाजिक आन्दोलन में संगठन का पाया जाना अनिवार्य है। वास्तव में, कोई भी आन्दोलन संगठन के बिना शुरू हो ही नहीं सकता। इतना अवश्य सम्भव है कि अपनी प्रारम्भिक अवस्थाओं में आन्दोलन इतना अधिक संगठित न हो, परन्तु जैसे-जैसे इसमें तेजी आती जाती है इसमें संगठन की मात्रा भी बढ़ जाती है। परिभाषा के अनुसार ही सामाजिक आन्दोलन व्यक्तियों द्वारा संगठित होकर किसी लक्ष्य की ओर बढ़ता है। यह संगठन अनौपचारिक अथवा औपचारिक दोनों रूपों में हो सकता है।

5. **सतत प्रक्रिया** - अधिकांश आन्दोलन यकायक विकसित नहीं होते, अपितु प्रारम्भ में अस्पष्ट होने के बावजूद बाद की अवस्थाओं में ये पूर्णत: स्पष्ट होते जाते हैं। अत: सामाजिक आन्दोलनों को सामान्यत: विकसित होने में काफी समय लगता है अर्थात् आन्दोलन काफी समय तक निरन्तर चलता रहता है।

6. **विचारधारा अथवा वैचारिकी** - प्रत्येक आन्दोलन के पीछे किसी न किसी प्रकार की विचारधारा होती है। वास्तव में, विचारधारा सामाजिक आन्दोलन का एक प्रमुख अंग है। ब्लमर ने विचारधारा को आन्दोलन के स्थायित्व तथा विकास के लिए अनिवार्य माना है। इस सामान्य विचारधारा के कारण ही विभिन्न लोग (जोकि इसे ठीक समझते हैं) इसका समर्थन करते हैं।

7. **संकट अथवा समस्या** - प्रत्येक आन्दोलन का प्रारम्भ किसी न किसी संकट अथवा समस्या के परिणामस्वरूप होता है। अधिकांश आन्दोलनों का कारण वर्तमान परिस्थिति होती है जिसे आन्दोलनकारी बदलना चाहते हैं। अगर कोई संकट या समस्यापूर्ण स्थिति ही न हो तो आन्दोलन के विकास के बारे में सोचना भी सम्भव नहीं है।

8. **क्रियात्मक स्थिति** - प्रत्येक आन्दोलन का एक क्रियात्मक पक्ष भी होता है जिसे आन्दोलनकर्ता निर्धारित करते हैं। यह सभाएँ आयोजित करने, विरोध दिवस मनाने, पम्पलेट तथा पोस्टर लगाने एवं बाँटने अथवा अधिक उग्र कार्यवाही करने (जैसे बसें या रेलें रोकने, सार्वजनिक स्थानों पर धरना देने या सार्वजनिक सम्पत्ति को नुकसान पहुँचाने) के रूप में हो सकता है। अधिकांश आन्दोलनों में किसी न किसी रूप में उग्र कार्यवाही की युक्ति पायी जाती है।

12.3 सामाजिक आन्दोलन की प्रकृति

सामाजिक आन्दोलन की प्रकृति के बारे में विद्वानों के विचारों में मतभेद है, क्योंकि कुछ लोग इसे सामाजिक परिवर्तन का एक स्वरूप समझते हैं तो कुछ इसे सामूहिक व्यवहार का क्षेत्र मानते हैं। कुछ विद्वान् अगर इसके आदर्शात्मक पक्ष पर बल देते है तो कुछ इसकी संरचना एवं मनोवैज्ञानिक पक्ष पर बल देने की बात करते हैं। कई बार इन्हें ऐच्छिक संगठन का एक भाग समझ लिया जाता है। इन्हें विविध प्रकार के क्षेत्रों से सम्बन्धित करने के कारण इनकी प्रकृति की विवेचना करना कठिन कार्य हो जाता है।

होर्टन एवं हण्ट (Horton and Hunt) ने सामाजिक आन्दोलनों की प्रकृति को स्पष्ट करते हुए अग्रलिखित तीन बातों पर बल दिया है-

1. **सामाजिक आन्दोलन संस्थाएँ नहीं हैं** - सामूहिक व्यवहार से सम्बन्धित होने के बावजूद सामाजिक आन्दोलनों एवं संस्थाओं की प्रकृति में अन्तर है। संस्थाओं में स्थायित्व पाया जाता है, इन्हें समाज की निरन्तरता के लिए अनिवार्य एवं मूल्यवान माना जाता है, जबकि आन्दोलन अस्थायी प्रकृति के होते हैं क्योंकि उद्देश्य की पूर्ति पश्चात् आन्दोलन समाप्त हो जाते हैं तथा कई बार संस्थाओं का विरोध करने वाले होते हैं। अत: उन्हें सामाजिक संस्थाओं से पृथक् रूप में समझा जाना चाहिए।

2. **सामाजिक आन्दोलन समितियाँ नहीं हैं** - दोनों में उद्देश्यों एवं अस्थायी प्रकृति में समानता के बावजूद सामाजिक आन्दोलन अपनी विशिष्ट विचारधारा, विकास, संगठन एवं कार्यविधि के आधार पर समितियों से भिन्न है। आन्दोलन की एक विशिष्ट विचारधारा होती है, जबकि समिति की नहीं। समिति का निर्माण किया जाता है, जबकि आन्दोलन में अनौपचारिक संगठन भी हो सकता है और कई बार तो आन्दोलन असंगठित होते हैं। इतना ही नहीं, समिति समाज द्वारा मान्यता प्राप्त विधि से ही अपने उद्देश्यों की पूर्ति करती है, जबकि आन्दोलनों में कई बार समाज-विरोधी कार्यवाही भी अपनायी जाती है। अत: आन्दोलन समितियाँ नहीं हैं।

3. **सामाजिक आन्दोलन दबाव एवं स्वार्थ समूह नहीं है** - यद्यपि सामाजिक आन्दोलन दबाव समूह या स्वार्थ समूह के रूप में कार्य कर सकता है, फिर भी ऐसा सदैव अनिवार्य नहीं है। दबाव एवं स्वार्थ समूहों की कार्यविधि उनके अपने हितों की पूर्ति के लिए ही होती है, परन्तु आन्दोलनों का उद्देश्य सार्वजनिक हित अथवा प्रचलित प्रतिमानों एवं मूल्यों को बदलना हो सकता है। अत: आन्दोलन दबाव एवं स्वार्थ समूह नहीं हैं। परन्तु आज यह भी नहीं कहा जा सकता है कि आन्दोलन सदैव सार्वजनिक हित में ही होते हैं, क्योंकि आजकल राजनीतिक दलों से सम्बन्धित होने के कारण, हो सकता है कि आन्दोलन कुछ अवसरवादियों के लिए अथवा समाज के एक

निश्चित वर्ग के लिए ही लाभदायक हों। कृषकों एवं जनजातियों में हुए अधिकांश आन्दोलनों से न तो उनकी समस्याएँ दूर हो पाई हैं और न ही विकास को कोई गति मिल पाई है।

12.4 सामाजिक आन्दोलनों के विकास की अवस्थाएँ

NOTES

सामाजिक आन्दोलन के विकास की अवस्थाएँ अथवा स्तर कौन-कौन से हैं? यह बताना भी एक कठिन कार्य है, क्योंकि आन्दोलनों की प्रकृति के आधार पर अवस्थाओं में थोड़ा बहुत अन्तर हो सकता है। डासन एवं गेटिस (Dawson and Gettys) ने सामाजिक आन्दोलनों की चार अवस्थाएँ बताई हैं-

1. सामाजिक असन्तोष (Social unrest),
2. जन उत्तेजना (Popular excitement),
3. औपचारिकीकरण (Formalization), तथा
4. संस्थाकरण (Institutionalization)

हरबर्ट ब्लमर (Herbert Blumer) ने सामाजिक आन्दोलनों की पाँच अवस्थाएँ बताई हैं-

1. उत्तेजना (Agitation),
2. निश्चित भावना का विकास (Development of espirit-de-corps),
3. मनोबल का विकास (Development of morale),
4. विचारधारा का निर्माण (The formation of an ideology), तथा
5. संचालन युक्तियों का विकास (The development of operational tactics)

होर्टन एवं हण्ट (Horton and Hunt) ने सामाजिक आन्दोलनों के विकास की अग्रलिखित पाँच अवस्थाएँ बताई हैं-

1. असन्तोष की अवस्था (The unrest stage),
2. उत्तेजनापूर्ण अवस्था (The excitement stage),
3. औपचारिकीकरण की अवस्था (The formalization stage),
4. संस्थाकरण की अवस्था (The institutionalization stage), तथा
5. समापन की अवस्था (The dissolution stage)

फैडरिको (Federico) ने सामाजिक आन्दोलनों की निम्नलिखित चार अवस्थाएँ बताई हैं-

1. प्रारम्भिक अवस्था (The incipient stage),
2. लोकगत अवस्था (The popular stage),
3. औपचारिक अवस्था (The formal stage), तथा
4. संस्थागत अवस्था (The institutional stage)।

इनसे हमें यह पता चलता है कि सामाजिक आन्दोलनों के विकास के विभिन्न स्तरों के बारे में विद्वानों के विचारों में अधिक अन्तर नहीं है। यहाँ पर हरबर्ट ब्लमर के विचारों की संक्षेप में निम्नलिखित व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है-

1. **उत्तेजना** - सामाजिक आन्दोलन के विकास का प्रथम स्तर समाज में प्रचलित किसी वर्तमान समस्या के प्रति सदस्यों में प्रचलित असन्तोष की भावना ही सदस्यों में उत्तेजना विकसित कर देती है। यद्यपि आन्दोलन में हिस्सा लेने वाले कुछ व्यक्ति शान्त स्वभाव के होते हैं, परन्तु फिर भी उतेजना आन्दोलन को समर्थन देने वाले व्यक्तियों को परस्पर नजदीक ला देती है।

2. **निश्चित भावना का विकास** - आन्दोलन के विकास की इस दूसरी अवस्था में आन्दोलन के बारे में निश्चित भावना एवं सिद्धान्तों का गठन किया जाता है। यह संघ-भावना आन्दोलनकारियों को एक दूसरे के और अधिक नजदीक लाने के लिए अनिवार्य है।

3. **मनोबल का विकास** - आन्दोलन के विकास की तीसरी अवस्था में आन्दोलनकारियों का मनोबल अधिक दृढ़ और निश्चित हो जाता है। मनोबल का विकास आन्दोलन के लिए अनिवार्य है। अगर समर्थनकर्ताओं में यह भावना विकसित हो जाए कि आन्दोलन का उद्देश्य पवित्र है तथा इससे अन्याय दूर होगा तो आन्दोलन का सफल होना प्राय: निश्चित हो जाता है।

4. **विचारधारा का निर्माण** - आन्दोलन के विकास की इस चौथी अवस्था में आन्दोलन की निरन्तरता के लिए एक निश्चित विचारधारा का निर्माण किया जाता है। यह विचारधारा आन्दोलन का समर्थन करने वाले नेताओं अथवा बुद्धिजीवियों द्वारा विकसित होती है तथा शीघ्र ही इसे काफी समर्थन प्राप्त हो जाता है। विचारधारा सामाजिक आन्दोलन में महत्वपूर्ण स्थान रखती है तथा अगर विचारधारा आन्दोलनकारियों को प्रभावित करने की क्षमता नहीं रखती तो आन्दोलन कोई भी महत्वपूर्ण भूमिका नहीं निभा सकता है।

5. **संचालन युक्तियों का विकास** - विचारधारा के विकास के पश्चात् आन्दोलन के संचालन के लिए गुणकारी युक्तियों के बारे में सोच-विचार किया जाता है तथा विभिन्न परिस्थितियों में अपनायी जाने वाली वैकल्पिक युक्तियों पर सहमति प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। यह जरूरी नहीं है कि एक देश, राज्य या आन्दोलन की युक्तियाँ दूसरे देश, राज्य या आन्दोलन में सहायता ही दें। इसे हम औपचारिक तथा संस्थाकरण की स्थिति भी कहते हैं।

बोध प्रश्न

1. सामाजिक आंदोलन की प्रकृति लिखो?

....

....

....

....

2. सामाजिक आंदोलन की अवस्थाएँ लिखो?

....

....

....

....

12.5 भारत में समाज सुधार आन्दोलन

19वीं शताब्दी में प्रवेश के समय भारतीय समाज अति दुर्दशा से गुजर रहा था। मुगल साम्राज्य प्राय: समाप्त हो गया था। 700 वर्ष के मुस्लिम शासन और 150 वर्षों के अंग्रेजों के प्रभुत्त्व ने हिन्दुओं को पतन की पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया था। हिन्दू हीन भावना से ग्रस्त हो गए थे। वे अपनी प्राचीन सांस्कृतिक सम्पदा को भूल चुके थे। सामाजिक क्षेत्र में अस्पृश्यता, बाल-विवाह एवं सती-प्रथा जैसी कुरीतियों ने सामाजिक विघटन को प्रोत्साहन दे रही थी। भारत में सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में फैली कुरीतियों के कारण ही इसे 'अन्धकार युग' (Dark Age) कहा जाता है। ब्रिटिश शासन काल में ईसाई धर्म के प्रचार से भारतीय धार्मिक और सामाजिक जीवन में ईसाई धर्म का प्रभाव तीव्रता से फैलने लगा। भारतीय तरुण पीढ़ी ईसाई धर्म से प्रभावित होकर ईसाई धर्म ग्रहण करने लगी और ईसाई धर्म के प्रचारकों द्वारा वैदिक धर्म और हिन्दू जाति का उपहास किया जाने लगा। इस उपहास ने भारतीय नेताओं को ललकारा। फलस्वरूप उन्होंने भारतीय धर्म व समाज में सुधार करने का प्रयत्न किया। इसी समय सर विलियम जोन्स तथा मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विचारकों ने भारतीय संस्कृति को विश्व

में उत्कृष्ट घोषित किया। अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य साहित्य ने भी भारतीयों को इस दिशा में सोचने के लिए बाध्य किया।

सौभाग्यवश इसी समय राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द तथा अन्य अनेक सुधारकों का जन्म हुआ, जिन्होंने भारतीय धर्म, समाज और संस्कृति के पुनरुद्धार का बीड़ा उठाया। इन महान् विभूतियों द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन और थियोसोफिकल सोसायटी जैसे सुधारवादी आन्दोलनों ने भारतीय संस्कृति की रक्षा की इसीलिए 19वीं शताब्दी भारत के इतिहास में पुनर्जागरण का युग मानी जाती है। पुनर्जागरण का तात्पर्य, अन्धकार युग में खोई हुई अतीत की अमूल्य सांस्कृतिक विरासत के रूप को पहचानने तथा उसके अनुकूल जीवन मूल्यों के सृजन की प्रवृत्ति से है। यह काल धार्मिक और समाज सुधारों का काल माना जाता है। पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप भारतवासियों में नई चेतना और जागरण की लहर दौड़ गई। विवेक और ज्ञान ने विश्वास का स्थान ले लिया। 19वीं शताब्दी के धार्मिक और समाज सुधार आन्दोलनों का विश्लेषण निम्नवत् किया जा सकता है-

12.5.1 राजा राममोहन राय और ब्रह्म समाज

1772 ई. में बंगाल के एक कुलीन ब्राह्मण परिवार में जन्मे राजा राममोहन राय का प्रादुर्भाव भारतीय इतिहास में 'प्रात:काल के तारे' (Morning Star) के अनुरूप था क्योंकि आधुनिक भारतवर्ष में राजनीतिक जागृति और धर्म सुधार का आध्यात्मिक आरम्भ उन्हीं के जन्म से होता है। उनमें अद्भुत शक्ति, लगन व दृढ़ता थी। उन्होंने साहसपूर्ण कट्टरपन्थी सीमाओं को तोड़कर स्वतन्त्रता का बीज बोया, जिसने राष्ट्र के जीवन को नई चेतना दी।" वह अनेक भाषाओं, वेद एवं उपनिषदों के ज्ञाता तथा अनेक धर्मों के प्रकाण्ड विवेचक थे। उन्हीं के प्रयासों से लार्ड विलियम बैंटिंक ने सती-प्रथा पर कानूनी प्रतिबन्ध लगाया। राजा राममोहन राय ने अपनी धार्मिक व सामाजिक क्रान्ति द्वारा भारतीय समाज में एक ऐसी मानसिक जागृति उत्पन्न कर दी, जिससे भारत अन्धविश्वास व रूढ़िवादिता को त्याग कर आधुनिकता के पथ पर चल पड़ा। यही कारण है कि राजा राममोहन राय को हम आधुनिक भारत का जन्मदाता कहकर पुकारते हैं। वे केवल धार्मिक व सामाजिक सुधारक ही नहीं थे, वरन् वे लोगों में राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत करने के कारण राजनीतिक विचारक भी थे।

राजा राममोहन राय ने 1828 में ब्रह्म समाज की स्थापना की। ब्रह्म समाज का तात्पर्य 'ईश्वर में विश्वास रखने वाले व्यक्तियों की संस्था' से है। ब्रह्म समाज के प्रमुख सामाजिक सिद्धान्तों में समाज में प्रचलित जातिगत भेदभाव की समाप्ति, छुआछूत की समाप्ति, बाल-विवाह, बहु-विवाह तथा बाल-हत्या का अन्त, विधवा-विवाह का प्रचलन, अन्धविश्वास एवं रूढ़िवादिता की समाप्ति तथा सती-प्रथा की समाप्ति प्रमुख रहे हैं। इन्हीं सामाजिक सिद्धान्तों के कारण ब्रह्म समाज धार्मिक आन्दोलन के साथ-साथ सामाजिक आन्दोलन भी माना जाता है। राजा राममोहन राय की मृत्यु के बाद इसका कार्य-भार महर्षि देवेन्द्र नाथ ठाकुर ने सँभाला तथा महर्षि ठाकुर के बाद केशव चन्द्र सेन ने इस आन्दोलन की बागडोर अपने हाथ में ली। केशव चन्द्र सेन ने 1864 में मद्रास में 'वेद समाज' और 1866 में बम्बई में 'प्रार्थना समाज' की स्थापना की। प्रार्थना समाज ने समाज में भ्रातृभाव की भावनाओं को जाग्रत करने तथा प्रत्येक प्राणी के साथ दया तथा प्रेम का व्यवहार करने पर बल दिया। आगे चलकर इन संस्थाओं में महादेव गोविन्द रानाडे, भण्डारकर और चन्द्रावरकर आदि ने समाज-सुधार और शिक्षा-प्रचार का कार्य किया। ऐसा माना जाता है कि राजा राममोहन राय और ब्रह्म समाज ने जिस ज्योति को प्रज्ज्वलित किया, उसने भारतीय जीवन के तिमिर को नष्ट कर दिया

12.5.2 स्वामी दयानन्द सरस्वती और आर्य समाज

आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती का जन्म सन् 1824 ई. में गुजरात के एक छोटे-से गाँव टकारा में हुआ था। स्वामी दयानन्द जी ने संस्कृत एवं वैदिक साहित्य का गहन अध्ययन किया तथा 22 वर्ष की आयु में ही संन्यास का वरण कर लिया। उन्होंने घूम-घूमकर वैदिक धर्म और संस्कृति का प्रचार किया। 'सत्यार्थ-प्रकाश' उनका महान् ग्रन्थ है। उन्होंने 'वेदों की ओर लौटो' का नारा दिया। वे मूर्ति-पूजा, जाति-पाँति, बाल-विवाह आदि के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने वर्ण-व्यवस्था का खण्डन किया तथा ब्राह्मणों के एकाधिकार का विरोध किया। उन्होंने 'स्वराज्य' का भी नारा दिया।

स्वामी दयानन्द ने सन् 1875 ई. में 'आर्य समाज' की स्थापना की। यह हिन्दू धर्म का ही एक विशिष्ट मत है। इसकी हिन्दुओं में हुए समाज सुधार आन्दोलनों में महत्वपूर्ण भूमिका रही है। आज भी यह संगठन सर्वाधिक लोकप्रिय है। आर्य समाज की मान्यताओं के अनुसार वेद सब विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है। आर्य समाज ने स्वतन्त्रता आन्दोलन में सहभागिता की। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लेने वाले अधिकांश लोग आर्य समाजी ही थे। आर्य समाज केवल मात्र एक धार्मिक आन्दोलन ही नहीं था अपितु पुरोहितवाद, आडम्बरपूर्ण कर्मकाण्ड व पाखण्ड के खिलाफ संघर्ष के कारण यह मुख्यत: समाज सुधार आन्दोलन रहा है। समाज सुधार के मोर्चे पर आर्य समाज ने निम्नलिखित दो महत्वपूर्ण कार्यों को करने का प्रयास किया है-

1. कुरीतियों और अन्धविश्वासों के उन्मूलन का कार्य, तथा
2. नारी उत्थान, निम्न जाति और वर्गों के उत्थान व शिक्षा प्रसार का रचनात्मक कार्य।

आर्य समाज का किसी भी अन्य धर्म से कोई भी विरोध नहीं है। यह तो हिन्दू धर्म में अपने अन्दर से ही पनपा एक सुधारवादी आन्दोलन है। यह हिन्दू धर्म को विशुद्ध रूप प्रदान करता है। यह धार्मिक अन्धविश्वासों और सामाजिक कुरीतियों का उन्मूलन करता है। आर्य समाज का लक्ष्य उस पूर्ण मानवीय वैदिक परम्परा को पुन: प्रतिष्ठित करना है जिसके द्वार सभी के लिए खुले हैं। समाज सुधार की दृष्टि से आर्य समाज का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। जाति-पाँति का उन्मूलन, स्त्रियों का उत्थान और शिक्षण, बाल विवाह का निषेध और विधवा विवाह का प्रचार, दु:खी दरिद्रों की सहायता, स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग, जनतन्त्र की पद्धति का विकास, राष्ट्रीय संस्कृति, हिन्दी भाषा और गौरक्षा का प्रसार, मूर्ति पूजा का खण्डन, पाखण्डों और अन्धविश्वासों का भण्डाफोड़, पण्डों, पुरोहितों और महन्तों की छीछालेदार, अन्य धर्मों के मानने वालों खासतौर से ईसाइयों और मुसलमानों की शुद्धि और शिक्षा की उन्नति आर्य समाज के कार्यक्रम के प्रमुख अंग हैं।

एम. एन. श्रीनिवास (M. N. Srinivas) जैसे सुप्रसिद्ध विद्वानों ने सामाजिक परिवर्तन में आर्य समाज की भूमिका को स्वीकार किया है। उनके अनुसार इसने जाति के बन्धन ढीले करने का प्रयास किया है। पंजाब में आर्य समाज ने निम्न जातियों द्वारा संस्कृतिकरण की प्रक्रिया के अभिकर्ता (एजेन्ट) का काम किया है। उन्हें वह सब ज्ञान और संस्कार प्रदान किए जो पहले द्विज जातियों तक ही सीमित थे। पंजाब के अतिरिक्त राजस्थान एवं उत्तर प्रदेश भी इसके गढ़ रहे हैं। प्रभाव-विस्तार की दृष्टि से आज यह अन्तर्राष्ट्रीय संगठन माना जाता है। इसमें पढ़े लिखे मध्यम वर्गीय लोगों का बाहुल्य है। सरकारी कर्मचारियों का बहुत बड़ा भाग भी इसमें शामिल है। आर्य समाज परम्परा के साथ वैज्ञानिक तर्कवाद का स्वस्थ समन्वय प्रस्तुत करता है। इसलिए अध्यापकों, वैज्ञानिकों और बुद्धिजीवियों का भी इसकी ओर आकर्षण है। भारतीय स्त्रियों की उन्नति की दिशा में आर्य समाज अग्रणी रहा है। इसने भारतीय स्त्री के प्राचीन गौरव की पुनर्स्थापना का प्रयास किया है। आर्य समाज उत्कृष्ट देशभक्त, राजनीतिक दृष्टि से जागरुक और मानव-प्रेम के आदर्शों वाला श्रेष्ठ धार्मिक मत है।

इसीलिए यह कहा जाता है कि आर्य समाज एक साथ ही धार्मिक, सामाजिक और राष्ट्रीय नवजागरण का आन्दोलन था जिसने भारत और हिन्दुओं को नवजीवन प्रदान किया। शिक्षा के क्षेत्र में आर्य-समाज की देन विशेष है। आज सारे उत्तरी-भारत तथा पश्चिमी-भारत में दयानन्द एंग्लो वैदिक स्कूल तथा कॉलेज स्थापित किए गए हैं। जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि आन्तरिक दृष्टि से आर्य समाज एक क्रान्तिकारी व सुधारवादी आन्दोलन था तथा बाह्य आक्रमणों से रक्षा करने के लिए वह एक रक्षात्मक संगठन था।

12.5.3 श्रीमती एनी बीसेन्ट और थियोसॉफिकल सोसायटी

समाज सुधार आन्दोलनों में 'थियोसॉफिकल सोसायटी' का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इसकी स्थापना एक रूसी महिला मैडम ब्लेवेटस्की तथा अमेरिकी कर्नल अल्काट ने 1857 ई. में की थी। वे स्वामी दयानन्द के निमन्त्रण पर 1879 ई. में भारत आए थे। उन्होंने मद्रास प्रान्त में अपना मुख्य केन्द्र स्थापित किया। जब इन विदेशी साधकों ने हिन्दू धर्म का गुणगान किया, तो न केवल पढ़े-लिखे लोग पादरियों के बहकावे में आने से बच गए, अपितु हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान भी हुआ। आगे चलकर श्रीमती एनी बीसेन्ट इस संस्था की प्रमुख कार्यकर्त्री बन गईं और उन्होंने भारत के सामाजिक तथा राष्ट्रीय जागरण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। भारत में थियोसोफिकल सोसाइटी

को लोकप्रिय एवं सफल बनाने का श्रेय श्रीमती एनी बेसेण्ट को ही दिया जाता है। उन्होंने हिन्दू संस्कृति को पश्चिमी सभ्यता की अपेक्षा श्रेष्ठ घोषित किया। वह यह नहीं स्वीकार करती थीं कि भारत को राष्ट्र बनने का पाठ पश्चिम ने सिखाया है, वरन् उनके अनुसार भारत अतीत से ही एक राष्ट्र था। उन्होंने भारत के प्रत्येक क्षेत्र में पुनर्जागरण की ज्योति प्रज्ज्वलित की। इस आन्दोलन ने अपना कार्यक्षेत्र बढ़ाया तथा होम रूल आन्दोलन तथा स्वदेशी को लोकप्रिय बनाने में भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

NOTES

थियोसॉफिकल सोसायटी ने समाज-सुधारों पर भी विशेष ध्यान दिया। इसने जाति, धर्म व लिंग के आधार पर किए जाने वाले भेदभाव, बाल-विवाह एवं सती-प्रथा का विरोध किया तथा विधवा पुनर्विवाह का समर्थन किया। विश्व में भारतीय संस्कृति के मूलमन्त्र 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्त का प्रचार कर विश्व-प्रेम, शान्ति, मानवतावाद जैसे विचारों को फैलाने में भी इस सोसायटी का महत्वपूर्ण योगदान है।

यद्यपि धार्मिक पुनर्जागरण के आन्दोलन के रूप में तो यह सोसाइटी सफल नहीं रही, परन्तु आधुनिक भारत की गतिविधियों में इसने एक अनोखा योगदान दिया। इस आन्दोलन का नेतृत्व करने वाले पश्चिमी नेताओं द्वारा भारतीय धर्मों तथा दार्शनिक परम्परा का गुणगान करने के परिणामस्वरूप भारतवासियों को आत्मविश्वास पुनः प्राप्त करने में निश्चित रूप से सहायता मिली।

12.5.4 रामकृष्ण परमहंस और रामकृष्ण मिशन

भारत की आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक परम्परा का सबसे शक्तिशाली प्रतीक रामकृष्ण मिशन है जिसने धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में ऐसा जागरण उत्पन्न किया जिसके फलस्वरूप व्यापक राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न हुई। इस आन्दोलन का भी मुख्य उद्देश्य भारत में धार्मिक एकता स्थापित करना था। रामकृष्ण मिशन के संस्थापक रामकृष्ण परमहंस बाल्यावस्था से ही एक महान् विचारक थे। उनका धर्म-ज्ञान अनुपम था और उनकी प्रवृत्ति धार्मिक थी। उन्होंने अध्ययन व मनन के उपरान्त यह निष्कर्ष निकाला कि सब धर्म न केवल समान हैं, अपितु सबका ध्येय ही एक ही है। अन्तर केवल इतना है कि इस ध्येय तक पहुँचने के रास्ते सभी धर्मों में अलग-अलग हैं। उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि ईश्वर एवं मुक्ति तक पहुँचने के अनेक मार्ग हैं और मानव सेवा ही ईश्वर की सेवा है क्योंकि मानव ईश्वर का मूर्त रूप है। अपने अनुयायियों को उन्होंने यह शिक्षा दी कि समस्त धर्मों के प्रति आदर भाव रखते हुए भी व्यक्ति को अपने धर्म के प्रति निष्ठावान रहना चाहिए। वे आध्यात्मिकता के समर्थक थे। उन्होंने हिन्दू समाज को एक गहरी आध्यात्मिकता से परिपूर्ण आदर्श जीवन तथा उदार एवं समन्वित दृष्टिकोण प्रदान किया। उन्होंने हिन्दू धर्म को पूर्ण श्रेष्ठ धर्म घोषित किया तथा इसकी परम्पराओं में आस्था व्यक्त कर इसे पुनर्जाग्रत किया। वे महान् मानवतावादी थे। उन्होंने दरिद्रों और अपाहिजों की सेवा में अपना समस्त जीवन बिताया।

स्वामी दयानन्द के ही समान रामकृष्ण परमहंस ने भी यह शिक्षा दी कि पाश्चात्य सभ्यता का अन्धानुकरण करने से उनका हित नहीं होगा, वरन् परम्परागत भारतीय धर्म एवं संस्कृति ही उन्हें प्रकाश की ओर अग्रसर करने का एकमात्र साधन है। उनकी शिक्षाओं एवं धार्मिक संदेश को लोकप्रिय बनाने का कार्य उनके महान शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने किया। विवेकानन्द ने सामाजिक कर्म पर बहुत जोर दिया। उनका यह विचार था कि जिस संसार में हम रहते हैं उसमें ज्ञान के साथ कर्म न किया जाए तो ज्ञान निरर्थक है। उन्होंने स्वामी परमहंस के ही समान सर्वधर्म समभाव की घोषणा की तथा धार्मिक मामलों में संकीर्णता की निन्दा की। वह भारतीय दार्शनिक परम्परा के श्रेष्ठ दृष्टिकोण के मानने वाले थे तथा स्वयं वेदान्त के समर्थक थे। उन्होंने जाति प्रथा, कर्म-काण्ड तथा अन्धविश्वासों की निन्दा की। वह वस्तुतः एक समाज सुधारक नहीं एक आध्यात्मिक विचारक थे। उन्होंने व्यक्तिगत मुक्ति पर नहीं वरन् सामाजिक भलाई तथा समाज सेवा पर बल दिया। अपने मानवतावादी तथा सामाजिक कार्यों को पूरा करने के ही उद्देश्य से उन्होंने वैलूर में 1896 ई. में रामकृष्ण मिशन की स्थापना की।

स्वामी विवेकानन्द 1893 ई. में शिकागो में आयोजित सर्वधर्म सम्मेलन में भी भाग लेने गए जहाँ उन्होंने आए हुए सभी धर्म के प्रतिनिधियों से धार्मिक संकीर्णता एवं साम्प्रदायिकता से ऊपर उठकर सोचने तथा धर्म को मानव जाति के कल्याण के लिए उपयोग में लाने का आह्वान किया। वहाँ उन्होंने भारतीय संस्कृति की गहरी छाप छोड़ी और हिन्दू धर्म की व्याख्या से सभी पर अपनी धाक जमा ली। देशवासियों के लिए उनका संदेश था कि समानता, स्वतन्त्रता, कर्मण्यता एवं सबलता की भावना के लिए पश्चिमी बनो पर साथ ही साथ धार्मिक, संस्कृति

एव अन्तर्भावनाओं की दृष्टि से कट्टर हिन्दू बने रहो। रामकृष्ण मिशन ने भारतीयो को भारतीय संस्कृति के प्रति निष्ठावान किन्तु धर्म की दृष्टि से सहिष्णु होने का सन्देश दिया। भारत के अनेक हिस्सों में मिशन के मठ स्थापित किए गए हैं। आज भी यह मिशन आध्यात्मिक चिन्तन तथा गरीबों की सेवा में लगा हुआ है। इसका मूलमन्त्र है, "उठो, जागो, और उस समय तक चैन मत लो, जब तक तुम संसार को आध्यात्मिकता से जीत न लो।"

NOTES

12.5.5 मुस्लिम सुधार आन्दोलन

हिन्दू धर्म की भाँति मुस्लिम धर्म का भी 19वीं शताब्दी तक पर्याप्त ह्रास हो चुका था। उसमें भी अन्धविश्वास और पाखण्ड का बोलबाला था। अतः मुस्लिम समाज की कुरीतियों को दूर करने के लिए अनेक सामाजिक एवं धार्मिक आन्दोलन प्रारम्भ हुए। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में बंगाल में फरयाज (कर्त्तव्य) आन्दोलन प्रारम्भ हुआ जिसके संचालक हाजी शरियत उल्लाह थे। उन्होंने मुसलमानों को अपने कर्त्तव्य से परिचित कराने का प्रयास किया। बाद में हाजी साहब के पुत्र मुहम्मद मोहसिन के उठा विचारों तथा किसानों को कर न देने के लिए भड़काने जैसे कार्यों ने अंग्रेज सरकार को इस आन्दोलन को दबाने के लिए बाध्य किया।

प्रारम्भ में भारतीय मुसलमानों ने स्वयं को पाश्चात्य शिक्षा, संस्कृति एवं सम्पर्क से दूर रखने का प्रयास किया, परन्तु 1857 के बाद उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन आना प्रारम्भ हुआ। कलकत्ता में 1863 में मुहम्मडन लिटरेरी सोसायटी की स्थापना इस दिशा में पहला कदम माना जाता है। इस सोसायटी ने भारतीय मुसलमानों को न केवल पाश्चात्य शिक्षा एवं आधुनिक दृष्टिकोण अपनाने के लिए प्रेरित किया, अपितु उन्हें सामाजिक प्रश्नों पर विचार करने के लिए भी प्रोत्साहित किया।

मुसलमानों में राजनीतिक जागरण का प्रारम्भ शाह वली उल्लाह से होता है। मुगल साम्राज्य की बिगड़ती हुई स्थिति को देखकर उसने विश्वव्यापी खिलाफत के विचार का प्रतिपादन किया। वह मुगलों की गिरती हुई स्थिति से अत्यन्त चिन्तित था। इसके बाद सैयद अहमद बरेलवी के नेतृत्व में मुस्लिम नवयुवक मण्डल का गठन किया गया। सैयद अहमद और इस्लाम हाजी मौलवी मुहम्मद भारतीय वहाबी आन्दोलन के प्रमुख नेता थे। मूल रूप से इस आन्दोलन का प्रारम्भ अरब के मुहम्मद इब्न अब्दुल वहाब ने किया था इसीलिए इसको वहाबी आन्दोलन कहा जाता है। वहाबी आन्दोलन का दृष्टिकोण पुरातनपन्थी था तथा यह पश्चिम की सभ्यता व संस्कृति के विरुद्ध था इसीलिए यह अधिक सफल नहीं हो पाया। मिर्जा गुलाम अहमद कादिम के नेतृत्व में प्रारम्भ हुए अहमदिया आन्दोलन ने भी पाश्चात्य शिक्षा का विरोध किया। उन्होंने कादियानी सम्प्रदाय की नींव डाली तथा सभी धर्मों में सुधार को अपना लक्ष्य बनाया। इस आन्दोलन का प्रभाव पंजाब में अधिक रहा।

अलीगढ़ आन्दोलन मुस्लिम आन्दोलनों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। इसके प्रवर्तक सैयद अहमद खाँ ने भारतीय मुसलमानों में जागृति लाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। वे मुस्लिम समाज के महान सुधारक समझे जाते हैं। वे अंग्रेजी शिक्षा, विदेश भ्रमण एवं स्त्री-शिक्षा के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने अलीगढ़ में मुस्लिम ऐंग्लो ओरियन्टल कॉलेज की स्थापना कर मुस्लिम विश्वविद्यालय की नींव डाली। इसमें कलकत्ता के खान बहादुर अब्दुल लतीफ द्वारा 1863 में मुस्लिम साहित्यिक समाज का भी उल्लेखनीय योगदान रहा है। अलीगढ़ आन्दोलन के माध्यम से इस्लाम धर्म से रूढ़िवाद को समाप्त करके उसमें नए-नए विचारों को समाविष्ट करने का प्रयास किया गया। प्रारम्भ में तो अहमद खाँ भारतीय एकता एवं हिन्दू-मुस्लिम एकता के दृढ़ समर्थक थे परन्तु बाद में साम्प्रदायिक हो गए। भारत में राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना होने पर उन्होंने मुसलमानों को उसमें शामिल होने से मना किया। इसी प्रकार के विचारों के परिणामस्वरूप कांग्रेस के समानान्तर मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। मुस्लिम लीग ने मुसलमानों में एकता, जागृति और सुधार लाने का सर्वाधिक प्रचार किया। अधिकांश विद्वान् मुस्लिम लीग को ही भारत विभाजन का कारण मानते हैं।

उपर्युक्त वर्णित हिन्दू एवं मुस्लिम समाज सुधार आन्दोलनों ने भारतीय जीवन में चेतना का स्फुरण किया, राष्ट्र-प्रेम का पुनीत पाठ पढ़ाया, अन्धविश्वास को नष्ट करके विश्वास और विवेक का उन्मेष किया और सबसे बढ़कर राष्ट्रीय-जागरण की पृष्ठभूमि तैयार की। इन समाज एवं धार्मिक सुधार आन्दोलनों ने भारत के रूढ़िवादी समाज को आधुनिकता की ओर अग्रसर करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इन्हीं आन्दोलनों के परिणामस्वरूप भारतीयों के मन में न केवल अपनी संस्कृति की महानता का विचार उत्पन्न हुआ, अपितु उनमें आत्मविश्वास

और आत्म सम्मान जैसी भावनाओं का प्रादुर्भाव भी हुआ। अत: वे अपने अधिकारों के प्रति सचेत हुए और राष्ट्रीयता के पथ पर चल पड़े।

बोध प्रश्न

NOTES

1. ब्रह्म समाज पर टिप्पणी लिखो?

....

....

....

....

2. मुस्लिम सुधार आन्दोलन को स्पष्ट करो?

....

....

....

12.5.6 समाज सुधार में गांधी जी का योगदान

भारत में समाज सुधार लाने में महात्मा गांधी का भी महत्वपूर्ण योगदान है। वह केवल एक राजनीतिज्ञ ही नहीं थे, अपितु प्रतिभाशाली बहुमुखी व्यक्तित्व वाले विचारक भी थे। इनकी विचारधारा सर्वांगीण विचारधारा थी क्योंकि उन्होंने समय की समस्त समकालीन सामाजिक समस्याओं पर अपने अमूल्य विचार प्रस्तुत किए इसीलिए उनको राजनीतिज्ञ होने के साथ-साथ एक समाज सुधारक, शिक्षाशास्त्री, दार्शनिक एवं सामाजिक विचारक भी माना जाता है। उनकी सत्य एवं अहिंसा के सिद्धान्तों की जिन-जिन क्षेत्रों तक पहुँच थी, उन्हीं पर उन्होंने विस्तारपूर्वक अपने व्यावहारिक विचार तथा एक नवीन मार्ग प्रस्तुत किया इसलिए उनका चिन्तन आध्यात्मिक होने के साथ-साथ सामाजिक एवं व्यावहारिक भी है।

महात्मा गांधी का पूरा नाम मोहनदास करमचन्द गांधी था। उनका जन्म 2 अक्टूबर, 1869 ई. में काठियावाड़ के पोरबन्दर नामक स्थान पर हुआ था। उनके पिता का नाम करमचन्द गांधी था जोकि पोरबन्दर राज्य के दीवान थे। उनकी माता अत्यन्त धार्मिक प्रवृत्ति वाली, दयालु एवं सहृदय महिला थी तथा उनके चरित्र-निर्माण में इनकी माता का काफी प्रभाव रहा। 5 वर्ष की आयु में उनको गुजराती स्कूल में तथा 10 वर्ष की आयु में अंग्रेजी स्कूल में भर्ती किया गया। 1883 ई. में केवल 13 वर्ष की आयु में गांधी जी का विवाह कस्तूरबा के साथ सम्पन्न हुआ। इसी बीच अब वह केवल 16 वर्ष के थे तो उनके पिता का देहान्त हो गया। 17 वर्ष की आयु में उन्होंने अहमदाबाद के एक स्कूल से मैट्रिक की परीक्षा पास की। फिर भावनगर के कॉलेज में भर्ती हुए, पर उनका मन पढ़ाई में नहीं लगा। 1887 ई. में गांधी जी को बैरिस्ट्री पढ़ने के लिए इंग्लैण्ड भेज दिया गया। प्रारम्भ में उनको भी अंग्रेजों की तरह साहब बनने की धुन सवार थी और इनकी वेशभूषा, रख-रखाव, बोलचाल आदि में अंग्रेजी संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता था, परन्तु शीघ्र ही उनको अपनी गलती का एहसास हो गया तथा उन्होंने अपने जीवन का रंग-ढंग ही बदल दिया। वहीं पर उन्होंने गीता के अंग्रेजी अनुवाद का अध्ययन किया और इससे उनकी धार्मिक विचारधारा काफी पुष्ट हो गई।

तीन वर्ष पश्चात् बैरिस्ट्री पास करके गांधी जी 1881 ई. में स्वदेश लौट आए और काठियावाड़ में वकालत करने लगे परन्तु स्वभाव से लज्जाशील एवं शर्मीले होने के कारण वह अपने व्यवसाय में अधिक सफल नहीं हो पाए। इस असफलता के कुछ वर्ष पश्चात् 1893 ई. में उनको एक धनी मुसलमान व्यापारी के मुकदमे के सिलसिले में दक्षिणी अफ्रीका जाना पड़ा। यद्यपि यह मुकदमा मध्यस्थता से तय हो गया, लेकिन वहाँ जब गांधी जी ने भारतीयो पर अंग्रेजों द्वारा किए जाने वाले अत्याचारों को देखा, तो उन्होंने वहाँ एक लम्बे समय तक रहने का निश्चय कर लिया। फलस्वरूप वह वहाँ प्रवासी भारतीयों के साथ बीस वर्षों तक रहे और अत्याचारों के विरुद्ध अहिंसा व

सत्याग्रह के द्वारा आवाज उठाई और इस प्रकार राजनीति में प्रवेश किया। दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों को कुली कहा जाता था और इनको एक कुली बैरिस्टर के नाम से पुकारा जाता था। कोई भारतीय अंग्रेजों के साथ रेल के पहले दर्जे में सफर नहीं कर सकता था। भारतीयों की करुणाजनक एवं दयनीय दशा को समाप्त करने के लिए उन्होंने नेटाल-भारतीय-कांग्रेस का गठन किया तथा दक्षिणी अफ्रीका की सरकार के साथ संघर्ष किया। वह वहाँ दो बार जेल गए, एक बार 7 दिन का तथा दूसरी बार 14 दिन का उपवास किया और इनकी आवाज के आगे अन्तत: वहाँ की सरकार को झुकना पड़ा और वहाँ रह रहे भारतीयों को मानवीय अधिकार प्रदान कर दिए गए। सत्याग्रह की नवीन शैली के कारण वह शीघ्र ही समस्त विश्व में प्रसिद्ध हो गए और पुन: इंग्लैण्ड आ गए। वहाँ पर उनकी भेंट भारत के प्रसिद्ध उदारवादी नेता गोपाल कृष्ण गोखले से हुई। गोखले का उन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। 1915 ई. में गांधी जी एक सफल नेता के रूप में भारत लौट आए और देश के हालातों से परिचित होने के लिए उन्होंने सारे देश का दौरा किया। 1917 ई. में उन्होंने अहमदाबाद के निकट साबरमती के तट पर साबरमती आश्रम की स्थापना की और वहाँ अपने अनुयायियों के साथ निवास करने लगे। इसी वर्ष उन्होंने बिहार प्रान्त के चम्पारन जिले में रहने वाले किसानों की सहायता के उद्देश्य से 'सत्याग्रह आन्दोलन' शुरू किया। इस सत्याग्रह आन्दोलन ने काफी सफलता प्राप्त की। प्रथम विश्वयुद्ध में गांधी जी ने अंग्रेजों के साथ सहयोग की बात कही, परन्तु जब युद्ध के बाद अंग्रेजों ने भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य देने से इनकार कर दिया तो वह सीधे राजनीति में कूद पड़े और 1920 ई. में सम्पूर्ण भारत में अहिंसात्मक सत्याग्रह आन्दोलन शुरू कर दिया। 1929 ई. में लाहौर कांग्रेस अधिवेशन में उन्होंने पूर्ण स्वराज्य प्राप्ति के लक्ष्य को निर्धारित किया और 1930 ई. में नमक कानून तोड़ने के लिए डांडी को प्रस्थान किया। फलस्वरूप असहयोग आन्दोलन एक बार फिर भड़क उठा। यह आन्दोलन 1934 ई. तक चला। इस बीच गांधी जी ने ग्राम उद्योग, हरिजन उद्धार आदि के लिए विशेष प्रयत्न किए जिसमें उनको काफी सफलता भी प्राप्त हुई।

8 अगस्त 1942 ई. में गांधी जी ने 'भारत छोड़ो आन्दोलन' का सूत्रपात किया परन्तु तुरन्त ही अन्य कांग्रेसी नेताओं के साथ इनको बन्दी बना लिया गया। 1944 ई. में इनको जेल से मुक्त कर दिया गया। इसी समय गांधी जी की धर्मपत्नी कस्तूरबा की मृत्यु हो गई और इस दु:खद घटना के बाद वह पूर्णतया रचनात्मक कार्यों में लग गए। इनके प्रयासों के फलस्वरूप अन्त में, 15 अगस्त 1947 ई. में भारत को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हुई, पर उस समय के कांग्रेसी नेताओं के रवैये से और देश के विभाजन (भारत और पाकिस्तान) से गांधी जी अत्यन्त दु:खी हुए। वह देश का विभाजन नहीं होने देना चाहते थे तथा हिन्दू-मुसलमानों को एक सूत्र में बाँधे रखना चाहते थे इसीलिए स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् जब सम्पूर्ण देश में लोग खुशियाँ मना रहे थे, तब उन्होंने उसमें कोई भाग नहीं लिया और उपवास रखकर चुपचाप चरखा कातते रहे। भारत विभाजन से उनको बहुत गहरा धक्का पहुँचा और वह विभाजन के बाद पाकिस्तान को आर्थिक सहायता दिलवाने तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहे। पर उनकी यह बात उनके बहुत से अनुयायियों को पसन्द नहीं आई और हिन्दू तथा मुसलमान उनके विरोधी बन गए। 30 जनवरी 1948 ई. को एक कट्टरधर्मी हिन्दू युवक नाथू राम गोडसे ने दिल्ली में सांयकालीन प्रार्थना सभा में जाते हुए गांधी जी के सीने में पिस्तौल की तीन गोलियाँ दाग दी। 'हे राम' का उच्चारण करते हुए उन्होंने अपना पार्थिव शरीर त्याग दिया।

12.5.7 भारत में आधुनिक समाज सुधार के परामर्शदाता के रूप में गांधी

गांधी जी नैतिक शिक्षा को बहुत महत्व देते थे तथा इनका समस्त सामाजिक दर्शन नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित था। उनका विचार था कि नैतिक शिक्षा का पालन किए बिना व्यक्ति न तो ऊँचा उठ सकता है और न उन्नति कर सकता है। गांधी जी के अनुसार सत्य को ढूँढना तथा सत्य के लिए अपने को न्यौछावर कर देना मनुष्य का मूल लक्ष्य होना चाहिए। उन्होंने ईश्वर को सत्य के रूप में स्वीकार किया। इनके अनुसार जो सत्य की कसौटी पर खरा न उतरे उसको छोड़ देना चाहिए। गांधी जी के अनुसार सत्य के समीप पहुँचने के लिए जिन सिद्धान्तों, नियमों और साधनों की आवश्यकता है, उनमें ब्रह्मचर्य का पालन, अपरिग्रह, अहिंसा प्रमुख है। सत्य के मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति को इस सोच-विचार में नहीं पड़ना चाहिए कि सफलता मिलेगी या असफलता, क्योंकि जो लोग सत्य के उपासक हैं, उन्हें निश्चित रूप से सफलता मिलती है इसीलिए गांधी जी ने सत्य को सत्याग्रह का आधार बनाया। सत्य ही सृष्टि का आधार है और इसे पाने के लिए हमें अपने प्राणों तक को न्यौछावर कर देना चाहिए।

NOTES

गांधी जी ने सत्य के साथ-साथ अहिंसा के मार्ग को अपनाने पर भी बल दिया है। उनके अनुसार अहिंसा प्रेम का सम्बन्ध है, बैर भाव का सर्वथा त्याग है, अहिंसा में दीनता, भीरुता व डरकर भागने का कोई स्थान नहीं तथा दृढ़ता, वीरता व निश्छलता सम्मिलित होती है। अत: अहिंसा के दो रूप हैं-(अ) स्थूल तथा सीमित रूप जोकि मारमीट न करने, डण्डे के जोर पर किसी से काम न लेने तथा खून न बहाने पर बल देता है तथा (ब) सूक्ष्म एवं व्यापक रूप जो दूसरे को दु:ख न पहुँचाने, उनसे कड़वा न बोलने तथा कठोर व्यवहार न करने पर बल देता है। अन्य शब्दों में, दूसरों के साथ प्रेम से रहना ही अहिंसा है। अत: उनके अनुसार मन, वचन तथा कर्म से किसी को हानि न पहुँचाना, सबसे प्रेम करना, किसी के प्रति द्वेषभाव न रखना तथा किसी को किसी भी प्रकार का दु:ख या कष्ट न देना अहिंसा है। अहिंसा के सिद्धान्त में यह भाव अन्तर्निहित है कि व्यक्ति में बदले की भावना नहीं होती। गांधी जी के विचारानुसार अहिंसा कायरता नहीं है।

गांधी जी का तीसरा प्रमुख सिद्धान्त सत्याग्रह है जिसका अर्थ सत्य का आग्रह अर्थात् सत्य के लिए आग्रह करना है। गांधी जी के शब्दों में, "सत्याग्रह आत्मा की शक्ति, तपस्या व सत्य के लिए आग्रह है। दूसरों को कष्ट देकर नहीं बल्कि स्वयं कष्ट उठाकर विरोधी पर विजय प्राप्त करना है।" गांधी जी ने सत्याग्रह शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम दक्षिणी अफ्रीका में किया। इसका अर्थ 'भलाई के लिए उपवास' न होकर 'सत्य के लिए उपवास' है। यह वस्तुत: दूसरों से सही बात मनवाने या उचित कार्य करवाने का एक नैतिक साधन या पद्धति है। उनके अनुसार " प्रतिपक्षी का बुरा चाहना या हानि पहुँचाने के इरादे से उससे या उसके बारे में बुरा बोलना सत्याग्रह का उल्लंघन है। इसमें शोरगुल, प्रदर्शन या उतावलापन नहीं होता। सत्याग्रह एक सौम्य अस्त्र है, वह कभी किसी को चोट नहीं पहुँचाता।" सत्याग्रह में बड़ी से बड़ी हिंसक शक्ति को झुकाने का सामर्थ्य होता है। इसके द्वारा उन्होंने केवल दक्षिणी अफ्रीका में ही सफलता प्राप्त नहीं की अपितु भारत को भी अंग्रेजों के सशक्त चंगुल से स्वतन्त्र कराने में सफलता प्राप्त की। असहयोग, सविनय अवज्ञा, हड़ताल तथा उपवास सत्याग्रह के प्रमुख स्वरूप हैं।

समाज में गरीबी-अमीरी एवं आर्थिक विषमताएँ सदैव विद्यमान रही हैं। गांधी जी ने तत्कालीन समाज में व्याप्त आर्थिक विषमताओं को बड़े गम्भीर रूप में लिया और वह चाहते थे कि कोई ऐसी विधि निकाली जाए जिससे एक धनी एवं पूँजीपति वर्ग के पास संचित विपुल धनराशि गरीबों के कल्याणार्थ काम आ सके और इसके लिए कोई हिंसात्मक तरीका भी न अपनाना पड़े। काफी गहन चिन्तन के बाद गांधी जी ने इनका एक अहिंसात्मक तरीका खोज निकाला और इसे 'संरक्षकता का सिद्धान्त' के नाम से प्रतिपादित किया। संरक्षकता का अभिप्राय किसी वस्तु को किसी के संरक्षण में रख देना है। गांधी जी ने इस सिद्धान्त के द्वारा धनवालों को धन के स्वामी बनाने के स्थान पर 'संरक्षक' बनाने पर बल दिया। उनके अनुसार सम्पत्ति भी अन्य कलाओं की तरह एक कला है और इसका उत्पादन सब कोई नहीं कर सकते। सम्पत्ति कोई अकेला व्यक्ति पैदा नहीं कर सकता अपितु इसमें बीसियों व्यक्ति अपना योगदान देते हैं। अत: जो लोग सम्पत्ति का उत्पादन करें उन्हें उसके स्वतन्त्र इच्छानुसार उपभोग करने के स्थान पर अपने को सम्पत्ति का केवल संरक्षक समझना चाहिए। अत: गांधी जी का यह संरक्षकता का सिद्धान्त 'अपरिग्रह' के आदर्श पर आधारित है अर्थात् यह इस बात पर बल देता है कि व्यक्ति को अपनी आवश्यकता से अधिक धन को तिजोरी में बन्द करके नहीं रखना चाहिए अपितु अपनी आवश्यकता से अधिक धन को अपने पास जनता की रखी अमानत समझना चाहिए।

गांधी जी को अस्पृश्यता तथा अस्पृश्यो को सभी मानव आधकारो से वंचित रखने का बड़ा दु:ख हुआ। उन्होंने यह मत व्यक्त किया कि इस अस्पृश्यता का कोई धार्मिक आधार नहीं है। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि हमें सबको भाई-भाई समझना चाहिए, किसी को नीच नहीं समझना चाहिए और न ही हीनता व अत्याचार का बर्ताव करना चाहिए। उन्होंने हरिजनोद्धार हेतु अनेक रचनात्मक कार्य भी किए। इतना ही नहीं, गांधी जी ने देश में शान्ति व सुव्यवस्था के लिए साम्प्रदायिक एकता की महत्ता को जितना अधिक समझा शायद ही किसी और ने इतना समझा हो। वह साम्प्रदायिक एकता को राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सभी दृष्टियों से आवश्यक मानते थे। उनका मत था कि यदि भारत में हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक दंगे होते रहे तो देश कभी भी उन्नति नहीं कर सकेगा। अत: उन्होंने निरन्तर हिन्दूमुस्लिम एकता के लिए प्रयास किया।

नारी जाति के प्रति गांधी जी के हृदय मे अपार सम्मान की भावना थी। भारतीय नारी की जो हीन अवस्था थी वह महात्मा गांधी जी के अनुसार हिंसा का ही एक रूप था। वह नारी को भी उतनी ही उन्नत अवस्था में देखना चाहते थे जितना कि पुरुष को। उनका विश्वास था कि मानसिक क्षमताओं की दृष्टि से नारी, पुरुष से

किसी भी प्रकार कम नहीं है इसीलिए उन्होंने स्त्रियों को परदे से खीचकर सत्याग्रह संग्राम में पुरुषों के समान सेनानी बना दिया तथा उनमें अपने अधिकारों के प्रति जागरुकता की भावना विकसित हुई। गांधी जी नारी को पुरुष की दासी नहीं, बल्कि उसकी जीवन-संगिनी मानते थे। उनके अनुसार स्त्री अहिंसा की मूर्ति है जिसमें प्रेम और कष्ट सहने की अनन्त शक्ति है। गांधी जी विवाह-विच्छेद को बुरा नहीं मानते थे और न ही विधवा-पुनर्विवाह को अनुचित मानते थे। विवाह के अवसर पर साज-सज्जा पर धन का अपव्यय होते देख गांधी जी को बहुत दु:ख होता था। इसलिए उन्होंने विवाह संस्कार को सरल बनाने पर काफी बल दिया।

गांधी जी परदा प्रथा को नारी के उत्थान में एक बहुत बड़ी बाधा समझते थे। इनके विचारानुसार यदि स्त्रियों को घर की चहारदीवारी में ही बन्द रखा जाए तो वे जीवन की यथार्थता को नहीं समझ पाएँगी और न ही स्वतन्त्रता की स्वच्छ साँस ले पाएँगी। चरित्र परदे में रहकर नहीं पनप सकता क्योंकि इनके विचार में चरित्र की पवित्रता बन्द करने की उपज नहीं है। यह ऊपर से नहीं लादी जा सकती और न ही परदे की दीवार खींच देने से इसकी रक्षा हो सकती है। इसका विकास भीतर से ही होना चाहिए। गांधी जी सात्विक विचारों वाले व्यक्ति थे और अफीम, गांजा, चरस, शराब आदि मादक द्रव्यों के सेवन के घोर विरोधी थे। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि मद्यपान विषपान से भी अधिक घातक होता है। विष तो केवल शरीर की हत्या करता है, पर मद्यपान तो आत्मा का हनन करके व्यक्ति को पशु तुल्य बना देता है। उनका यह विश्वास था कि मद्य निषेध से जनता का शारीरिक, मानसिक और नैतिक सब प्रकार का कल्याण होता है। अत: वह मद्य निषेध के पक्ष में थे।

गांधी जी ने वर्ण व्यवस्था को आदर्श व्यवस्था मानकर उसके पुनर्जीवन द्वारा एक नवीन सामाजिक व्यवस्था की स्थापना का प्रयास किया। वर्ण व्यवस्था कार्यों के विभाजन की एक व्यवस्था है क्योंकि सभी व्यक्ति मानसिक दृष्टि से समान नहीं हो सकते इसीलिए समाज प्रत्येक व्यक्ति को केवल वही पेशा अपनाने को कहता है जिसे कि वह अपनी शारीरिक व मानसिक विशेषताओं के अनुसार सबसे अच्छे ढंग से कर सकता है। उचित पेशे में उचित व्यक्ति को लगाना, वर्ण व्यवस्था का आधार है और इसमें ऊँच-नीच का कोई प्रश्न ही नहीं आता। उनके विचारानुसार अपनी योग्यता के अनुसार व्यवसाय करना और रोजी-रोटी कमाना प्रत्येक के लिए समान गौरव की बात है। उनके अनुसार वर्ण व्यवस्था का आज जो रूप है वास्तव में वह वैसा नहीं था। जाति-पाँति के बन्धन, छुआछूत, भेदभाव, खान-पान पर प्रतिबन्ध, ऊँच-नीच आदि वर्ण व्यवस्था के अंग नहीं हैं। अत: वह इसमें से इन बुराइयों को निकाल देने के पक्ष में थे। उनका विचार था कि संसार के जन्म के आधार पर कोई छोटा या बड़ा नहीं है। छोटे-बड़े के विचार से ही बड़ा छोटे को खाता है, उस पर अत्याचार करता है। उनकी यह मान्यता थी कि अहिंसा के विचारों द्वारा छोटे-बड़े की भावना स्वयं मिट जाती है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि गांधी जी एक महान् समाज सुधारक एव सामाजिक चिन्तक थे। एक सामाजिक विचारक का कार्य सामाजिक समस्याओं के प्रति विचार प्रस्तुत करना है। गांधी जी ने ऐसे विचारों को प्रस्तुत किया जोकि व्यावहारिक जीवन में उपयोगी, समाज की व्यवस्था को संगठित और सन्तुलित बनाने में सहायक, मानव जीवन को सुखी तथा शान्तिमय बनाने के साधन थे। एक सामाजिक चिन्तक का कार्य समाज के विभिन्न पहलुओं की अपने विचारों के सन्दर्भ में विवेचना करना है तथा इसमें गांधी जी पूरी तरह से सफल रहे।

12.5.8 सर्वोदय एवं समाज कार्य

सर्वोदय का अर्थ सबका उदय अथवा सबका विकास और सबकी उन्नति है। सर्वोदय का आदर्श भारतीय दर्शन का यह सिद्धान्त है कि विश्व के समस्त लोग सुखी हों। सब निष्कपट, निर्लोभी तथा नि:स्वार्थी हों। सब लोग दूसरों को सज्जन समझें तथा किसी को कभी भी किसी प्रकार का दु:ख न हो। सर्वोदय समाज के सभी व्यक्तियों का कल्याण अथवा हित चाहता है। आधुनिक रूप में सर्वोदय का विचार उसके प्रवर्त्तक महात्मा गांधी के हृदय में रस्किन की पुस्तक 'अन्टु दिस लास्ट' (Unto This Last) के अध्ययन से उत्पन्न हुआ। संक्षेप में, सर्वोदय गांधी जी द्वारा प्रतिपादित विचारधारा है जिसका आदर्श सबका उदय, सबका उत्थान और सबका हित है। पश्चिमी विचारधाराओं के विपरीत सर्वोदय मानव स्वभाव के आध्यात्मिक रूप का स्पर्श करता है और स्वयं को आदर्श भारतीय परम्पराओं के अनुरूप विकसित करता है। जयप्रकाश नारायण के शब्दों में "सर्वोदय जनता

का समाजवाद है चाहे समाजवादी सर्वोदय को सम्पूर्ण स्वीकार करे या न करें, वे यह अवश्य स्वीकार करेंगे कि जितना जनता का स्वत:गृहित समाजवाद होगा और जितना कम राज्य द्वारा सौंपा जाएगा उतना ही वह अधिक सत्य व पूर्ण **समाजवाद होगा।"**

सर्वोदय समाज की स्थापना की कल्पना गांधी जी के सिद्धान्तों के आधार पर की गई थी। सर्वोदय का वास्तविक उद्देश्य लोकसेवा है। इस दृष्टि से सर्वोदय का समाज सेवा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। गांधी जी की मृत्यु के उपरान्त यह निश्चय किया गया कि समाज सेवा का एक ऐसा कार्यक्रम बनाया जाए जिसका सत्ता से कोई सम्बन्ध न हो, किन्तु उस कार्यक्रम से देश का पुनर्निर्माण सम्भव हो सके। इसी के परिणामस्वरूप 22, 23 दिसम्बर, 1949 को "काका कालेलकर" की अध्यक्षता में सर्वोदय सम्मेलन आयोजित किया गया और 1950 को सर्वोदय समाज की विधिवत् घोषणा कर दी गई। आचार्य विनोबा भावे जिन्हें गांधी जी के निकट रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, सर्वोदय के प्रमुख प्रवर्त्तक माने गए हैं। इनके उपरान्त जयप्रकाश नारायण आदि महान् नेताओं ने भी सर्वोदय कार्यक्रम में भाग लिया। आचार्य विनोबा भावे ने सर्वोदय के निम्नलिखित तीन प्रमुख तत्वों का उल्लेख किया है-

1. **स्वच्छ विचार** - सर्वोदय समाज में इस बात पर बल दिया जाता है कि कोई शक्ति मुख्य रूप से बाध्यकारी या प्रधान नहीं होगी, केवल समाज में अच्छे विचारों का अनुशासन होगा।

2. **समाज कल्याण** - व्यक्ति की समस्त शक्ति समाज कल्याण के लिए प्रयोग की जाएगी और समाज प्रत्येक व्यक्ति के विकास के लिए समान अवसर प्रदान करेगा।

3.**पूर्ण ईमानदारी** - सर्वोदय समाज के प्रमुख तत्वों में ईमानदारी का प्रमुख स्थान है। प्रत्येक कार्य का नैतिक, सामाजिक व आर्थिक महत्व इस आधार पर होगा कि वह पूर्ण ईमानदारी के साथ किया जाए। सर्वोदय समाज सत्ताविहीन अथवा राज्यविहीन समाज की कल्पना पर आधारित है जिसमें प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्रात्मक शासन व दलीय पद्धति का विरोध किया जाता है। दलीय पद्धति से सदस्यों का नैतिक पतन भी होता है। सर्वोदय समाज किसी भी प्रकार की दमनकारी तथा निरंकुश शक्ति को आदर्श समाज का शत्रु मानता है। सर्वोदय समाज के लिए आचार्य विनोबा भावे एक ऐसी सरकार स्थापित करना चाहते हैं जो शक्तिविहीन हो और जिसकी योजनाओं में जनता स्वेच्छा से योगदान कर सके। सर्वोदय समाज एक ऐसे समाज की कल्पना करता है जिसमें बहुमत के दमन की निन्दा की जाए और इसके विपरीत राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त को बहुमत के आधार पर निर्धारित किया जाए। जयप्रकाश नारायण का मत है कि सर्वोदय समाज स्वचालित तथा स्वनियन्त्रित समाज होगा, जो सहयोग एवं सभी की इच्छा के आधार पर नियन्त्रित होगा और जिसमें किसी भी भौतिक शक्ति का कोई हस्तक्षेप नहीं होगा। इस समाज में सभी व्यक्ति अपनी स्वतन्त्र इच्छा से कार्य करेंगे। सर्वोदय समाज में सभी व्यक्ति अपनी-अपनी योग्यतानुसार कार्य करेंगे और सभी व्यक्तियों को उनकी आवश्यकतानुसार वस्तुएँ उपलब्ध होंगी। इस प्रकार सर्वोदय समाज में योग्यता और आवश्यकता पर ध्यान दिया जाएगा।

सर्वोदय समाज की प्रथम अवस्था ग्राम राज्य होगी। ग्राम राज्य का अर्थ ऐसी छोटी-छोटी प्रशासनिक व आत्मनिर्भर इकाइयों की स्थापना करना है जिनकी जनसंख्या तीन-चार हजार से अधिक न हो और जो प्रतिनिधि शासन की सरल इकाई के रूप में कार्य कर सकें। इस प्रकार की ग्राम इकाइयों में प्रत्येक व्यक्ति सब वस्तुओं का स्वामी होगा। ग्राम राज्य में सहकारिता, आत्मानुशासन तथा उत्तरदायित्व की भावना प्रमुख होगी। साथ ही, भूमिहीनों की समस्या के निदान के लिए भूदान आन्दोलन को प्रारम्भ किया गया।

सर्वोदय को समाज सुधार तथा सामाजिक परिवर्तन लाने का एक प्रमुख साधन माना जाता है। यह सामाजिक क्रांति का एक ठोस सुझाव है। सर्वोदय का आदर्श एक अहिंसक, शोषणरहित, जातिविहीन और वर्गरहित सहकारिता के आधार पर स्थापित समाज है। सर्वोदयी समाज में कृषि भूमि पर स्वामित्व का अधिकार जमीन जोतने वाले को दिया जाएगा तथा उद्योगों का विकेन्द्रीकरण किया जाएगा और बीमा कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण किया जाएगा। जयप्रकाश नारायण के अनुसार ग्राम पंचायतों को पुन: शक्तिशाली बनाने का कार्य प्रारम्भ किया जाएगा तथा निर्णय सर्वसम्मति से किए जाएँगे। उनके अनुसार वर्तमान प्रतियोगी अर्थव्यवस्था के स्थान पर सहयोग पर आधारित सामाजिक अर्थव्यवस्था स्थापित की जाएगी। उनके अनुसार, सर्वोदयी समाज में वर्ग-भेद नहीं होगा तथा समाज में पारस्परिक सहयोग तथा सद्भावना होगी

12.5.9 ग्रामदान एवं समाज कार्य

ग्रामदान आन्दोलन की प्रेरणा बापू गांधी, आचार्य विनोबा भावे तथा जयप्रकाश नारायण द्वारा मिली है। ग्रामदान आन्दोलन का प्रमुख उद्देश्य भूमि (जोकि उत्पादन की आधारभूत इकाई है) का भूमिहीन व्यक्तियों में बँटवारा है तथा एक ऐसे समाज की स्थापना करना है जिसमें शोषण न हो, व्यक्ति स्वयं अपने बारे में विभिन्न निर्णय ले सके तथा सत्ता अधिक से अधिक व्यक्तियों के हाथों में हो। ग्रामदान आन्दोलन भू-दान की ही एक अवस्था है जिसमें बड़े पैमाने पर भूमि दान में दी जाती है। भूमि का दान करना आदिकाल से ही बड़ा पवित्र माना गया है। उत्तर प्रदेश के मगरोथ जिले के ग्रामवासियों की इस आकस्मिक क्रिया के परिणामस्वरूप 1952 ई. में ग्रामदान आन्दोलन शुरू हुआ परन्तु इसे अधिक जन समर्थन केवल विनोबा भावे की पद यात्रा के बाद ही मिला। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् प्रजातान्त्रिक विकेन्द्रीकरण के लिए जहाँ एक ओर पंचायती राज का पुनर्गठन किया गया वहीं दूसरी ओर संगठनों विशेषकर सर्वोदय द्वारा प्रजातान्त्रिक विकेन्द्रीकरण का प्रयोग ग्रामदान गाँवों में किया गया। इन दोनों का उद्देश्य सत्ता का विकेन्द्रीकरण करना था ताकि निर्णय लेने की प्रक्रिया में अधिक से अधिक व्यक्ति हिस्सा ले सकें। ग्रामदान आन्दोलन के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं-

1. ग्रामदान द्वारा मिली जमीन भूमिहीन व्यक्तियों में बाँटना।
2. प्रजातान्त्रिक विकेन्द्रीकरण अर्थात् निर्णय लेने की प्रक्रिया में अधिक से अधिक व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त करना।
3. छुआछूत तथा जातिवाद को समाप्त करना,
4. खादी तथा ग्रामीण उद्योगों को विकसित करना,
5. गाँव में प्रारम्भिक शिक्षा का प्रबन्ध करना,
6. ग्रामीण व्यक्तियों में स्व-सहायता की भावना का विकास करना, तथा
7. गाँव को एक आत्म-निर्भर इकाई बनाना।

गांधी जी के विचार थे कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के बिना किसी भी समाज की स्थापना नहीं की जा सकती। सर्वोदय आन्दोलन का सार बिना अपने हित की पूर्ति से समूह की सेवा करना तथा व्यक्ति एवं समूह के सम्बन्धों में सहयोग का होना है। व्यक्तियों तथा समूहों में संघर्ष का इसमें कोई स्थान नहीं है। हाँ, व्यक्तियों में कुछ बातों के बारे में मतभेद हो सकते हैं परन्तु वे ऐसे नहीं होते कि जिनका समाधान न किया जा सके। वास्तव में, जयप्रकाश नारायण ने इस 'सामुदायिक समाज' की संज्ञा दी है जिसमें समुदाय को व्यक्ति से अधिक प्राथमिकता दी गई है। कोई भी व्यक्ति समुदाय के प्रति अपने अधिकार एवं उत्तरदायित्वों का पालन तभी कर सकता है, जबकि वह इनके बारे में जागरुक हो तथा इसके लिए उत्सुक हो। गांधी जी राज्य को अधिक अधिकार दिए जाने के विरोध में थे।

ग्रामदान आन्दोलन में जनशक्ति को महत्वपूर्ण मानते हुए इसकी सहायता से लोकनीति बनाए जाने की बात कही जाती है। विनोबा जी का कहना है कि इसके लिए सरकार की सत्ता का विकेन्द्रीकरण किया जाएगा तथा इसका बँटवारा गाँवों में किया जाएगा। प्रत्येक गाँव अपने आप में एक राज्य होगा। ग्रामदान में अल्पसंख्यक तथा बहुसंख्यकों का सामाजिक सन्दर्भ में कोई महत्व नहीं होगा क्योंकि इन गाँवों में प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए नहीं अपितु समुदाय के बारे में सोचेगा। प्रत्येक व्यक्ति समुदाय का सेवक है तथा समुदाय की सेवा करना सबका कर्तव्य है।

इस प्रकार, इसमें निम्नलिखित तीन अन्तर्सम्बन्धी बातों पर बल दिया जाता है-

1. व्यक्ति तथा समूह के उद्देश्य सहयोगात्मक होते हैं,
2. सत्ता के केन्द्रीकरण के बिना राजनीति का निर्माण किया जा सकता है, तथा
3. लघुता के कारण समुदाय के सभी व्यक्ति निर्णय लेने की प्रक्रिया में हैं।

वास्तव में, ग्रामदान द्वारा गाँवों के सामाजिक व राजनीतिक प्रक्रियाओं को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया गया। जब उद्देश्यों में समानता हो जाए तो उन माध्यमों को ढूँढा जा सकता है जिनसे वांछित उद्देश्यों को प्राप्त

करना है। सर्वोदय के नेता विधायक नहीं है तथा न ही इस बात की आशा की जानी चाहिए कि कानून बनाने वाले सर्वोदय विचारधारा द्वारा प्रभावित है। ग्रामदान अधिनियमों का बनाया जाना गांधी आदर्शों को मान्यता प्रदान करना है।

मनमोहन चौधरी के अनुसार उड़ीसा में पहला ग्रामदान कटक जिले के मानपुर गाँव मे 30 जनवरी, 1953 ई. में हुआ तथा विनोबा भावे जी के उड़ीसा आने पर 26 जनवरी, 1955 ई. तक इसमें काफी वृद्धि हो गई। केवल कोरापुर जिले में ही 26 ग्रामदान प्राप्त किए गए। 1956 ई. तक उड़ीसा में 1,575 ग्रामदान हो चुके थे। इस प्रकार, उड़ीसा में ग्रामदान ने समानता तथा सहयोग पर आधारित सामाजिक पुनर्निर्माण की सम्भावनाएँ बढ़ा दीं। भूमि का बँटवारा किया गया। सामूहिक कृषि की गई। इस पुनर्निर्माण में भूमिहीनों, जिन्हें ग्रामदान द्वारा भूमि दी गई है, को बैल तथा अन्य यन्त्र भी उपलब्ध करना, सहकारी समितियों का संगठन करना, सिंचाई, खादी, शिक्षा, ग्रामीण उद्योग, तथा स्वच्छता एवं स्वास्थ्य सुविधाएँ उपलब्ध कराना प्रमुख प्राथमिकताएँ मानी गईं।

सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री टी. के. ओमन ने राजस्थान के तीन ग्रामदान गाँवों-इदनपुरा (जोकि जयपुर जिले में स्थित है, बहुजातीय है तथा कुल जनसंख्या 336 है), सुकपुरा (जोकि नागौर जिले में है, बहुजातीय तथा कुल जनसंख्या 335 है) तथा बासवारा जिले में स्थित भूदानपुरा (जोकि एक जनजातीय गाँव है तथा जिसकी कुल जनसंख्या केवल 172 है) का अध्ययन किया है। इदनपुरा में 1959 ई. में ग्रामदान गाँव बना तथा 1960 ई. में 'राजस्थान ग्रामदान अधिनियम' बन जाने के पश्चात् 5 जुलाई, 1961 ई. में 35 गाँवों में ग्राम सभा की स्थापना की गई। सुकपुरा 1958 ई. में ग्रामदान गाँव बना तथा 1960 ई. में ग्राम सभा की स्थापना की गई, जबकि भूदानपुरा गाँव की स्थापना भूमिहीन भीलों को 1955 ई. में यह स्थान दिए जाने के बाद हुई तथा इसमें ग्राम सभा की स्थापना 1958 ई. में हुई। टी. के० ओमन इस बात को स्वीकार करते हैं कि ग्रामदान आन्दोलन के प्रभाव का अध्ययन अच्छी तरह से तभी हो सकता है जबकि ग्रामदान गाँवों की तुलना उन गाँवों से की जाए जिनकी सामाजिक संरचना तो समान है परन्तु ग्रामदान अधिनियम के अन्तर्गत नहीं आते। परन्तु वह इस विधि को नहीं अपनाते क्योंकि दोनों तरह के गाँवों में सत्ता संरचना में कोई समानता नहीं है।

12.6 समाज सुधार एवं समाजवाद

समाजवाद को कई बार समाज सुधार का सर्वोत्तम पथ माना जाता है। आधुनिक काल में समाजवाद का जन्म 19वीं शताब्दी तथा उसके जन्म का कारण इस शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति द्वारा उत्पन्न परिस्थितियाँ हैं। औद्योगिक क्रान्ति तथा पूँजीवादी नेतृत्व ने समाज के जीवन में गुणात्मक अन्तर उत्पन्न कर दिए। पूँजीवादी युग की महत्वपूर्ण विचारधारा परम्परागत उदारवाद है। समाजवादी विचारधाराओं का उद्देश्य सर्वहारा वर्ग के हितों की पूर्ति करने वाली एक नवीन विचारधारा की आवश्यकता, अनिवार्यता तथा औचित्य को सिद्ध करना था। शोषित तथा पीड़ित वर्ग की स्वतन्त्रता का बीड़ा समाजवादी विचारधारा ने उठाया। समाजवाद पूँजीवादी शोषण-व्यवस्था के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया तथा एक अभिनव समाज-दर्शन का निर्माण है। वस्तुत: समाजवाद पूँजीवाद विरोधी एक आधुनिक विचारधारा तथा व्यावहारिक कार्यक्रम है। समाजवादी शासन व्यवस्था में उत्पादन, वितरण तथा विनिमय के साधन राज्य के अधिकार-क्षेत्र में आ जाते हैं। यह राज्य समाज में व्याप्त आर्थिक असमानता को समाप्त करके नागरिकों को सामाजिक तथा आर्थिक न्याय प्रदान करने की व्यवस्था करता है। इसमें शोषण-रहित तथा अत्याचार-विहीन समाज की स्थापना पर बल दिया जाता है। वर्तमान समय में विश्व के अनेक देशों में किसी-न-किसी रूप में समाजवादी शासन व्यवस्थाएँ अस्तित्व में हैं। वर्तमान समय में यद्यपि विश्व के अनेक देशों में साम्यवादी किले ध्वस्त हो गए हैं, परन्तु समाजवादी राज्यों का अस्तित्व विश्व में अब भी बना हुआ है।

12.6.1 समाजवाद का अर्थ एवं परिभाषाएँ

राज्य के कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध में आधुनिक काल में समाजवाद सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथा लोकप्रिय सिद्धान्त रहा है। यह व्यक्तिवाद तथा पूँजीवाद के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया के साथ-साथ एक राजनीतिक दर्शन तथा महान आन्दोलन भी है। समाजवाद एक विचारधारा मात्र नहीं है, वरन् यह एक आदर्श, एक दर्शन, एक धर्म, एक विचार, एक सिद्धान्त, एक नीति, एक विश्वास तथा एक जीवन-प्रणाली आदि विभिन्न रूपों में प्रयुक्त होता है। राजनीतिक क्षेत्र में इसे कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों पर आधारित एक आन्दोलन का नाम दिया गया है जो राजनीतिक न होकर

मूल रूप से आर्थिक है। इसका उद्देश्य राष्ट्रीय धन का न्यायपूर्ण वितरण करना है, जिससे सर्वसाधारण का पूंजीपतियो के शोषण से बचाया जा सके तथा सभी क्षेत्रों में न्याय-व्यवस्था की स्थापना की जा सके। राजनीतिक दृष्टि से समाजवाद व्यक्तिवाद का विरोधी है। व्यक्तिवाद राज्य को एक आवश्यक बुराई मानता है और आर्थिक तथा सामाजिक जीवन में मुक्त प्रतियोगिता और संघर्ष को सर्वाधिक महत्व प्रदान करता है। इसके विपरीत समाजवाद संघर्ष तथा प्रतियोगिता को समाप्त करके सहयोग को सामाजिक जीवन का आधार बनाना चाहता है और सामूहिक प्रयत्नों के द्वारा ऐसी सामाजिक परिस्थितियों का निर्माण करना चाहता है, जिनके अन्तर्गत समाज के समस्त व्यक्तियों को सुखी और समृद्ध जीवन व्यतीत करने तथा अपनी नैसर्गिक शक्तियों के विकास करने के समान अवसर प्राप्त हो सकें। वस्तुत: समाजवाद का आदर्श ऐसे समाज की स्थापना करना है, जिसमें उत्पादन के साधनों तथा वितरण पर सामाजिक नियन्त्रण हो और आर्थिक विषमता का अन्त हो जाए।

समाजवाद का स्वरूप भी सदैव एक-सा नहीं रहा है। समय तथा परिस्थितियों के अनुरूप इसके स्वरूप में सशोधन, परिवर्तन तथा परिवर्द्धन होते रहे हैं। वस्तुत: समाजवाद एक प्रगतिशील तथा परिवर्तनशील विचारधारा है। समाजवाद के विषय में सी. ई. एम. जोड ने कहा था कि "समाजवाद एक ऐसे टोप की भाँति है, जिसकी शक्ल विकृत हो चुकी है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति इसे पहनता है।"

समाजवाद की अनेक परिभाषाएँ है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि जितने विचारको ने समाजवाद पर विचार किया है, उतनी ही समाजवाद की परिभाषाएँ भी हैं। 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' (**Encyclopedia Britannica**) के अनुसार, "समाजवाद वह नीति अथवा सिद्धान्त है जिसका उद्देश्य केन्द्रीय लोकतान्त्रिक सत्ता द्वारा सम्पत्ति का अधिक अच्छा वितरण और उत्पादन करना है।" हम्फ्रे (**Humphrey**) के अनुसार, "समाजवाद एक सामाजिक व्यवस्था है, जिसके अन्तर्गत जीवन के साधनों पर सम्पूर्ण समाज का स्वामित्व होता है और पूरा समाज सामान्य कल्याण को बढ़ाने के उद्देश्य से उनका विकास और प्रयोग करता है।" सेलर्स (**Sellers**) के अनुसार, "यह एक लोकतान्त्रिक आन्दोलन है, जिसका उद्देश्य समाज में एक ऐसे आर्थिक संगठन की स्थापना करना है जो किसी एक समय पर अधिकतम न्याय व स्वतन्त्रता प्रदान कर सके।" इसी भाँति, आचार्य नरेन्द्र देव (**Acharya Narendra Dev**) के अनुसार, "समाजवाद का उद्देश्य एक वर्गहीन समाज की स्थापना करना है, जिसमें न कोई शोषक होगा, न शोषित; वरन् समाज सहकारिता के आधार पर निर्मित व्यक्तियों का एक सामूहिक संगठन होगा।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि समाजवाद पूँजीवाद का घोर विरोधी है तथा यह पूँजीवाद और असमानता को समाप्त कर उत्पादन, वितरण तथा विनिमय के साधनों (भूमि तथा उद्योग आदि) पर समाज का नियन्त्रण स्थापित करना चाहता है। यह एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था का आदर्श प्रस्तुत करता है, जिसमें व्यक्ति भौतिक चिन्ताओं से मुक्त होकर अपनी इच्छानुसार अपना जीवन व्यतीत कर सके और स्वतन्त्रतापूर्वक अपने व्यक्तित्व का विकास कर सके। विकास का यह पथ कल्याणकारी राज्य के लक्ष्यों को प्राप्त करने हेतु सर्वाधिक उपयुक्त माना जाता है।

बोध प्रश्न

1 समाज सुधारक के रूप मे गाँधीजी का भूमिका बताइए?

2 ग्रामदान आंदोलन के उद्देश्य लिखो?

12.7 समाजवाद की विशेषताएँ

समाजवाद के अनेक प्रकार हैं और उन सभी की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। अधिकांशत: समाजवाद में निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती है-

NOTES

1. **व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन** - सभी समाजवादियों का विचार है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन होना चाहिए। व्यक्तिगत सम्पत्ति के परिणामस्वरूप पूँजीवाद पनपता है, शोषण तथा आर्थिक असमानता में वृद्धि होती है तथा समस्त समाज शोषक तथा शोषित दो वर्गों में विभाजित हो जाता है। अत: समाज की समस्त व्यक्तिगत सम्पत्ति का समाजीकरण होना चाहिए, जिससे उसका लाभ सभी को समान रूप में प्राप्त हो सके तथा सभी का जीवन सुखमय हो सके। वस्तुत: समाजवादी विचारधारा स्वतन्त्रता की अपेक्षा आर्थिक समानता को अधिक महत्व देती है। इस सम्बन्ध में लास्की का विचार था कि समाजवाद के अनुसार, "आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता व्यर्थ है।"

2 **सामुदायिक जीवन की सर्वोपरिता** - सभी समाजवादियों का विचार है कि व्यक्ति के विकास को सामाजिक विकास के अधीन ही होना चाहिए। समाजवादी व्यक्ति की अपेक्षा समाज, समूह तथा राज्य को अधिक महत्व देते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति समाज के सम्मुख गौण है। इस सम्बन्ध में रोशर का विचार था कि "समाजवाद उन प्रवृत्तियों का समर्थक है, जो सार्वजनिक कल्याण पर जोर देती हैं।" इसी प्रकार फ्रेड-ब्रेमले का विचार है कि 'समाजवाद का अर्थ व्यक्तिगत हितों को सामाजिक हितों के अधीन बना देना है।"

3 **समानता** - समाजवाद एक ऐसे स्वतन्त्र समाज में विश्वास करता है, जो व्यक्ति की समानता के सिद्धान्त पर आधारित हो। इस समाज में सभी व्यक्तियों के विशेषाधिकारों का अन्त कर दिया जाता है और सभी को काम के अनुसार पारिश्रमिक दिया जाता है। इस समाज में प्रत्येक व्यक्ति के लिए श्रम करना आवश्यक होगा वस्तुत: समाजवाद सामाजिक विषमता को समाप्त करके सामाजिक समानता स्थापित करना चाहता है। लावेलिए के अनुसार, "प्रत्येक समाजवादी सिद्धान्त का ध्येय है कि सामाजिक अवस्था में अधिक- से-अधिक समानता लाई जाए। समाजवाद सबको समान करने वाला और एक स्तर पर लाने वाला सिद्धान्त है।'

4 **उत्पादन के समस्त साधनों पर राज्य का अधिकार** - समाजवादी विचारकों के अनुसार उत्पादन के समस्त साधनों पर राज्य का एकाधिकार होता है। सम्पूर्ण भूमि राज्य के अधीन होती है तथा राज्य की सम्पत्ति मानी जाती है। कारखाने, खानें तथा अन्य दूसरे उत्पादन के साधन भी राज्य के अधीन ही होते हैं। ब्लैचफोर्ड के शब्दों में, "भूमि तथा उत्पादन के सभी साधनों को राष्ट्रीय सम्पत्ति बना दो; सभी खेतों, खानों, जहाजों तथा रेलों को राष्ट्रीय नियन्त्रण में रख दो, तब व्यावहारिक समाजवाद पूरा हो जाएगा।" इस व्यवस्था में व्यक्तिगत लाभ का कोई अर्थ नहीं होता है तथा श्रमिकों के साथ उचित न्याय किया जाता है। इस समाज में प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग की स्थापना होती है।

5. **व्यक्तिगत प्रतिस्पर्द्धा का अन्त** - इस शासन व्यवस्था में व्यक्तिगत प्रतिस्पर्द्धा की भावना पूर्ण रूप से समाप्त हो जाती है। प्रत्येक व्यापार और व्यवसाय में श्रमिकों को उचित वेतन दिया जाता है। इस व्यवस्था में सभी कार्य सहयोग के आधार पर किए जाते हैं। हेडन गेस्ट के अनुसार, "समाजवाद प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग लाना चाहता है।"

6. **उत्पादन नियोजित ढंग से होना** - समाजवादी व्यवस्था में उत्पादन नियोजित ढंग से होता है तथा वस्तुओं का उत्पादन आवश्यकतानुसार होता है, कम व अधिक नहीं।

7. **कला तथा प्रतिभा का विकास होना** - समाजवादी व्यवस्था में कला तथा प्रतिभा का विकास होता है तथा मनुष्यों में स्वावलम्बन की भावना उत्पन्न होती है, क्योंकि उनका शोषण नहीं होता है।

8. **समाजवाद शान्ति का पोषक** - समाजवाद ऐसी अर्थव्यवस्था स्थापित करना चाहता है, जिसके परिणामस्वरूप शान्ति और सहयोग की भावना विकसित हो सके। व्यक्तिवादी अर्थव्यवस्था पूँजीवाद को जन्म देती है और पूँजीवाद साम्राज्यवादी युद्धों को प्रोत्साहन देता है, जिससे विश्व में अशान्ति उत्पन्न होती है। अत समाजवाद व्यक्तिवादी अर्थव्यवस्था को समाप्त करना चाहता है।

9. **अपव्यय पर प्रतिबन्ध** - पूंजीवादी व्यवस्था में अधिकांश कार्य लाभ की दृष्टि से किए जाते हैं, जिसके फलस्वरूप विज्ञापन, प्रचार आदि पर अपव्यय किया जाता है। परन्तु समाजवाद समाज को इन अपव्ययों से मुक्ति दिलाना चाहता है।

10. **समाजवाद का उद्देश्य पूँजीवाद का उन्मूलन** - समाजवाद व्यक्तिवादी विचारधारा तथा पूँजीवादी व्यवस्था के विरोध पर आधारित है। यह पूँजीवाद का विरोध इसलिए करता है क्योंकि पूँजीवाद से आर्थिक असमानता तथा शोषण में वृद्धि होती है। आन्तरिक क्षेत्र में पूँजीवाद का परिणाम वर्ग-संघर्ष और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में साम्राज्यवाद की स्थापना होती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि समाजवाद व्यक्तिवाद के विरुद्ध एक ऐसी प्रतिक्रिया है, जिसके द्वारा वैयक्तिक हित के स्थान पर सामूहिक हित की स्थापना की जाती है तथा पूँजीवाद का उन्मूलन करके आर्थिक समानता स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है।

12.7.1 समाजवाद के पक्ष में तर्क

समाजवादी विचारधारा आधुनिक युग की एक बहुत **ही लोकप्रिय विचारधारा है।** इसके पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जा सकते हैं-

1. **शोषण पर आधारित पूँजीवाद का विरोध** - समाजवाद पूँजीवाद का विरोध करता है, क्योंकि पूँजीवाद शोषण पर आधारित समाज की स्थापना करता है। पूँजीपति श्रमिकों तथा साधन-विहीन वर्गों का शोषण करते हैं। पूँजीवाद के कारण आर्थिक असमानता उत्पन्न होती है, जिससे सामाजिक प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। समाजवाद इस शोषण का अन्त करके समाज में समानता लाना **चाहता है।**

2. **अधिक प्रजातान्त्रिक स्वरूप** - पूँजीवादी व्यवस्था में सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था थोड़े-से व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप असमानता तथा शोषण की स्थिति उत्पन्न होती है। जहाँ आर्थिक समानता नहीं होगी, वहाँ लोकतन्त्र भी सफल नहीं हो सकता। इसलिए लोकतन्त्र को सफल बनाने के लिए समाजवाद लाना आवश्यक है। लेडलर के शब्दों में "लोकतन्त्रीय आदर्श का आर्थिक पक्ष वास्तव में समाजवाद ही है।"

3. **धन के अपव्यय को रोकना** - पूंजीवादी व्यवस्था में आर्थिक प्रतियोगिता होती है और प्रचार माध्यमों तथा विज्ञापनों पर बहुत अधिक धन व्यय होता है। इस व्यवस्था में उत्पादन आवश्यकतानुसार नहीं होता, वरन उत्पादन व्यक्तिगत लाभ तथा हितों के लिए होता है। समाजवाद पूँजीवाद के इन सब दोषों को दूर करता है तथा खुली प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग पर विशेष बल देता है।

4. **अपेक्षाकृत न्याय पर आधारित** - पूँजीवादी व्यवस्था में सम्पत्ति तथा उत्पादन के साधनों पर केवल पूँजीपतियों का अधिकार होता है और शेष जनता आर्थिक रूप से विपन्न रहती है। इसके विपरीत, समाजवाद इस बात का प्रयत्न करता है कि उत्पादन के साधनों और सम्पत्ति पर समाज का नियन्त्रण होना चाहिए। इसलिए समाजवादी व्यवस्था न्याय पर अधिक आधारित है।

5. **व्यक्तित्व का विकास** - समाजवाद के अनुसार राज्य का एक उद्देश्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करना भी है। इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए राज्य व्यक्ति को धार्मिक, आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में विभिन्न प्रकार की स्वतन्त्रताएँ प्रदान करता है। विलियम मॉरिस के अनुसार "समाजवाद के अन्तर्गत व्यक्ति पहले की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र होंगे।"

6. **वर्गविहीन समाज की स्थापना** - समाजवादी विचारक एक ऐसे समाज की स्थापना करने में विश्वास करते हैं, जिसमें कोई वर्ग अधिक सबल एवं शक्तिशाली न हो जिससे वह दूसरे वर्गों का शोषण कर सके। समाजवाद वर्गविहीन समाज की स्थापना करना चाहता है।

7. **अधिक स्वाभाविक** - समाजवादियों का विचार है कि यह पूँजीवाद की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक है। प्रकृति ने वायु तथा जल सभी व्यक्तियों को समान रूप से प्रदान किया है। अतः यह उचित है कि भूमि सम्पत्ति तथा उत्पादन के साधनों पर सभी व्यक्तियों का समान अधिकार हो

8 **अधिक वैज्ञानिक** - समाजवाद पूँजीवाद की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है, क्योंकि पूंजीवाद केवल मुट्ठी भर पूँजीपतियों के हितों पर ध्यान देता है, जबकि समाजवाद समस्त जनता के कल्याण पर बल देता है।

9 **वर्तमान आर्थिक विषमता का उचित समाधान** - समाजवाद केवल एक सैद्धान्तिक विचारधारा ही नहीं है, वरन् व्यावहारिक रूप से समाजवाद वर्तमान आर्थिक जीवन के दोषों का वर्णन करने के साथसाथ इन दोषों को दूर करने का व्यावहारिक मार्ग भी बताता है।

12.7.2 समाजवाद के विपक्ष में तर्क

समाजवाद के आलोचकों ने इसे अव्यावहारिक, अमनोवैज्ञानिक तथा अक्रियात्मक कहकर पुकारा है तथा इसकी अनेक दृष्टिकोण के आधार पर आलोचना की है-

1. **निरंकुश राज्य की स्थापना के लिए उत्तरदायी** - समाजवादी व्यवस्था के अनुसार राज्य के अधिकार और कार्य इतने बढ़ जाते है कि वह पूर्णत: निरंकुश हो जाता है। केन्द्रीकृत व्यवस्था के कारण समाजवाद प्रजातन्त्र के विरुद्ध है तथा यह वैयक्तिक स्वतन्त्रता का विरोधी है। इस प्रकार समाजवाद से नौकरशाही को प्रोत्साहन मिलता है

2. **श्रमिकों को उत्पादन का एकमात्र साधन मानना त्रुटिपूर्ण** - समाजवाद की यह धारणा अनुचित है कि श्रमिक ही उत्पादन का एकमात्र साधन है। वास्तविकता यह है कि श्रम के अतिरिक्त पूँजी प्रबन्ध तथा अन्य साधन भी उत्पादन के लिए आवश्यक है।

3 **मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दोषपूर्ण** - समाजवाद मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी दोषपूर्ण है। समाजवाद का मूल आधार व्यक्तियों की समानता है परन्तु सभी मनुष्य एक-समान श्रमशील तथा तीव्र बुद्धि के नहीं होते और न ही सभी सामाजिक कल्याण की भावना से कार्य करते है। वस्तुत शारीरिक, मानसिक तथा आर्थिक समानताएँ असम्भव और कोरी कल्पनाएँ हैं।

4. **व्यक्तिगत उत्साह का ह्रास हो जाना** - समाजवाद व्यक्तिगत सम्पत्ति का अन्त कर देना चाहता है। परन्तु व्यक्तिगत सम्पत्ति के अभाव में लोगों मे कार्य करने की क्षमता और उत्साह का ह्रास होगा तथा काम करने की स्वाभाविक प्रेरणा नहीं मिलेगी एवं आत्मनिर्भरता और स्वावलम्बन की भावना कुण्ठित हो जाएगी।

5. **व्यावहारिक दृष्टि से दोषपूर्ण** - समाजवाद व्यावहारिक दृष्टि से भी दोषपूर्ण है। इसके अनुसार उत्पादन और वितरण का राष्ट्रीयकरण तथा उन पर राज्य का नियन्त्रण होना चाहिए। परन्तु राज्य इतने बड़े उत्तरदायित्व का सफलतापूर्वक निर्वाह नहीं कर सकता। इससे उत्पादन का ह्रास होता है और नौकरशाही का बोलबाला हो जाता है।

6. **समाज का दो वर्गों में विभाजन** - समाजवाद समाज को दो वर्गों-स्वामी तथा श्रमिक में विभाजित कर देता है। इन दोनों वर्गों के हित परस्पर विरोधी है तथा पूँजीपति श्रमिक का शोषण करता है। इससे समाज में वैमनस्य तथा अशान्ति उत्पन्न होती है।

7 **क्रान्तिकारी तथा हिंसात्मक मार्ग अनुचित** - समाजवाद अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए क्रान्तिकारी तथा हिंसात्मक साधनों को अपनाता है। समाजवाद की अनेक विचारधाराएँ शान्तिपूर्ण साधनों में विश्वास नहीं करतीं। परन्तु लोकतान्त्रिक युग में क्रान्तिकारी तथा हिंसात्मक साधन उचित नहीं है।

8 **राज्य का पूर्ण विघटन भी अवांछनीय** - जो समाजवादी (श्रमिक-संघवादी तथा अराजकतावादी) राज्य के पूर्ण विघटन के पक्ष में है, वे भी भावुक तथा कल्पनावादी और अव्यावहारिक हैं। जिस प्रकार निरंकुश राज्य व्यवस्था समाजवाद नही ला सकती उसी प्रकार अराजकता की स्थिति में समाजवाद नहीं लाया जा सकता है।

9 **विकेन्द्रीकरण का अभाव** - समाजवादी विचारक राज्य को सर्वशक्तिमान मानते हुए शक्तियों का केन्द्रीकरण करने में विश्वास रखते है। इस प्रकार यह विचारधारा शक्तियों के विकेन्द्रीकरण का विरोध करती है और आधुनिक लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों की उपेक्षा करती है। इस प्रकार यह स्वतन्त्रता की भी विरोधी है। लीकॉक के शब्दों में, "समाजवाद के अन्तर्गत स्वाधीनता का अन्त हो जाएगा। एक चुने हुए स्वामी के शासन के अतिरिक्त वहाँ और कुछ नहीं होगा। श्रमिक को अपना कार्य करने के लिए आदेश मिलेगा और वह उसका पालन करेगा।"

10. **संकुचित दर्शन** - समाजवाद के आलोचकों का विचार है कि समाजवाद केवल आर्थिक जीवन की व्याख्या करता है और यह मानव जीवन के अन्य क्षेत्रों की उपेक्षा करता है। आलोचकों का यह भी मत है कि समाजवाद में मानव का नैतिक पतन हो जाएगा। इस प्रकार यह एक संकुचित दर्शन है।

11. **पारिवारिक जीवन के सम्बन्ध में दूषित दृष्टिकोण** - समाजवादी विचारधारा एक राजनीतिक तथा आर्थिक विचारधारा है, परन्तु अनेक समाजवादी लेखकों ने पारिवारिक जीवन के सम्बन्ध में बहुत ही असंगत विचार प्रस्तुत किए हैं। हेरे क्लेच के शब्दों में, "मैं विवाह का उन्मूलन करना चाहता हूँ। हम किसी प्रकार का बन्धन नहीं चाहते। हम उन्मुक्त प्रेम में विश्वास करते हैं।" इसी प्रकार जी. डेविल का विचार है कि "विवाह सम्पत्ति को नियमित करता है, वह स्त्री-पुरुष के सम्मिलन से अधिक एक व्यापारिक समझौता है।"

NOTES

समाजवाद को व्यावहारिक रूप देने के लिए अनेक विचारधाराओं का जन्म हुआ। इन सभी विचारधाराओं मे उद्देश्यों की समानता होते हुए भी साधनों की भिन्नता है। कुछ विचारधाराएँ बहुत उग्र हैं तथा हिंसा और क्रान्ति में विश्वास करती हैं। वस्तुत: समाजवाद की अधिकांश आलोचनाएँ इसकी विभिन्न विचारधाराओं की आलोचनाएँ ही हैं। इन आलोचनाओं के बावजूद भी यह सत्य है कि विश्व की प्रगतिशील शक्तियाँ पूँजीवाद के विरुद्ध हैं और समाजवाद का समर्थन करती हैं। समाजवाद विश्व के विभिन्न देशों में किसी-न-किसी रूप में फैल चुका है। वस्तुत: समाजवाद पूँजीवाद और व्यक्तिवाद से श्रेष्ठ है क्योंकि इसका उद्देश्य शोषण तथा आर्थिक असमानता को दूर करके समाज में सुख, शान्ति तथा समृद्धि लाना है।

12.8 समाजवादी राज्य के कार्य

समाजवादी पथ में विश्वास करने वाले विचारक भी कल्याणकारी राज्य के समान ही राज्य के कार्य-क्षेत्र को बहुत व्यापक कर देते हैं तथा राज्य से यह अपेक्षा करते हैं कि राज्य मानव जीवन के सभी क्षेत्रों का नियमन तथा नियन्त्रण करे। समाजवादी उत्पादन के साधनों पर राज्य के नियन्त्रण को स्वीकार करते हैं। समाजवादी राज्य के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं-

क्रान्तिकारी समाजवादी (साम्यवादियों) के अनुसार राज्य के कार्य निम्नलिखित हैं-

1. **अपराधों की रोकथाम तथा दण्ड की व्यवस्था** - नागरिकों के जीवन तथा सम्पत्ति की सुरक्षा करने का दायित्व राज्य का होता है। कानून के समक्ष नागरिकों के समान अधिकारों को मान्यता प्राप्त होती है। साम्यवादी अपराधों की रोकथाम के लिए 'आतंक' तथा 'दमन' की नीति के प्रयोग को उपयुक्त मानते हैं। छोटे-से अपराध के लिए भी कठोर दण्ड की व्यवस्था की जाती है। साम्यवादी देशों में सार्वजनिक सम्पत्ति को क्षति पहुँचाने वाले व्यक्तियों को मृत्युदण्ड तक दे दिया जाता है। जो व्यक्ति साम्यवादी व्यवस्था को समाप्त करने का प्रयास करते हैं, उनको भी राज्य के द्वारा कठोर दण्ड दिया जाता है। साम्यवादी देशों में सिद्धान्तत: यह स्वीकार किया जाता है कि राज्य किसी भी नागरिक को स्वेच्छाचारी ढंग से दण्डित नहीं करेगा, परन्तु व्यवहार में यह देखा गया है कि साम्यवादी देशों में स्वेच्छाचारी ढंग से नागरिकों को बन्दी बनाया जाता है, विरोधियों को देश से निर्वासित कर दिया जाता है अथवा मृत्युदण्ड दे दिया जाता है।

2. **समुचित न्यायिक कार्यों का सम्पादन करना** - साम्यवादी देशों में निजी सम्पत्ति का अधिकार बहुत सीमित है, अत: इन देशों में दीवानी विवादों की संख्या सीमित होती है। उत्पादन के साधनों पर राज्य का नियन्त्रण होने के कारण श्रमिकों के हड़ताल करने के अधिकार को प्रतिबन्धित कर दिया जाता है जिससे मालिको एवं कर्मचारियो के मध्य विवाद की सम्भावना ही समाप्त हो जाती है। राज्य दीवानी मामलों में-श्रम कानून, श्रमिक-अकुशलता, निजी सम्पत्ति, निर्वाह धन तथा उत्तराधिकार से सम्बन्धित मामलों का निपटारा करता है। फौजदारी विवादों में-सार्वजनिक सम्पत्ति की क्षति, करों की चोरी तथा नागरिकों के सम्मान तथा उनकी स्वतन्त्रता पर आघात-को सम्मिलित किया जाता है। न्यायालयों का कार्य न केवल अपराधियों को दण्डित करना अथवा कानूनों की व्याख्या करना है, वरन् 'समाजवादी व्यवस्था' की रक्षा करना भी है। साम्यवादी व्यवस्था में निजी वकीलों की व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया जाता है।

3. **शैक्षिक एवं सांस्कृतिक कार्यों का सम्पादन** - साम्यवादी शासन-व्यवस्था में सास्कृतिक एव धार्मिक जीवन पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण होता है। साम्यवादी अवधारणा धर्म को विरोधी है। कुछ साम्यवादी देशों में सिद्धान्तत:

धार्मिक स्वतन्त्रता को मान्यता प्रदान की जाती है, परन्तु व्यवहार में धार्मिक गतिविधियों पर राज्य का कठोर नियन्त्रण होता है। शिक्षा राज्य के द्वारा नियन्त्रित तथा संचालित होती है। शिक्षा के प्रयोग के द्वारा समाजवाद के सिद्धान्तों में पूर्ण निष्ठा रखने वाले बुद्धिजीवी वर्ग का निर्माण करने का प्रयास किया जाता है। औद्योगीकरण की प्रक्रिया को तीव्र करने के उद्देश्य से तकनीकी एवं प्रौद्योगिकी शिक्षा का अत्यधिक प्रचार एवं प्रसार किया जाता है। जन संचार के साधनों का प्रयोग साम्यवादी सिद्धान्तों के प्रचार तथा प्रसार में किया जाता है। अनेक साम्यवादी देशों में सांस्कृतिक क्रान्ति के नाम पर साम्यवादी विचारधारा का विरोध करने वाले लाखों व्यक्तियों को मौत के घाट उतार दिया गया।

4. **कल्याणकारी कार्यों का सम्पादन** - साम्यवादी राज्यों में एक निश्चित आयु तक के बच्चों को निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की जाती है। विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियाँ प्रदान की जाती हैं। बीमारी, शारीरिक अक्षमता अथवा दुर्घटना की स्थिति में राज्य के द्वारा नागरिकों को पेन्शन दी जाती है तथा सम्पूर्ण चिकित्सा का भार भी राज्य के द्वारा वहन किया जाता है। श्रमिकों के लिए कार्य करने के घण्टों को निश्चित कर दिया जाता है तथा अवकाश विश्राम-गृहों, क्लबों व स्वास्थ्य केन्द्रों की स्थापना की जाती है। स्त्रियों को पुरुषों के समान वेतन तथा अन्य सुविधाएं प्रदान की जाती हैं।

5. **आर्थिक क्रियाओं का सम्पादन** - साम्यवादी राज्यों में राज्य के द्वारा आर्थिक क्रियाओं पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण होता है। साम्यवादी देशों में अर्थव्यवस्था का आर्थिक नियोजन के आधार पर संचालन किया जाता है। औद्योगीकरण की प्रक्रिया को तीव्र किया जाता है तथा राज्य के द्वारा भारी उद्योग की स्थापना पर बल दिया जाता है। सहकारिता को प्रोत्साहित किया जाता है। राष्ट्रीयकरण पर विशेष बल दिया जाता है। अत्यधिक उत्पादन को दृष्टिगत रखते हुए श्रमिकों के अनुशासन पर विशेष ध्यान दिया जाता है। नागरिक केवल अपने श्रम के द्वारा अर्जित या वसीयत द्वारा प्राप्त व्यक्तिगत सम्पत्ति को रख सकते हैं तथा उनका स्वतन्त्रतापूर्वक उपभोग कर सकते हैं।

विकासवादी समाजवादियों के अनुसार राज्य के कार्यों की अवधारणा लोक-कल्याणकारी राज्यों के समान ही है। समाजवादी व्यवस्था में राज्य के समस्त उत्पादन के साधनों पर राज्य का नियन्त्रण होता है तथा उद्योगों तथा व्यवसायों का एकमात्र प्रबन्ध राज्य के द्वारा किया जाता है। उत्पादन के साधनों के सम्बन्ध में राष्ट्रीयकरण की नीति को अपनाया जाता है। समस्त नागरिकों के भरण-पोषण का दायित्व राज्य पर होता है। राज्य के द्वारा पर्याप्त रोजगार के साधन उपलब्ध कराए जाते हैं। समाजवादी राज्य जन-कल्याण के लिए सार्वजनिक शिक्षा एवं स्वास्थ्य का प्रबन्ध करता है। इसके अतिरिक्त, सामाजिक एवं आर्थिक विषमता का अन्त करना, मनोरंजन की व्यवस्था करना, विकलांगों एवं वृद्धों की सहायता करना आदि; अनेक जन-कल्याणकारी कार्यों का सम्पादन किया जाता है। गार्नर के शब्दों में, "इस सिद्धान्त के समर्थक व्यक्तिवादियों के समान राज्य पर अविश्वास करके एवं उसे बुराई मानकर उसके कार्य-क्षेत्र को कम-से-कम करने के विपरीत राज्य को सर्वोच्च एवं निश्चित रूप में लाभप्रद मानते हैं और चाहते हैं कि राज्य के कार्य जनता के सामान्य, आर्थिक, बौद्धिक एवं नैतिक हितों की अभिवृद्धि करें।

समाजवादी शासन व्यवस्था में समाजवादी अवधारणा के अनुरूप राज्य के कार्य-क्षेत्र अथवा कार्यों में अप्रत्याशित रूप से वृद्धि हो जाती है। समाजवादी चिन्तन में समाजवाद के स्थान पर 'राज्य समाजवाद' की स्थापना हो जाती है। उत्पादन के साधनों पर राज्य के नियन्त्रण के कारण नौकरशाही की शक्तियों में अपार वृद्धि हो जाती है जिससे प्रशासन में लालफीताशाही, रिश्वत एवं भ्रष्टाचार के दुर्गुणों का प्रभाव स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होने लगता है।

विश्व से समाजवादी व्यवस्थाओं के पतन के लिए यह स्थिति सबसे अधिक उत्तरदायी है। समाजवाद में राजनीतिक तथा आर्थिक शक्तियों पर राज्य के आधिपत्य एवं नियन्त्रण के कारण व्यक्तिगत स्वतन्त्रताएँ एवं अधिकार अपना औचित्य समाप्त कर देते हैं। व्यक्ति तो राज्यरूपी मशीन का एक पुर्जा मात्र बनकर रह जाता है। बैलोक के शब्दों में "व्यक्ति राज्य का दास बन जाएगा तथा समाजवाद एक गुलाम राज्य की नींव डालता है।" समाजवादी राज्य में विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति के स्थान पर केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया जाता है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद भी, समाजवादी राज्य की अवधारणा का वर्तमान समय में भी व्यापक प्रभाव है। समाजवाद के प्रति व्यक्तियों की आस्थाएँ तथा विश्वास बढ़ा है। विकासवादी समाजवाद के सिद्धान्त

लोक-कल्याणकारी राज्य की अवधारणा पर ही आधारित है, अत: आधुनिक लोकतान्त्रिक राज्यों में भी समाजवादी सिद्धान्तों को निश्चित रूप से अपनाया जा सकता है। समाज कार्य की दृष्टि से भी लोक-कल्याणकारी राज्य ही सर्वाधिक उपयुक्त है।

बोध प्रश्न

1. समाजवाद की विशेषताएँ लिखो?

....

2. समाजवादी राज्य के कार्य लिखो?

....

12.9 सारांश

सामाजिक परिवर्तन का एक रूप सामाजिक आन्दोलन है यह एक सामूहिक व्यवहार है। सामाजिक आन्दोलन समाज में नई व्यवस्था प्रारंभ करने के लिए किये जाते हैं। सामाजिक आंदोलनों का लक्ष्य समाज में विचारधाराओं में परिवर्तन लाना है।

सामाजिक आन्दोलनो की प्रकृति दबाव या स्वार्थ संबधी नहीं होती कृषक व जनजातीय समाज मे आंदोलन द्वारा उनकी कई समस्याओं का समाधान हुआ है। प्राचीनकाल से ही हमारे देश में व्याप्त कुरीतियों के लिए कई प्रकार के सामाजिक आन्दोलन चलाए गए। समाज में व्यापक परिवर्तन हुआ।

सर्वोदय का अर्थ है सबका उदय जो समाज सेवा से संबंधित है। इसके प्रमुख तत्व स्वच्छ विचार ईमानदारी तथा समाज कल्याण है। समाजवाद पूँजीवाद का विरोधी है तथा कल्याणकारी राज्य के लक्ष्यों को प्राप्त करने का साधन है। समाजवाद एक लोकप्रिय विचारधारा है इसलिए इसके पक्ष में कई तर्क दिये गए हैं किन्तु कुछ विचारक इसके विरोधी भी हैं। जो इस विचारधारा को अव्यवहारिक व अक्रियात्मक मानते हैं।

समाजवादी राज्य नागरिकों के कल्याण के लिए व्यापक स्तर पर कार्य करते हैं।

12.10 शब्दावली

सामाजिक आन्दोलन - सामाजिक आन्दोलन सामाजिक संरचना अथवा व्यवस्था में परिवर्तन लाने या इसका विरोध करने का एक संगठित प्रयास है जोकि किसी सामान्य विचारधारा पर आधारित है।

सर्वोदय - सर्वोदय का अर्थ सबका उदय अथवा सबका विकास और सबकी उन्नति है।

ग्रामदान - ग्रामदान एक ऐसा आन्दोलन है जिसका प्रमुख उद्देश्य भूमि का भूमिहीन व्यक्तियों में बँटवारा करना तथा एक ऐसे समाज की स्थापना करना है जिसमें शोषण न हो, व्यक्ति स्वयं अपने बारे में विभिन्न निर्णय ले सके तथा सत्ता अधिक से अधिक व्यक्तियों के हाथों में हो।

समाजवाद - समाजवाद एक सामाजिक व्यवस्था है, जिसके अन्तर्गत जीवन के साधनों पर सम्पूर्ण समाज का स्वामित्व होता है और पूरा समाज सामान्य कल्याण को बढ़ाने के उद्देश्य से उनका विकास और प्रयोग करता है।

NOTES

12.11 अभ्यास प्रश्न

दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1 मामाजिक आन्दोलन किसे कहते हैं? इसके विकास की अवस्थाओं की विवेचना कीजिए।

2 भारत में समाज सुधार आन्दोलनों का मूल्यांकन कीजिए।

3 ममाज सुधार आन्दोलनों में गांधी जी के योगदान की समीक्षा कीजिए।

4 समाजवाद किसे कहते हैं? इसकी प्रमुख विशेषताएँ बताइए।

लघुउत्तरीय प्रश्न

1 निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए-

- सामाजिक आन्दोलन की प्रकृति
- ग्रामदान
- समाजवादी राज्य के कार्य।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1 समाजवाद में विपक्ष में तर्क कितने है—

(अ) दस (ब) ग्यारह (स) बारह (द) तेरह

उत्तर 1 (ब)

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

Gillin, J. L and Gillin, J. P., **Cultural Sociology,** Bombay : Orient Longman, 1993

Herbert Blumer, "Collective Behaviour" in A. M. Lee (ed.), **Principles of Sociology,** New York Barnes and Noble, 1951.

Horton, P. B. and C. L. Hunt, Sociology, Oxford : Oxford University Press, 1976

Jones, M. E., **Basic Sociological Principles : A Textbook for the First Course in Sociology,** Boston : Ginn and Company, 1949.

MacIver, R. M. and Page, C. H., Society : **An Introductory Analysis,** London : Macmillan, 1949

Moore, Wilbert E.. **Social Change,** Englewood Cliffs, NJ : Prentice-Hall, 1963.

Rose, A. M., **Sociology : The Study of Human Relations,** New York · Alfred A. Knopf, 1969

●●●